Rostocker Dokumentenserver
Dieses Werk wurde Ihnen durch die Universitätsbibliothek Rostock zum Download bereitgestellt.
Für Fragen und Hinweise wenden Sie sich bitte an: digibib.ub@uni-rostock.de .
Das PDF wurde erstellt am: 10.07.2025, 08:38 Uhr.

Georg Christian Friedrich Lisch

**Urkundliche Geschichte des Geschlechts von Oertzen**

# Zweiter Theil, [Hauptband] : Vom Jahre 1400 bis zu den Jahren 1600 und 1700

Schwerin: In Commission in der Stiller'schen Hofbuchhandlung (Didier Otto), 1860

**https://purl.uni-rostock.de/rosdok/ppn1905005644**

Band (Druck) Freier Zugang PUBLIC DOMAIN OCR-Volltext

# Urkundliche Geschichte

des

# Geschlechts von Oertzen,

von

G. C. F. Lisch,
großherzoglich-mecklenburgischem Archiv-Rath.

HISTORISCHES SEMINAR ROSTOCK

## Zweiter Theil.

Vom Jahre 1400 bis zu den Jahren 1600 und 1700.

Mit zwei Steindrucktafeln.

Schwerin, 1860.
In Commission in der Stiller'schen Hofbuchhandlung
(Didier Otto).

Grab des Knappen Hermann II
und Kenotaph des Knappen Sivert I
von Oertzen auf Roggow
in der Klosterkirche zu Doberan.

†1386. †1449.



Gez. v. C. Schumacher. J. G. Tiedemann's Hof-Steiner Rostock.

Zur Geschichte des Geschlechts von Oertzen. Th. II. Taf. 1.

# Namen
## der Herren Unternehmer und Beförderer
## dieses Werkes
aus der
**Familie von Oertzen**
in Mecklenburg.

---

1. Herr Minister-Präsident von Oertzen, Excellenz, auf Leppin, zu Schwerin.
2. Herr von Oertzen auf Woltow.
3. Herr von Oertzen auf Roggow.
4. Herr Regierungs-Director a. D. Geheimerath von Oertzen, auf Sophienholz, zu Berlin.
5. Herr Vice-Landmarschall von Oertzen auf Ratteh.
6. Herr von Oertzen auf Lübberstorf und Barstorf.
7. Herr Kammerherr von Oertzen auf Kotelow.
8. Herrn von Oertzen auf Repnitz Erben.
9. Herr von Oertzen auf Teschow.
10. Herr Kammerherr von Oertzen auf Sophienhof.
11. Herr Landrath a. D. von Oertzen auf Jürgenstorf.
12. Herr Kammerherr von Oertzen auf Marin, Kloster-hauptmann zu Malchow.
13. Herr Kammerherr von Oertzen, Majoratsherr auf Kittendorf.
14. Herr von Oertzen auf Briggow, zu Berlin.
15. Herr Kammerherr von Oertzen auf Brunn.
16. Herr von Oertzen auf Vorwerk.

---

# Inhaltsverzeichniß.

## II. A.

### Dritte Abtheilung.

### Mittlere Geschichte.

1400—1600 und 1700.

### I. Die mecklenburgische Linie.

#### A. Das Haus Roggow.


| Generation. | §. | | Seite |
|---|---|---|---|
| | | Die Güter des Hauses Roggow . . . . . | 1 |
| | | Nachtrag S. 122. | |
| VII. | 47. | 12. Sivert I. 1424 † 1449 . . . . . | 16 |
| | | Mit einer Steindrucktafel. | |
| | 48. | 13. Hermann IV. 1410—1431 . . . . . | 22 |
| VIII. | 49. | 14. Sivert II. 1442—1482 . . . . . | 24 |
| | | Mit einer Ahnentafel S. 34. | |
| | 50. | 15. Tochter N. N. — —1508, verm. v. Bibow . . | 37 |
| IX. | 51. | 16. Hermann V. 1467—1470 . . . . . | 38 |
| | 52. | 17. Sivert III. 1467–1506 . . . . . | 39 |
| | 53. | 18. Hans II. 1479— — . . . . . | 51 |
| | 54. | 19. Hermann VI. 1500–1503 . . . . . | 51 |
| | 55. | 20. Jaspar I. 1500—1526 . . . . . | 53 |
| | 56. | 21. Lippold II. 1496—1545 . . . . . | 66 |
| | 57. | 22. Katharine 1506–1522, verm v. Sperling . . | 78 |
| | 58. | 23. Tochter N. N. — —1526, verm. v. Bredow . . | 79 |
| | 59. | 24. Anna 1495— — Nonne zu Rühn . . | 80 |
| | | Haus Roggow. | |
| X. | 60. | 25. Sivert IV. 1543 † 1589 . . . . . | 80 |
| | 61. | 26. Anna (1544)—1597, verm. v. Sperling . . | 87 |

| Generation. | §. | | Seite |
|---|---|---|---|
| | | Altes Haus Gorow-Herdshagen. | |
| X. | 62. | 27. Jürgen 1545—1560 | 88 |
| | 63. | 28. Vicke 1545—1578 | 91 |
| | 64. | 29. Mette (1548)— —, verm. v. Stralendorf | 101 |
| | 65. | 30. Tochter N. N. 1560—1571, verm. v. Halberstadt | 102 |
| | 66. | 31. Magdalene 1554—1571, verm. v. Flotow | 103 |
| | 67. | 32. Anna 1548—1587, verm. v. Vieregge | 104 |
| XI. | 68. | 33. Anna 1580—1583, verm. v. Moltke | 105 |
| | 69. | 34. Tochter N. N. | 107 |
| | 70. | 35. Sophie 1583— —, verm. v. Kosboth | 107 |
| | | Haus Roggow. | |
| XI. | 71. | 36. Jaspar II. 1571 † 1618 | 108 |

**B. Das Haus Clausdorf-Garwensdorf.**

Die Güter des Hauses Clausdorf-Garwensdorf . . 109
Nachtrag S. 122.

| | | | |
|---|---|---|---|
| VII. | 72. | 9. Segeband 1407—1415 | 111 |
| | 73. | 10. Burchard 1411—1446 | 112 |
| | 74. | 11. Heinrich 1415—1430 | 115 |
| | 75. | 12. Brüder N. N. 1415— — | 117 |
| VIII. | 76. | 13. Reimar 1433—1446 | 117 |
| | 77. | 14. Hans IV. 1446—1493 | 119 |
| | 78. | 15. Bernd — —1460 | 120 |
| IX. | 79. | — Kinder — —1493 | 120 |

II. Die stargardische Linie. 123

**A. Das Haus Stargard.**

Die Güter des Hauses Stargard . . . . . 124

| | | | |
|---|---|---|---|
| VII. | 80. | 6. Otto 1415— — | 125 |
| | 81. | 7. Nicolaus IV. 1411—1434 | 126 |
| VIII. | 82. | 8. Hermann III. 1409—1413 | 127 |
| | 83. | 9. Andreas II. 1409— — | 128 |
| | 84. | 10. Vicke I. 1409— — | 128 |

**B. Das Haus Feldberg.**

Die Güter des Hauses Feldberg . . . . . 129
Des Hauses Feldberg älterer Zweig . . . . . 140

| | | | |
|---|---|---|---|
| VII. | 85. | 9. Michael I. 1416— — | 140 |

| Generation. | §. | | | Seite |
|---|---|---|---|---|
| VIII. | 86. | 10. Anna | — —1474, Nonne zu Wanzka | 140 |
| | 87. | 11. Hermann IV. | 1466—1488 | 141 |
| IX. | 88. | 12. Zacharias | 1491—1501 | 144 |
| X. | 89. | 13. Burchard | 1501— — | 145 |
| | 90. | 14. Vicke II. | 1501— — | 146 |
| | 91. | 15. Hans | 1501—1506 | 146 |
| | 92. | 16. Mathias | — —1514 | 147 |
| | 93. | 17. Joachim | — —1514 | 147 |
| | 94. | 18. Michael | — —1514 | 147 |
| | 95. | 19. Paschen | 1494—1506 | 148 |
| | | Des Hauses Feldberg jüngerer Zweig<br>Mit Ahnentafeln S. 151. | | 149 |
| VII. | 96. | 20. Bernd | (1400—1425) | 157 |
| VIII. | 97. | 21. Mathias I. | (1425—1470) | 157 |
| IX. | 98. | 22. Hans I. | (1470 1500) | 159 |
| | 99. | 23. Dietrich | — —1506 | 162 |
| X. | 100. | 24. Caspar I. | (1510)— — | 163 |
| | 101. | 25. Heinrich I. | 1506—1535 | 163 |
| XI. | 102. | 26. Jacob I. | 1522 † 1572 | 164 |
| | 103. | 27. Tochter N. N. | 1526— —, verm. v. Tepling | 168 |


## III. Die schwerinsche Linie.

### A. Das Haus Gammelin.


| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | | | Die Güter des Hauses Gammelin | 169 |
| VII. | 104. | 6. Nicolaus I. | 1407—1438 | 176 |
| | 105. | 7. Mathias I. | 1412—1424 | 185 |
| | 106. | 8. Adelheid | — —1444, verm. v. Cordshagen | 187 |
| | 107. | 9. Gisela | 1437—1442, verm. v. Lützow | 188 |
| VIII. | 108. | 10. Nicolaus II. | 1442—1454 | 189 |
| | 109. | 11. Kinder N. N. | 1446— — | 190 |
| | 110. | 12. Ulrich | — —1471 | 191 |
| | 111. | 13. Elisabeth | 1479—1489, Priorin zu Rehna | 192 |
| | 112. | 14. Vicke III.<br>Mit einer Steindrucktafel. | 1459 † 1465 | 194 |
| | 113. | 15. Burchard | 1458—1522 | 198 |
| | 114. | 16. Leneke | — —1500, Nonne zu Rehna | 205 |
| IX. | 115. | 17. Mathias II. | 1465—1549 | 205 |
| | 116. | 18. Bernd | 1521—1554 | 228 |
| | 117. | 19. Marcus | 1521—1530 | 231 |
| | 118. | 20. Katharine | 1531—1549, Priorin zu Dobbertin | 231 |

| Generation. | §. | | | Seite |
|---|---|---|---|---|
| X. | 119. | 21. Stephan I. | 1565—1569 | 235 |
| | 120. | 22. Joachim | 1565 † 1598 | 242 |
| | 121. | 23. Vicke IV. | 1562—1612 | 257 |
| | 122. | 24. Segeband | 1566—1572 | 281 |
| | 123. | 25. Adelheid | 1578—(1614), verm. v. Schwantener | 283 |
| XI. | 124. | 26. Stellan | 1569—1591 | 287 |
| | 125. | 27. Anna | 1569—1591 | 290 |
| | 126. | 28. Mathias III. | 1586—1622 | 291 |
| | 127. | 29. Stephan II. | 1590—1642 | 293 |
| | 128. | 30. Tochter N. N. | 1609—1614 | 301 |
| | 129. | 31. Franz Carl | 1609 † 1672 | 301 |
| XII. | 130. | 32. Sohn N. N. | — —1590 | 311 |
| | 131. | 33. Elisabeth Margar. | 1644—1671, verm. v. Lützow | 312 |
| | 132. | 34. Tochter N. N. | — —1639 | 314 |
| | 133. | 35. Maria | 1644—1668, verm. v. Bischwang | 315 |
| | 134. | 36. Dorothea | 1644—1668, verm. v. Bischwang | 318 |
| | 135. | 37. Joachim Heinrich | 1645 † 1650 | 322 |
| | 136. | 38. Margar. Dorothea | 1639 † 1705, verm v. Hobe | 323 |
| | 137. | 39. Elisabeth Ilse | 1639 † 1717, verm. v. Halberstadt | 325 |


## B. Das Haus Kl. Tessin.


| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| VII. | 138. | 5. Hermann | 1420—1435 | 330 |
| VIII. | 139. | 6. Mathias IV. | 1446—1460 | 333 |
| IX. | 140. | 7. Segeband | 1506—1515 | 335 |
| X. | 141. | 8. Tochter N. N. | 1522—1540, verm. Hahn | 336 |


---

### Angehängte Stammtafeln.

1. Meklenburgische Linie.
2. Stargardische Linie.
3. Schwerinsche Linie.

---

## II. B.


Urkunden-Sammlung . . . . . 1
Nachweisung der Güter des Geschlechts . . . . . 465
Nachweisung der Glieder des Geschlechts . . . . . 469

# Vorwort.

Nach mehr als zehnjähriger, mühevoller und unverdrossener Forschung tritt die mittlere Geschichte des Geschlechts von Oertzen ans Licht. Trotz großer Vorbereitung und eines verhältnißmäßig ansehnlichen Materials war es doch nicht möglich, früher etwas Zuverlässiges herauszugeben, da ich mich sehr bald überzeugen mußte, daß alle bisherigen Vorarbeiten für diesen Zeitraum völlig unsicher und unrichtig waren. Es gab daher keinen andern Ausweg, als die Forschung von neuem zu beginnen, sämmtliches altes Material zu verwerfen und ein ganz neues Gebäude aufzuführen, dessen Bausteine allerdings von unzähligen verschiedenen Orten her zusammengebracht sind, selbst für eine und dieselbe Person des Geschlechts. Die ganze vorliegende, schwierige Abtheilung ist daher fast in jedem Satze aus einzelnen, zerstreueten Nachrichten zusammengesetzt, da sich fast für keine Person und Thatsache irgend eine übersichtliche Darstellung fand. So ist denn diese ganze Darstellung aus lauter einzelnen, oft unbedeutend scheinenden Nachrichten in den Zusammenhang gebracht, was der aufmerksame Forscher wohl bald erkennen mag. Es ist mir jedoch eine Freude, daß das hauptsächlichste Unternehmen, den Zusammenhang darzustellen, ziemlich gelungen zu sein scheint.

Ich hoffte im Anfange, in den oft tüchtigen genealogischen Arbeiten des Ministers von Gamm und seines Ueberarbeiters und Nachfolgers, des hochverdienten Hofmarschalls von Oertzen, die sich wohl mit Recht oft eines großen Ansehens erfreuen, eine kräftige Stütze zu finden. Aber ich konnte mich nicht an sie lehnen; denn theils war selbst in den Archiven zu wenig

Material vorhanden und das Wenige zu sehr zerstreut, als daß sie es in ihrer Stellung außerhalb der Archive hätten zusammenbringen können, theils standen ihnen zu wenig Vorarbeiten zu Gebote. Die Hauptquellen v. Gamms sind, außer dem, was zu seiner Zeit schlecht gedruckt war, und außer wenigen handschriftlichen Familiennachrichten, namentlich die Leichenreden, aus deren Ahnentafeln er mit großem Fleiß und Geschick die Stammbäume für einige Jahrhunderte zusammengesetzt hat. Dies ist aber doch zu wenig, um einen geschichtlichen Ueberblick zu gewinnen, und reicht lange nicht weit genug hinauf; es blieb ihm also oft nichts weiter übrig, als auf dem Wege der Vermuthung die Stammbäume auszuführen. Was ich in dem vorliegenden Theile als Thatsachen gebe, ist sicher und aus urkundlichen Quellen geschöpft. Wo ich also von v. Gamm und v. Oertzen abweiche, ohne dies zu erwähnen, da habe ich die Archiv-Quellen vor mir gehabt, deren Inhalt ich jedesmal gewissenhaft mitgetheilt habe; eine kritische Behandlung und Berichtigung aller einzelnen frühern Angaben würde viel zu weit geführt haben.

In dem vorliegenden Bande gebe ich nun die ganze ältere Geschichte des Geschlechts vollständig. Die Geschichte aller ausgestorbenen Linien habe ich bis zu ihrem Aussterben vollständig bearbeitet, so daß nur die neuere Geschichte der noch blühenden Linie übrig geblieben ist. Die Geschichte der noch blühenden beiden Hauptlinien, der sogenannten roggower Linie im Lande Meklenburg und der sogenannten helpter Linie im Lande Stargard, habe ich aber bis zu dem Zeitpunkte hinabgeführt, wo in der zweiten Hälfte des 16. Jahrhunderts jede dieser beiden Linien auf einen einzigen Stammhalter beschränkt war, von welchem sich die Entwickelung des Geschlechts aus ziemlich zahlreichen Acten mit etwas größerer Leichtigkeit wird verfolgen lassen.

Was die Forschungen im ersten Theile betrifft, so muß ich dieselben noch jetzt für ziemlich zuverlässig halten. Nach mehr als zehnjährigen Nachforschungen und Bedenken kann ich mich nicht entschließen, meine Ansichten über die Urgeschichte des Geschlechts von Oertzen irgendwie zu ändern, und bin

auch nicht im Stande, irgend etwas zur festern Begründung und genauern Erläuterung nachzutragen, sondern muß an meinen ausgesprochenen Ansichten festhalten, welche wenigstens am meisten zu sichern Urkunden stimmen. Die Urgeschichte der alten adeligen Geschlechter in den ehemaligen Wendenländern ist außerordentlich dunkel und schwierig. Es ist daher nicht unmöglich, daß meine Ansicht bezweifelt und irgend eine andere geltend gemacht werden kann; es ist auch in der That nicht unmöglich, daß sich die Sache wirklich anders verhält, als sie von mir dargestellt ist; es müssen aber doch einige stichhaltige Gründe vorgebracht werden, wenn meine Darstellung bezweifelt werden soll. Sehr nahe liegt die schon alte Vermuthung, daß das Geschlecht von dem Flusse Oertze im Lüneburgischen stamme und seinen Namen habe. Und diese Vermuthung ist in den neuesten Zeiten wieder aufgefrischt worden. In dem Hermannsburger Missionsblatt, 1855, Jan., Nr. 1, herausgegeben vom Pastor Harms in Hermannsburg, gedruckt bei L. Anhalt in Celle, heißt es S. 10 flgd.: „Um aber das Land und namentlich sein geliebtes „Erbe gegen plötzliche Raubanfälle besser zu schützen, legte „Hermann Billing, Herzog von Sachsen, feste Burgen an, „so namentlich die Hermannsburg, um welche sich nun die „Leute wieder anbauten, die damals den Wenden entkommen „waren, die Oerzenburg, die Wietzenburg ꝛc. Vor seinem „Ende, noch im Jahre 972, hatte er die Freude, die Kirche, „zu der er auf seinem Bondenhofe den Grundstein gelegt „hatte, am Petri-Paulitage eingeweiht zu sehen. — Das ist „dieselbe (?) Kirche, die noch in Hermannsburg steht. „— — — — — — — — — — — — — „Und denke ich daran, welche Segnungen aus diesem Hause „ausgegangen sind, — — — — ja wie aus den von Her„mann angelegten Burgen an der Oerze und Wietze die „Burgvoigte von Oerzen und von Wietzendorf schon mit „Herzog Bernhard auszogen, um in Lauenburg und Mekken„burg die heidnischen Völker zum Christenthum bringen zu „helfen, muß dann nicht aus dem Eifer der Vorfahren der „eigne Eifer entbrennen!“ In demselben Hermannsburger

Missionsblatte, 1857, Jan., Nr. 1, S. 13 flgd. (vgl. auch den Norddeutschen Correspondenten, 1857, Nr. 80) heißt es weiter: „Es ist hier bei der Kirche ein Legat, dessen Zinsen jährlich zur Kleidung armer Kinder verwandt werden müssen „von dem jedesmaligen Pastoren, dem die Verwendung zusteht. „Dieses Legat heißt das Oertzen-Wietzendorfsche Legat „und ist von den beiden Familien von Witzendorf und von „Oertzen vor länger als 600 Jahren gestiftet worden. Es „sind hier nämlich vor alten Zeiten zwei Burgen gewesen an „der Oertze und Wietze, in welchen die Burgvögte von „Oerzen und von Wietzendorf gewohnt haben. Diese Burg„vögte sind von Hermann Billing eingesetzt worden und „haben schon in der Schlacht, die Herzog Bernhard, Hermanns „Sohn, im Anfang des 11. Jahrhunderts gegen die „heidnischen Polaber im Lauenburgischen Lande und ihre Bundes„genossen gewann, tapfer mitgefochten. Als später unter Hein„rich dem Löwen im 12. Jahrhundert die Kreuzzüge der Sachsen „gegen die Wenden jenseits der Elbe im Gange waren, sind „diese Burgvögte auch mit unter den Kreuzfahrern gewesen und „sind zur Belohnung ihrer geleisteten Dienste mit großen Be„sitzungen jenseits der Elbe theils im jetzigen Meklenbur„gischen, theils im Lauenburgischen belehnt worden, die ihnen „nachher, auch nachdem Heinrich der Löwe bei dem Kaiser in „Ungnade gefallen war, vom Kaiser bestätigt worden sind. „Da die Oerzenburg und die Wietzenburg nur wenig von „einander entfernt waren, kaum drei Stunden, so waren die „Frauen oft bei einander mit ihren Kindern und brachten die „Zeit zu mit dem Besuch der Gottesdienste, mit dem Besuch „der Armen und Kranken und waren zu Hause eifrig damit „beschäftigt, Speisen zu bereiten für die Kranken und Kleider „für die Armen, wie es damals die fromme Sitte der Edel„frauen war. Unter den Kindern der beiden Familien hatten „besonders zwei Töchter, die Marie und Anna hießen, eine „herzliche Liebe zu den Armen und Kranken und ihre Mütter „konnten ihnen keine größere Freude machen, als wenn sie sie „mitnahmen in die Häuser und Hütten der Bauern zu den „Armen und Kranken, oder wenn sie mit ihnen gingen in die

„Kirche. Eine ganz besondere Lust hatten diese Mädchen daran, „für arme Kinder Kleider zu machen und selten ging irgend ein „christliches Fest vorüber, an welchem nicht arme Kinder von „ihnen gekleidet mit ihnen zur Kirche gingen, und es ist wohl „die Frage, wer bei diesen Kirchgängen die vergnügtesten ge„wesen sind, die Kinder in ihren neuen Kleidern, oder die „Kinder, welche die Kleider gemacht und gegeben hatten. Als „nun jenseits der Elbe die Väter, sie hießen Hans von „Oerzen und Heinrich von Wietzendorf, ihre neu verliehenen „Besitzungen in Frieden bewohnen konnten, da mußten die „Frauen mit den Kindern nachkommen. Das ist aber den „Kindern ganz besonders nahe gegangen, sich von ihren vielen „kleinen Freundinnen zu trennen, denn damals war noch nicht „eine solche Trennung zwischen den Adeligen und Bauern, wie „jetzt, sondern die Adeligen sahen die Bauern als Glieder ihrer „Familie an, und wurden von ihnen als Eltern geliebt und „geehrt. Als nun die Väter gekommen waren, ihre Frauen „und Kinder abzuholen, da erhob sich viel Weinen und Klagen „unter allen. Sie gingen noch einmal allesammt in die Kirche „und wurden zu ihrem Ausgange in das fremde Land einge„segnet. Nach dem Gottesdienste kam der Priester in die Burg, „und da wurden ihm von den abziehenden Eltern 25 Mark „Silber übergeben, welche Marie und Anna von ihren Vätern „erbeten hatten, damit auch nach ihrer Abreise die Kinder der „Armen mit Kleidern versehen werden könnten."

Diese ganze Darstellung ist aber Wort für Wort eine junge Dichtung, welche keine einzige urkundliche und alte Grundlage hat. In allen hannoverschen Archiven ist kein Wort davon zu finden, keine alte sichere Chronik redet davon, kein bewährter hannoverscher Forscher kann diese Ansicht stützen, so viel ich mich auch darum bemüht habe. Ich wandte mich deshalb an den Herrn Pastor Harms zu Hermannsburg selbst, welcher mir folgende Aufklärung zu geben die Güte gehabt hat. „Die Chronik, aus welcher ich die im Missionsblatte „erwähnten Nachrichten excerpirt habe, befand sich auf dem „Gute Hermannsburg in der Schloßbibliothek. Bei dem Aus„sterben des Geschlechts von Staffhorst im J. 1815 kam das

„Allodium an die Herren von Campen. Von letzteren ist die „Schloßbibliothek theils mitgenommen, theils verkauft worden. „Nun weiß ich nicht einmal, wohin die Chronik gekommen ist. „Sie war in plattdeutscher Sprache abgefaßt und muß den „Buchstaben nach etwa 1520 gedruckt (!) worden sein. Ich „habe mir die für die hiesige Kirche wichtigen Nachrichten „ausgezogen, welche natürlich keine öffentliche Glaubwürdigkeit „und für eine documentirte Geschichte keinen Werth haben." Dies ist also die Quelle, von der sich keine Spur weiter hat finden wollen. Allem Anscheine nach ist die Sache in einer Zeit gemacht, in welcher die Genealogen beliebig alle alten Geschlechter bis zu Carl dem Großen hinaufführten und die meklenburgischen Geschichtschreiber den Ursprung des meklenburgischen Fürstenhauses sogar von „Anthyrus, einem General „Alexanders des Großen", herleiteten. Es läßt sich für diese Ansicht gar nichts sagen, weil es an jedem Mittel dazu fehlt. Dagegen läßt sich aber sagen, daß es nie eine Oerzenburg an der Oertze gegeben hat, sondern diese ebenfalls eine Erdichtung aus dem Flußnamen ist. Auch stimmt der älteste Name des Geschlechts von Oertzen, welcher urkundlich Uritz und Ordessen lautet, nicht zu dem Namen des Flusses, welcher in alter Zeit, z. B. in dem Stiftungsbriefe des Bisthums Verden vom J. 786, Ursena heißt; die Familie von Oertzen würde also in alter Zeit „von der Ursena" geheißen haben, wenn sie von dem Flusse den Namen hätte, wie die Familie „von der Lühe", welche ihren Namen von dem Flusse gleiches Namens zu haben scheint. Es wird also jedenfalls einstweilen das Sicherste und Belohnendste sein, an den Urkunden festzuhalten, nach welchen die Geschichte der Familie von Oertzen so alt ist, daß sie über den Anfang der urkundlichen Geschichte Meklenburgs hinausreicht.

Schwerin, im August 1860.

G. C. F. Lisch.

II. A.

# Geschichte

des

# Geschlechts von Oertzen,

vom

Jahre 1400

bis

zu den Jahren 1600 und 1700.

---

## Zweiter Theil.

Dritte Abtheilung.

# Mittlere Geschichte.

1400—1600 und 1700.

## I. Die meklenburgische Linie.

### A. Das Haus Roggow.

#### Die Güter des Hauses Roggow.

**Roggow.** Das Gut Roggow im Amte Bukow ist seit uralter Zeit, sicher seit dem Anfange des 14. Jahrhunderts und wahrscheinlich seit dem Anfange der urkundlichen Geschichte, das alte Hauptlehn der Familie von Oertzen gewesen, aus welchem wahrscheinlich alle von Oertzen herstammen. Alle Linien des Geschlechts von Oertzen, wenigstens die im Lande Meklenburg-Schwerin, nennen sich urkundlich Vettern der von Oertzen auf Roggow, und es ist nicht unwahrscheinlich, daß die Linie Wustrow-Gammelin in nicht zu fern liegender Zeit auch aus dem Hause Roggow stammte [CXXIX]. Zu dem Hauptgute Roggow gehörten aber sehr viele andere Güter als Pertinenzen, welche jedoch erst im 15. und 16. Jahrhundert als solche ans Licht treten und im Laufe der Zeiten wieder die Sitze neuer Linien bilden. Diese Pertinenzen sind: 1) entweder alte Pertinenzen, welche seit alter Zeit zum Hause Roggow gehörten und deren Erwerbung nicht mehr

nachgewiesen werden kann, oder 2) alte selbstständige Lehen des Hauses Roggow, oder 3) neue Erwerbungen des Hauses Roggow in alter Zeit, so lange der Grundbesitz mehr stetig war, oder 4) angefallene Lehen nach dem Aussterben von alten Linien, oder 5) Pfandgüter in vorübergehendem Besitz in alter Zeit.

Die Güter der Linie Roggow waren in alter Zeit also:

1) das Stammlehn Roggow mit den alten Pertinenzen Russow, Vorwerk, Wakendorf, Gerdeshagen, Gorow (mit der Feldmark des in neueren Zeiten angelegten Dorfes Clausdorf oder Neu-Clausdorf in der Pfarre Hansdorf bei Gorow);

2) alte selbstständige Lehen: Goldberg, Ravensberg, Wendisch Zarfzow;

3) neue Erwerbungen in alter Zeit: Bolland, Neu-Karin, Kl. Tessin, Lehnkrug in Alt-Bukow, Antheile in Neuendorf und Hanshagen;

4) angefallene Lehen nach dem Aussterben von örtzenscher Häuser: Clausdorf (in der Pfarre Alt-Bukow) und Garwensdorf;

5) Pfandgüter in alter Zeit: Berenshagen, Zibühl, Hermanshagen, Tützen.

**Russow.** Das Dorf Russow, welches früher aus 9 Bauerstellen und der Pfarre bestand, ist ein altes Lehn der Familie von Oertzen, zu dessen Kirche das alte von örtzensche Stammlehn Roggow seit alter Zeit eingepfarrt ist. Das Dorf Russow war, so lange es der Familie von Oertzen gehörte, eine Pertinenz des Lehngutes Roggow. Die Geschichte des Dorfes Russow ist in alter Zeit ziemlich dunkel, jedoch viel besprochen. Am 25. Julii 1308 verkaufte nämlich der Fürst Heinrich der Löwe von Meklenburg dem Heil. Geist-Hospitale zu Lübek die Dörfer Rakow, Russow und Alt-Bukow [XXXIV] unter der Bedingung des Wiederkaufes. Man hat aus dieser Urkunde geschlossen, daß das Hospital zu Lübek die ganzen Dörfer eigenthümlich gekauft habe; jedoch wird unter diesem Verkaufe nur die Veräußerung gewisser landesherrlicher Hebungen aus

diesen Dörfern verstanden werden können, da z. B. von dem Dorfe Russow nur ein Pachtkorn von 14 Drömt Gerste und 15 Drömt Hafer und eine Geldabgabe von 2 Mark 6 Schillingen Schweinschneidegeld an das Hospital zu entrichten war. Denn am Cäcilientage 1318 verkaufte derselbe Fürst Heinrich auch den von Plessen, von Preen und von Stralendorf wiederkäuflich das Inselland Poel und die Dörfer Friedrichsdorf, Alt-Bukow, Rakow, Russow, Vorwerk bei Russow, Warksdorf und Gr. Strömkendorf und das Patronat der Kirchen zu Poel, Alt-Bukow und Russow. Im J. 1340 cedirte der Fürst Albrecht die bisher reservirten Gerechtsame an diesen Dörfern den genannten drei adeligen Familien. Es ist also ganz klar, daß das Heil. Geist-Hospital nie das unbeschränkte Eigenthum der ganzen Dörfer besessen hat; vielleicht sind dessen Gerechtsame in früher Zeit auf jetzt unbekanntem Wege wieder abgelöset und demselben nur die Kornlieferungen versichert. Jedoch ist es sicher, daß das Heil. Geist-Hospital zu Lübek seit alter Zeit immer das genannte Pachtkorn aus Russow besaß. (Vgl. Dittmer Ueber die Pachtgerste aus Russow, in Jahrb. VIII, 1843, S. 177 flgd., Dittmer's Sammlung vermischter Abhandlungen, Lübeck, 1851, S. 62 flgd., und Dittmer's Heil. Geist-Hospital in Lübeck 1838, S. 23 flgd.) Der Besitz des Dorfes gehörte aber demnächst seit alter Zeit den von Oertzen auf Roggow. Als am 26. Junii 1369 die Vorsteher der Kirche zu Russow zum Bau, vielleicht Neubau, der Kirche 50 Mark lüb. Pf. liehen, war Hermann von Oertzen auf Roggow der erste unter den Bürgen [CXXVIII], also wahrscheinlich schon damals Patron der Kirche, um so mehr, da in dieser Urkunde unter den begüterten Eingepfarrten keiner aus einer anderen altadeligen Familie weiter genannt wird. Man kann also wohl annehmen, daß damals die von Oertzen auf Roggow schon zu dem Besitze des Dorfes gelangt waren. Daher wird in einem Zeugenverhöre vom J. 1606 übereinstimmend ausgesagt, „daß das Dorf Russow Jaspar von Oertzen und dessen „Vorfahren von undenklichen Jahren her erbeigenthümlich zu„stehe und noch zugestanden habe": und damit stimmen alle anderen alten Nachrichten überein. Eben so wird auch über

das Patronat der Kirche, zu welcher Russow, Roggow, Vorwerk und Zweendorf (früher Wozezekendorf und Albertsdorf) eingepfarrt sind, gesagt, daß es den von Oertzen zustehe, z. B. 1599 bei der Kirchen-Visitation zu Satow: „Die Kirche „zu Russow ist der Oertzen Lehn". Die Lieferung des Pachtkorns aus Russow an das Heil. Geist-Hospital in Lübek war aber früh streitig geworden; jedoch vereinigten sich am 15. März 1511 die Vorsteher des Hospitals mit Jaspar von Oertzen auf Roggow dahin, daß dieser sich für verpflichtet bekannte, dem Hospitale die ihm gebührende Lieferung zu leisten. Seitdem dauerten aber diese Streitigkeiten, auch mit den meklenburgischen Landesherren, lange Zeit fort, bis der dreißigjährige Krieg einen bedeutenden Strich durch die Rechnung machte, indem auch das Dorf Russow fast ganz verwüstet und von Einwohnern entblößt ward. Von den 9 Bauerhöfen des Dorfes waren im J. 1645 erst 5 wieder bewohnt, auf 4 anderen aber keine Besitzer zurückgekehrt und überhaupt vorhanden. Deshalb hatten damals die von Oertzen aus 3 wüsten Baustellen schon eine Meierei gebildet (vgl. Dittmer a. a. O.). Seitdem ist die Lieferung in bestimmtem Maße nicht bestritten gewesen.

**Vorwerk.** Das Gut Vorwerk ist seit alter Zeit eine Pertinenz des Stammlehns Roggow, wird aber äußerst selten genannt, wie überhaupt die untergeordneten Pertinenzen der Ritterlehen nur selten vorkommen. Das Gut Vorwerk wird in alter Zeit schon früh, wenn auch nur ein Mal genannt, als am Cäcilientage 1318 der Fürst Heinrich der Löwe von Meklenburg den von Plessen, von Preen und von Stralendorf das Inselland Poel und die Dörfer Friedrichsdorf, Alt-Bukow, Rakow, Russow, „Vorwerk bei Russow" („Vorwerk juxta Russowe"), Warksdorf und Gr. Strömkendorf und die Kirchen-Patronate von Poel, Alt-Bukow und Russow wiederkäuflich verkaufte. Hiernach, da Roggow nicht genannt wird, scheint es, als wenn in den ältesten Zeiten Vorwerk zunächst zu Russow gehört habe und im 14. Jahrhundert mit Russow an Roggow gekommen sei. Seitdem wird das Gut Vorwerk selten

und nur beiläufig als eine Pertinenz von Roggow genannt, z. B. 1634: „Lehngut Roggow mit Zimmern und Gebäuden, Vorwerk, Schäfereien und andern Pertinentien."

**Wakendorf.** Das Dorf Wakendorf, im Kirchspiel Mulsow, ist seit alter Zeit eine Pertinenz des Gutes Roggow. Es wird in alter Zeit sehr wenig genannt und kommt zuerst im Jahre 1464 vor, als Sivert II auf Roggow seiner Gemahlin Margarethe das Gut Wakendorf zum Leibgedinge verschrieb [CCXLIII]. Es liegt allerdings sehr weit von Roggow und wird entweder durch die Linie Clausdorf, deren Güter nicht weit davon liegen, an die Linie Roggow gekommen oder durch die Linie Roggow in alter Zeit von den Moltke erworben sein, welche Mulsow besaßen. So weit sich aber die Geschichte verfolgen läßt, erscheint Wakendorf über drei Jahrhunderte lang als Pertinenz von Roggow. Erst am 11. April 1791 verkaufte die Curatel der Brüder, Jaspar, oldenburgischen Lieutenants, und Dethlof, meklenburgischen Lieutenants, aus dem Hause Roggow, „als bisheriger Erbherren von Wakendorf", dieses Gut an den Amtmann Seeler zu Stove für 19,600 Thaler. Merkwürdiger Weise ward ein ungefähr 12000 Quadratruthen betragender Theil Holz, Torfmoor, Wiese, Weide und Acker von dem Verkaufe ausgeschieden, durch Grenzgräben abgesondert und für die Zukunft zu dem Gute Roggow gerechnet; im Jahre 1794 erhandelte Seeler hiervon noch einen „Wiesenfleck". Der Rest blieb aber Pertinenz des Gutes Roggow, und daher besitzt die Familie von Oertzen noch heute nach dem Staatskalender einen „Antheil in Wakendorf".

**Gerdeshagen.** Gerdeshagen war in alter Zeit eine alte Pertinenz von Roggow und ein Bauerdorf. Daher kommt es auch in alten Zeiten nicht vor. Nur einmal wird es genannt, als am 22. März 1459 der Herzog Heinrich seinem Rath Sivert II. auf Roggow 7½ Mark jährlicher Bede aus Gerdeshagen verpfändete [CCXXX]. Aber schon um die Mitte des 16. Jahrhunderts ward zu Gerdeshagen ein adeliger Wohnhof gebaut. Am 1. Junii 1599 berichtet der Pastor

Johann Röpke zu Satow bei der Kirchen-Visitation: „Der Hof Gerdeshagen ist bei Vicke von Oertzen Zeiten von eitel Bauerben gemacht". Dies wird um das Jahr 1550 ausgeführt sein, da Vicke von Oertzen, der von 1545 bis 1553 mit seinem Bruder Jürgen auf dem ebenfalls noch nicht lange stehenden Hofe Gorow wohnte, im J. 1555 zuerst als auf Gerdeshagen wohnhaft aufgeführt wird. Seitdem war Gerdeshagen immer ein Hauptgut der Familie von Oertzen.

**Gorow.** Das von örtzen'sche Gut Gorow wird in alter Zeit nicht ein einziges Mal erwähnt, und doch erscheint es plötzlich seit dem J. 1530 im nie angefochtenen Besitze des Hauses Roggow. Ohne Zweifel war Gorow eine uralte Pertinenz von Roggow und in alten Zeiten Bauerdorf und wird deshalb nicht genannt. Im ersten Viertheil des 16. Jahrhunderts bewohnte Lippold II. von Oertzen das Pfandgut Berenshagen: nach seines Bruders Jaspar I. auf Roggow Tode im J. 1526 erscheint Lippold II. aber seit dem J. 1530 nur auf dem Gute Gorow wohnhaft, welches er seinen Söhnen hinterließ. Ohne Zweifel bauete Lippold II. zuerst gegen das Jahr 1530 zu Gorow einen adeligen Wohnhof und erhob es zum Ritterlehn. Seitdem ist Gorow mit der jüngern Pertinenz Clausdorf, dem Bauerdorfe bei Gorow, lange Zeit ein Hauptgut der Familie von Oertzen gewesen. In ähnlicher Weise bauete Lippold's II. Sohn Vicke um das Jahr 1555 zu Gerdeshagen einen Wohnhof und machte das Gut hiedurch ebenfalls zu einem Hauptgute der Familie.

**Clausdorf** oder **Neu-Clausdorf** (in der Pfarre Hausdorf.) Die Familie von Oertzen besaß nicht allein das alte Ritterlehn Clausdorf in der Pfarre Alt-Bukow, sondern auch ein zweites Gut Clausdorf bei Gorow in der Pfarre Hausdorf, welches in neueren Zeiten als ein Bauerdorf und Pertinenz von Gorow erscheint. Ueber dieses Dorf hat trotz der umfangreichsten Forschungen durchaus keine alte Nachricht aufgefunden werden können; weder bei einer Belehnung, noch bei einer Kirchen-Visitation wird in älterer Zeit der Name genannt,

und noch im J. 1704 kommt in einem genauen Verzeichniß der Lehngüter und Dörfer und aller Bewohner derselben in der Pfarre Hansdorf der Name nicht vor, sondern als Pertinenzen von Gorow die Schäferei, Stehrenberg's Katen und der Hirtenkaten als allein stehende Wohnungen. Das Dorf existirte in alter Zeit sicher nicht, da es in einem Heberegister der Pfarre Hansdorf aus dem 14. Jahrhundert nicht genannt wird (vgl. Jahrb. IX., S. 401.) Damals bildeten Hansdorf, Gorow, Hastorf, Konow und Blisekow die Pfarre. Das Dorf Clausdorf bei Gorow ist also ohne Zweifel eine junge Anlage; da Gorow früher, z. B. noch 1704, Bauern hatte, so ist es wahrscheinlich, daß erst im 18. Jahrhundert, in welchem die landesherrliche Oberaufsicht oft nicht in Anspruch genommen ward, die Bauern ausgebauet wurden und die neue Ansiedelung den Namen Clausdorf erhielt. Dies wird um die Mitte des 18. Jahrh. geschehen sein. Das Kirchenbuch von Hansdorf beginnt im J. 1661; doch kommt vor dem Jahre 1752 der Name Clausdorf in demselben nicht vor. Erst im Jahre 1752 wird der Name mit folgender Eintragung genannt: „Den „19. post Trinitatis ist Hans Schlorf ein Baumann aus dem „neu angelegten Dorfe, so Neu-Clausdorf heißen „soll, begraben". Es leidet also keinen Zweifel, daß Clausdorf erst um das J. 1750 angelegt ist und von Claus Dethlof von Oertzen auf Gorow den Namen erhalten hat. Erst im J. 1753 kommt im Kirchenbuche ein Taufzeuge aus „Clausdorf" vor. In den Lehnacten erscheint es zuerst 1756 und 1761 als das zu dem Hauptgute „Gorow gehörende „Bauerdorf Clagsdorf"; dann wird es in dem Landeskataster nach der Directorial-Vermessung im Jahre 1768 als Bauerdorf und Pertinenz von Gorow aufgeführt. Noch heute ist dieses Clausdorf Bauerdorf und Pertinenz von Gorow.

**Goldberg.** Das Dorf Goldberg, im Kirchspiel Passee, nahe bei Wakendorf, gehörte seit alter Zeit der Familie von Oertzen von der Linie Roggow, vorher vielleicht der Linie Clausdorf. Gewiß ist, daß, nach dem Aussterben der Linie Clausdorf, Lippold von Oertzen auf Gorow und Gerdeshagen

im ersten Dritttheil des 16. Jahrhunderts im Besitze von Goldberg war und es auf seine Söhne Jürgen auf Gorow und Vicke auf Gerdeshagen vererbte. Das Gut ward eine Zeit lang zwischen den Oertzen und den Moltken streitig. An Goldberg grenzt jetzt das Dorf Tützen, welches ein Lehn der Moltke war. Zwischen Goldberg und Tützen lag in alter Zeit ein Hof Nienhof, welcher den Moltke auf Tützen gehörte und schon vor der Mitte des 16. Jahrhunderts untergegangen war. Das Dorf Goldberg soll in alter Zeit nur 6 Katen gehabt und die Moltke sollen die halbe Feldmark Nienhof zu Goldberg gelegt und die Bauerhöfe damit gebessert haben. Gebhard Moltke auf Tützen und darauf sein Sohn Otto besaßen in dem Dorfe Goldberg die Dienste von einem Bauerhofe, welche Gebhard Moltke an Lippold von Oertzen verpfändet hatte. Otto Moltke löfete um das Jahr 1560 diese Dienste wieder ein und machte nun nicht allein an die sonstigen Hebungen von der Bauerstelle, sondern an das ganze Dorf Goldberg Ansprüche. Darüber entstand ein Proceß, welcher 1562—1568 dauerte, dessen Ende jedoch nicht bekannt ist. Gewiß ist aber, daß die von Oertzen im ruhigen Besitze des Gutes blieben. Vicke von Oertzen wird daselbst, wie zu Gerdeshagen, einen Herrenhof angelegt haben, da im J. 1597 seine Wittwe auf demselben, vielleicht ihrem Leibgedinge, wohnte.

Die von Oertzen blieben im Besitze des Gutes und die Moltke im Besitze eines Bauerdienstes in demselben. Antoni 1610 verkaufte „Jaspar von Oertzen auf Roggow und Gerds„hagen dem Christoph von Petersdorf sein Gut und seinen „Hof Goldberg, im Kirchspiel Passee belegen, nebst zwei Pflug„diensten und zwei Kossaten, (außer einem Bauerdienst, welchen „die Moltke auf Tützen in Gebrauch hatten), für 6000 Gulden" und seine Söhne Jürgen und Sivert zu Clausdorf und Gorow gaben dazu ihre Einwilligung.

**Ravensberg** und **Wendisch Barkow.** Das Gut Ravensberg, in der Pfarre Neu-Bukow, erscheint im Anfange der neueren Geschichte im Besitze der Familie von Oertzen, und zwar im Anfange des 16. Jahrhunderts bei dem Hause Roggow-Gorow,

seit der Mitte des 16. Jahrhunderts zu dem neu aufgebauten Hause Roggow-Gorow-Gerdeshagen. Das Gut Ravensberg war ein altes Lehn des Bisthums Schwerin. Ueber die älteste Geschichte des Gutes fehlt es an allen Nachrichten. Wahrscheinlich gehörte es ursprünglich zu den zehn Dörfern, welche das Bisthum Schwerin bei seiner Stiftung im Lande Ilow erhalten (vgl. Lisch Meklenburg. Urkunden III, S. 13, 16, 26 flgd.) und wahrscheinlich schon früh zur Bildung einer Stiftsritterschaft zu Lehn weggegeben hatte. Alle diese alten Dörfer hatten wendische Namen, von denen jetzt jedoch die wenigsten zu erkennen und aufzufinden sind, indem die meisten ohne Zweifel bei der Verleihung und Germanisirung deutsche Namen erhalten haben. Darauf weisen die Güter hin, welche wendische Namen behalten haben, wie z. B. Meutin, Lischow, Questin, und ganz in der Nähe von Ravensberg und Ilow liegen. Eben so waren auch die v. Stralendorf auf Prensberg, welches ebenfalls in der Nähe von Ilow liegt, bischöflich-schwerinsche Vasallen. Es ist daher höchst wahrscheinlich, daß die vielen Güter in der Nähe von Ilow, welche deutsche Namen tragen, aus wendischen Dörfern entstanden sind, welche einst zum Burgbezirk der heidnischen Veste Ilow gehörten, und daß selbst die v. örtzenschen Güter Clausdorf, Garwensdorf und Wakendorf zu diesen gezählt werden müssen; möglich ist es, daß Ravensberg früher eine Zeit lang der Linie Clausdorf-Garwensdorf gehörte, von welcher es nach deren Aussterben an die Linie Roggow zurückging. Daher waren die von Oertzen Vasallen des Bisthums Schwerin von dem Gute Ravensberg.

Zu dem Lehngute Ravensberg gehörte in alten Zeiten ohne Zweifel das neben demselben liegende Gut Zarfzow, welches früher Tzerwitzow, Zerwetzow oder Serwessow geschrieben wird. Es lagen zwei Güter dieses Namens, Zerwetzow und Wendisch Zerwetzow, neben einander.

Die Güter Ravensberg und Zarfzow werden in alten Zeiten selten genannt; zuerst erscheinen sie, als am „Tage Martini 1369 Vicke Berkhahn mit seinen Vettern die Höfe Serwessow, Ravensberg und Wendischen Serwessow

„von dem Bischofe Friedrich zu Schwerin zu Lehn nahm". Die Familie Berkhahn blieb jedoch nicht im Besitze dieser Güter. Im J. 1497 verpfändete der Bischof Conrad das Gut Tzervitzow im Kirchspiel Neu-Bukow an den Ritter Heinrich von der Lühe auf Buschmühlen. In einer undatirten Lehnrolle des Bisthums Schwerin aus dem Anfange des 16. Jahrhunderts stehen auch: „die Oertzen von den Gütern Ravensberg „und Wendisch Zerwetzow". Jedoch behielten die von Oertzen das Gut Zarfzow, welches nur ein kleines Dörflein war und nur zwei Bauern und zwei Kossaten hatte, auch nicht lange; denn im J. 1590 wünschte Joachim von Oertzen auf Wustrow das Dorf der Dienste wegen zu seinem Gute Körchow von dem Herzoge Ulrich zu kaufen, welcher jedoch den Wunsch nicht erfüllte (vgl. unten die Linie Wustrow).

Dagegen scheint ein Theil des Gutes Gerdeshagen zum Bisthume Schwerin gehört zu haben, indem im 17. Jahrhundert von vier Bauerhufen dieses Dorfes die Kornpächte und die Bischofszehnten an das Stiftsamt Bützow zu leisten waren.

Auch von Roggow hatten die von Oertzen noch lange Bischofszehnten an das Stiftsamt Bützow zu liefern. In dem brüderlichen Theilungsvertrage der Linie von Oertzen auf Roggow vom 24. Oct. 1618 sollten alle nach Bützow zu leistenden Roßdienste und Bischofszehnten von den Hauptgütern Roggow, Gorow, Gerdeshagen und Clausdorf und deren „Pertinenzien" zu gleichen Theilen getragen werden. Eine Nebenbemerkung sagt: „nach Bützow gehört ein Pferd Roßdienst".

Auf diese Weise waren die von Oertzen auf Gorow und Gerdeshagen Vasallen des Bisthums Schwerin, und Ravensberg ward mit der Zeit als Pertinenz von Gerdeshagen betrachtet. In einem Verzeichnisse der adeligen Güter des Amtes Bützow vom J. 1661 wird ausdrücklich gesagt: „Ravensberg ist eine Pertinenz von dem Hauptgut Gerdeshagen, den von Oertzen zugehörig".

Urkundlich wird dieses Verhältniß zuerst im J. 1532 bezeugt, als der junge postulirte Bischof Magnus, Herzog zu Meklenburg, am 18. Sept. 1532 die Huldigung der Stifts-

vasallen annahm, unter denen auch „Lippold von Oertzen zu Gorow" genannt wird. Bald darauf werden in einer Lehnrolle Lippold von Oertzen zu Gorow und Sivert von Oertzen zu Roggow und in einer von des herzoglichen Administrators Magnus eigener Hand, also im zweiten Viertheil des 16. Jahrh. geschriebenen Lehnrolle Lippold von Oertzen zu Gorow als Vasallen des Bisthums Schwerin aufgeführt.

In der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. und in der ersten Hälfte des 17. Jahrh. werden die v. Oertzen öfter Besitzer von Ravensberg und Vasallen des Stifts Schwerin genannt; noch im Jahre 1707 wird Ravensberg als Stiftslehn verzeichnet. In den unglücklichen Jahren 1637 und 1638 ward aber Gerdeshagen mit den Pertinenzen so sehr verwüstet, daß nach Herstellung der Ordnung kaum die wenigen Dienstboten zu erhalten waren, und die Besitzer verloren ihr ganzes Vermögen. Daher ward nach Siverts v. Oertzen auf Gerdeshagen Tode wegen Schulden dem Jürgen Rappe und Johann Balkens Erben das „wüste Dorf Ravensberg" im Jahre 1650 gerichtlich adjudicirt, welches sie am 12. Jan. 1659 bei der Lehnkammer mutheten und worauf sie auch einen Muthschein erhielten. Im J. 1682 trat aber der dänische Obrist-Lieutenant Caspar Joachim v. Rappe auf Weselin das Gut Ravensberg wieder an Joachim v. Oertzen auf Roggow ab und brachte dadurch „das alte v. örtzensche Lehn wieder in den frühern Stand".

Am 27. Junii 1696 vertauschte aber Joachim v. Oertzen auf Roggow das Gut Ravensberg an Siegfried von der Lühe zu Altenhagen gegen das Gut Altenhagen und eine Geldzahlung von 2000 Thalern; jedoch reservirte sich Joachim v. Oertzen den halben Theil der Holzung zu Ravensberg mit Grund und Boden, Gerichtsbarkeit, freien Zutritt zu der Holzung und einer Unterthanenfamilie.

Am 8. Jan. 1757 vertauschte aber der Hofmarschall v. Oertzen diesen seinen Antheil an Ravensberg, nämlich den Grund und Boden des Reservats, gegen einen an Roggow grenzenden Theil des von ihm im J. 1745 zu Pfande genommenen Dorfes Zweendorf an die Kammer, mit Ausnahme

des auf dem Boden stehenden Holzes, das auch ungefähr 1500 schöne Eichen enthielt, welches er binnen 6 Jahren abzuräumen versprach, aber im J. 1768 noch nicht gethan hatte.

**Volland** und **Neu-Karin** waren alte Lehngüter der alten Familie von Jesewitz. Schon vor dem J. 1493 hatte Sivert II. v. Oertzen auf Roggow den Hof zu Volland, mit dem halben Mühlenbruch, der halben Koppel und dem halben Oberteich, und zwei Katen zu Neu-Karin, welche Henneke v. Jesewitz besessen hatte, zu Pfande genommen. Diese Güter verkauften am 25. Nov. 1493 Drewes und Otto von Jesewitz an Sivert III. von Oertzen auf Roggow. Nach dem bald darauf erfolgten Aussterben des Geschlechts von Jesewitz im Anfange des 16. Jahrhunderts wollten die Herzoge diesen Kauf nicht anerkennen, belehnten jedoch endlich am 15. Jan. 1515 die Brüder Jaspar und Lippold von Oertzen auf Roggow zur Vergeltung ihrer Dienste und Opfer und gegen Zahlung einer Summe von 350 Mark mit diesen Gütern. Volland ward bald darauf eine Pertinenz von Gerdeshagen, wo um die Mitte des 16. Jahrh. ein Wohnhof aufgebauet war. Volland war nur klein; in einem Geheimen Raths-Protocolle vom 21. März 1708 heißt es: „Volland. Dies were eine per„tinens von Gerdshagen und were ein kleiner hoff von etwa „2 Bauergehöfften". Das Gut blieb als Pertinenz bei dem Hause v. Oertzen auf Gerdeshagen, bis es im J. 1745 der Landrath Helmuth Friedrich v. Oertzen an den Kaufmann Kahle zu Wismar verkaufte.

**Kl. Tessin.** Kl. Tessin gehörte in alten Zeiten einer eigenen Linie der Familie v. Oertzen. Nach dem um das J. 1515 erfolgten Aussterben der Linie und dem Tode der Erbtochter fiel das Gut an den Ritter Mathias v. Oertzen aus dem Hause Wustrow, dessen Wittwe es während der Minderjährigkeit seiner Söhne ungefähr 1550—1560 an die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen auf Gorow und Gerdeshagen aus dem Hause Roggow verkaufte. Nachdem diese beiden

Brüder im J. 1578 ohne Lehnserben gestorben waren, fiel das Gut mit den andern Gütern derselben an das Haus Roggow, bei welchem es bis zum J. 1619 blieb.

**Lehnkrug zu Alt-Bukow.** Am 28. Dec. 1453 nahm der Knappe Sivert II. v. Oertzen zu Roggow von dem Knappen Dietrich v. Plessen zu Lübz den Krug zu Alt-Bukow „mit „aller Herrlichkeit" und 12 Schilling lüb. Pf. aus dem Dorfe Hagebök zu Pfande [CCXV]. Dieser Krug war ein Lehnkrug, den am 5. Febr. 1473 der Krüger Hans Hamme besaß, welcher ihn damals mit Bewilligung seines Lehnherrn Sivert v. Oertzen auf Roggow verpfändete [CCLXIX]. Am 1. Mai 1481 kaufte Sivert II. v. Oertzen diesen Krug eigenthümlich von Johann v. Plessen zu Freienstein [CCXCI].

Im Anfange des 17. Jahrh. besaßen die v. Oertzen auf Roggow ꝛc. noch den Krug mit allen Gerechtigkeiten.

Das Dorf Alt-Bukow gehörte dem Hospital zum Heil. Geist zu Lübek. Dieses wollte den v. Oertzen den Besitz des Kruges streitig machen und es entstand darüber ein Proceß, welcher 1605—1628 währte, bis am 26. Nov. 1633 Siegfried v. Oertzen durch Vergleich gegen Entschädigung den Krug an das Hospital abtrat, mit Zustimmung Jaspar's v. Oertzen zu Roggow, Claus v. Oertzen zu Gorow und Sivert's v. Oertzen d. j. zu Gorow.

**Neuendorf.** Das Dorf Neuendorf bei Neuburg war eine Pertinenz des Gutes Gamehl und im Besitze der Familie v. Stralendorf. Jedoch hatte die Familie v. Oertzen hier in dem Dorfe auch einen kleinen Besitz, welcher wahrscheinlich altes gemeinschaftliches Eigenthum der Familie war.

Am 5. Dec. 1459 verpfändete Vicke v. Oertzen auf Wustrow dem Lüdeke v. Bassewitz auf Maslow 4 Mark Pacht aus einem Bauerhofe „to deme Niendorpe in „dem kerspel tor Nygenborch" und Sivert II. v. Oertzen auf Roggow gab durch Besiegelung der Urkunde seine Zustimmung [CCXXXI].

Am 26. Nov. 1474 verpfändete Jaspar v. Stralendorf auf Krankow dem Mindern Kaland zu Wismar unter Anderm auch 3 Mark „to deme Nigendorpe in deme kerspele „to der Nigenborch", welche Hans v. Oertzen auf Clausdorf entrichten sollte, der wahrscheinlich dem Jaspar v. Oertzen den Bauerhof zu Pfande gesetzt hatte [CCLXXVIII].

Noch im J. 1587 hatten die v. Oertzen einen kleinen Antheil an dem Dorfe. Wahrscheinlich gehörte der Besitz früher der Linie Clausdorf.

**Hanshagen.** Das Dorf Hanshagen, eine Pertinenz des Gutes Detershagen, war bis ins 17. Jahrhundert im Besitz der Familie v. Moltke. Jedoch erwarben die v. Oertzen vorübergehend kleine Antheile in demselben. Im Jahre 1444 hatte Burchard v. Oertzen auf Clausdorf von den Brüdern Waldemar und Johann Moltke auf Mulsow 16 Mark Pacht „to deme Hanshaghen in dem kerspele to Cro„pelin" zu Pfande genommen, welche Johann Moltke am 7. April 1460 auf den Sivert II. v. Oertzen auf Roggow übertrug. Am 26. Mai 1462 verpfändete der Herzog Heinrich dem Sivert II. auf Roggow 3 Mark Bede aus Hanshagen. Am 11. August 1469 verpfändete Johann Moltke demselben die „Besserung" aus dem Dorfe Hanshagen.

**Clausdorf** (in der Pfarre Alt-Bukow) und **Garwensdorf**, mit einer Kossatenstelle in Teschow und einem Bauerhofe in Neuendorf, fielen nach dem Aussterben des v. örtzenschen Hauses Clausdorf-Garwensdorf am Ende des 15. Jahrhunderts an das Haus Roggow, welches dieselben an 150 Jahre besaß und durch Verpfändungen verlor (vgl. unten).

## Alte Pfandgüter.

**Berenshagen** mit dem Dorfe Dolglas („Dargelatz") (1503) hatte Sivert III. seit 1489 wahrscheinlich in Pfandbesitz von den v. Bibow und vererbte es bis 1530 auf seine jüngern Brüder.

**Bibühl** hatte Sivert III. von den v. Bülow auf Prützen in Pfandbesitz bis in den Anfang des 16. Jahrhunderts, wie es scheint.

**Hermanshagen** erscheint 1503 vorübergehend im Besitze der v. Oertzen auf Roggow. Am 25. Jan. 1503 werden „Hermann und Jaspar v. Oertzen Brüder zu Hermenshagen" genannt. Dieses Hermanshagen ist ohne Zweifel das Gut gleiches Namens, welches den v. d. Lühe auf Buschmühlen und Büttelkow gehörte und von diesen wohl an die v. Oertzen verpfändet war.

**Tützen** hatten Lippold II. und seine Söhne Jürgen und Vicke um die Mitte des 16. Jahrh., ungefähr 1550—1560, auf einige Zeit von den Moltken zum Pfande. Dies wird in einem Zeugenverhöre vom J. 1563 ausdrücklich gesagt: „daß „die Oertzen den Hof Tützen von den Moltken pfandweise inne „gehabt, und damals Jürgen und Vicke v. Oertzen mit ihrer „Mutter allda gewesen" seien. Unter den Bürgen, welche sich Antonii 1560 für den Herzog Johann Albrecht und die Landstände für 10,000 Gulden gegen Paris Hahn auf Basedow verbürgten, wird auch „Vicke v. Oertzen zu Tützen" aufgeführt. Dies war wahrscheinlich zu der Zeit, als Vicke v. Oertzen, der zuerst mit seinem Bruder Jürgen auf Gorow zusammen wohnte, den Hof zu Gerdeshagen aufbauete.

## 12.

## Sivert I., Knappe.

1424 † 1449.

§. 47. G. VII.

Hermann III. auf Roggow erreichte ein ſehr hohes Alter, indem er ſchon im J. 1360 auftrat [CXIV] und zuletzt am 17. März 1415 bei der v. örtzenſchen Erbtheilung über das Gut Clausdorf erſcheint [CXL]. Seine Gemahlin war wahrſcheinlich eine geborne von Buchwald, da nach ihm in der v. örtzenſchen Linie Roggow ſehr häufig der Vorname Sivert vorkommt und derſelbe der Familie v. Buchwald eigenthümlich zu ſein ſcheint; die Berührungen der holſteinſchen und meklenburgiſchen Adelsgeſchlechter waren im 14. Jahrhundert ſehr häufig; es erſcheinen z. B. 1255 ein Ritter Siegfried v. Buchwald (Hamburger Urk. Buch I., S. 494), 1303 ein Ritter Siegfried v. Buchwald (Lübeker Urk. Buch II., S. 139) und 1395 ein Sivert v. Buchwald (Suhm Dän. Hiſt. XIV., S. 595).

Hermann III. v. Oertzen hinterließ zwei Söhne, Sivert I. und Hermann IV. Dieſe werden zwar nirgends Söhne Hermanns III. genannt; aber es läßt ſich nicht bezweifeln, daß ſie ſeine Söhne waren, da ſie ihm unmittelbar im Beſitze von Roggow folgten, dieſelben Vornamen zu jener Zeit in keiner andern Linie des Geſchlechts erſcheinen und zu derſelben Zeit keine Beſitzveränderungen in der Familie vorkommen. Aber Sivert I. und Hermann IV. werden wiederholt Brüder genannt, z. B. am 15. April 1424 [CLVII] und am 21. Dec. 1431 [CLXXXI]. Den Vornamen wird Sivert von ſeinem mütterlichen Großvater, Hermann von ſeinem väterlichen Großvater und ſeinem Vater erhalten haben. Beide treten in Meklenburg zuerſt im Jahre 1424 auf. Sivert erſcheint als Beſitzer von Roggow, während ſein Bruder Hermann zuerſt auf Seeland, ſpäter in Meklenburg auftritt.

Sivert I. v. Oertzen tritt mit ſeinem Bruder Hermann IV. zuerſt am 15. April 1424 auf, als Nicolaus I. v. Oertzen auf Gammelin und Kramonshagen dem Kloſter Rehna eine

Mark jährlicher Hebung aus dem Dorfe Gr. Eixen verkaufte zur Haltung von Seelenmessen in dem Kloster für die verstorbene erste Frau des Nicolaus v. Oertzen [CLVII], welcher in dieser Generation der bedeutendste Mann in der Familie war (vgl Linie Gammelin).

Sivert I. von Oertzen der Pilger kommt nur kurze Zeit und wenig vor. Ihn beseelte vorzüglich der Geist der Frömmigkeit nach den damaligen Ansichten und der Drang nach den heiligen Stätten im Gelobten Lande, wo er auch endlich wohl nach seinem Wunsche den ersehnten Frieden fand.

Am 24. Nov. 1428 lieh der „Knappe Sivert von Oertzen zu Roggow" dem Hennecke von Moltke zu Neuenkirchen 200 lübische Mark, wofür dieser jenem 20 lübische Mark jährlicher Hebung aus seinem Gute Detershagen verpfändete [CLXX], in welchem die von Oertzen auf Roggow bis zum Jahre 1350 auch Besitzungen gehabt hatten [LXXXVIII].

Im Jahre 1432 machte Sivert von Oertzen seine erste Pilgerfahrt, wahrscheinlich in das Gelobte Land, jedoch ist in der Urkunde das Ziel der Reise nicht bestimmt ausgedrückt; er nennt die Fahrt, die er vorhatte, nur eine „selige Reise". Am 21. Dec. 1431 machte er, wahrscheinlich in dem Kloster Doberan, sein geistliches Testament [CLXXXI] und empfahl sein Seelenheil und seinen Leib, falls er in Meklenburg sterben sollte, diesem Kloster. Hiefür schenkte er dem Kloster die 200 lübische Mark, welche er am 24. Nov. 1428 dem Henneke v. Moltke gegen 20 lübische Mark jährlicher Zinsen geliehen hatte und bestimmte die Verwendung dieser Zinsen ausführlich; für den Fall, daß Henneke v. Moltke die Schuld abtragen würde, sollte der Abt des Klosters die 200 Mark in dem Klostergute Zweendorf anlegen und dem Klosterconvente aus diesem Gute jährlich 15 lübische Mark auf ewige Zeiten entrichten. Diese 15 Mark sollten folgendermaßen verwandt werden: für 8 Mark sollte straßburger Tuch zu Mönchskutten (monnikekaghelen), in denen anständig Messe gelesen werden könne, gekauft werden; für 2 Mark sollte der Abt dem Convente jährlich 2 Tonnen bützowsches Bier, zwei mal jährlich eine Tonne, an den beiden Tagen geben, an welchen Seelen-

messen für ihn gehalten werden würden; 4 Mark sollten dem Kammerhofe zu Doberan zur Auszahlung aufgelegt werden, so daß der Kammermeister dafür jährlich ein Stück grobes Tuch liefern solle, welches der Klosterpförtner nach der Bestimmung des Abtes an arme und kranke Leute zu vertheilen habe; 1 Mark sollte der Abt dem Schuhmeister des Klosters zahlen, wofür dieser alle Jahre sechs Paar neue Schuhe dem Klosterpförtner zu liefern habe, welche dieser armen Leuten und Pilgern schenken sollte. Diese Bestimmungen sollten für die Zeit gelten, daß das Capital zu 15 Mark Zinsen in Zweendorf belegt sein würde; zwei Tonnen Bier, ein Stück grobes Tuch und eine Mark zu Schuhen waren für alle Zeiten bestimmt; so lange das Kloster 20 Mark aus Petershagen einnahm, konnte also die Mehreinnahme für Mönchsgewänder verwandt werden. Für diese Schenkung machte Sivert v. Oertzen die Bedingung, daß er nach seinem Tode in dem Kloster Doberan begraben und sein Andenken jährlich zwei Male mit Vigilien und Seelenmessen begangen werde; sollte er im Lande der Herren von Mecklenburg sterben, so sollte ihn das Kloster mit des Klosters Wagen und Pferden auf Kosten seines Nachlasses in das Kloster holen lassen. Mit Sivert I. v. Oertzen besiegelten dieses Testament dessen „rechte Erben," als welche „sein Bruder Hermann v. Oertzen", der herzogliche Rath Claus v. Oertzen auf Gammelin und Kramonshagen und der bekannte Ritter Mathias von Axekow genannt werden. Der Ritter Mathias v. Axekow, ein sehr bedeutender Mann und erster Minister der verwittweten Herzogin Katharine, stiftete am 2. Februar 1439 ebenfalls Seelenmessen für sich und sein Geschlecht in der Kirche zu Doberan (vgl. Jahrbücher IX., S. 309 und 312) und ward nach seinem am 23. Junii 1445 erfolgten Tode ebenfalls in der Kirche zu Doberan unter einem großen Leichensteine in der südöstlichen Kapelle des Chorumganges beigesetzt, welche mit zahlreichen Denkmälern die Begräbnißgruft der Familie von Axekow bildet (vgl. Jahrbücher IX., S. 441).

Im Jahre 1436 war Sivert v. Oertzen wieder in seiner Heimath, indem er am 26. April 1436 als Bürge der ver-

wittweten Herzogin Katharine und ihrer Söhne für eine Schuld von 200 Mark eintrat [CLXXXIX].

Am 9. Dec. 1439 erscheint er einmal als herzoglicher Rath, als die Herzoge die lange dauernden Unruhen in der Stadt Rostock beilegten und den Streit ausglichen [CXCV].

Doch sein Drang nach dem Heiligen Lande ließ ihm keine Ruhe im Vaterlande und im Jahre 1441 unternahm er eine zweite Pilgerfahrt. Noch am 9. Januar 1441 zu Wismar [CXCVI] und am 1. Februar 1441 zu Schwerin [CXCVII] übernahm er mit andern fürstlichen Räthen und hochgestellten Personen bedeutende Bürgschaften für die Herzogin Katharine und deren Söhne zum Besten des Landes. Aber schon am 4. März 1441 machte er sein Testament [CXCVIII] zu seiner letzten Pilgerfahrt, welche diesmal sicher nach dem Gelobten Lande ging, wie sein Tod ausweiset. Als er den Entschluß »zu der Reise gefaßt hatte, die er nach der Führung Gottes »zu thun dachte«, ging er nach dem Kloster Doberan und übergab hier dem Abte in dessen Wohnung eine Lade mit seinen Urkunden und dem baaren Gelde, welches er übrig hatte, nämlich 6 Rosenobeln, 100 lübischen Goldgulden, 60 rheinischen Goldgulden, 40 arnheimschen Goldgulden, 6 Bischofsgoldgulden, 100 lübische Mark guter Münze und 45 Mark lübischer Münze in Gold und Silber, und bestellte den Abt Bernhard und den Ritter Mathias von Axekow zu Vollstreckern seines letzten Willens für den Fall, daß er von der Reise nicht heimkehren würde. Diese Testamentsvollstrecker sollten dann von dem in Doberan niedergelegten Gelde seine Privatschulden bezahlen, wenn seine Erben dieselben nicht würden bezahlen können oder wollen; von dem Gelde, was dann übrig bleibe, sollten sie so viel abnehmen, als nöthig sein würde, die Almosen sicher zu bestreiten, die er durch sein erstes Testament vom 21. Dec. 1431 bestimmt hatte, welches er noch einmal bestätigte. Von dem Rest sollten 30 lübische Mark zu den 50 lübischen Mark gelegt werden, welche er von Claus v. Moltke zu Detershagen zu fordern und dem Kloster cedirt hatte, um von den Zinsen eine ewige Lampe in dem Kreuzgange (in der broder ganghe) vor dem Refectorium oder

Sprechzimmer („parlor“) während der nächtlichen Messen bis zum Tagesanbruch zu unterhalten. Was endlich von dem Gelde übrig bleiben würde, sollten die Testamentsvollstrecker nach ihrem Ermessen unter die Armen vertheilen. Er stellte die Urkunde über diese Bestimmungen am 4. März 1441, vielleicht dem Tage seiner Abreise, in Roggow aus [CXCVIII].

Von dieser Wallfahrt, welche neun Jahre dauerte, und daher sicher mit großen Leiden und Kämpfen verbunden war, kehrte Sivert I. nicht wieder heim. Er starb am 1. Julii 1449 im Gelobten Lande und ward auf dem Berge Zion in dem Franziskaner- (Mindern Brüder- oder Minoriten-)Kloster daselbst begraben. Um seinen Wunsch, für den Fall seiner glücklichen Rückkehr in dem Kloster Doberan begraben zu werden, zu ehren, setzte man bei Erneuerung des Leichensteins seines Großvaters Hermann II. im südlichen Seitenschiffe der Kirche zu Doberan (vgl. Jahrbücher IX., S. 443) die Nachricht über Sivert's ungewöhnlichen Tod mit auf diesen in einer Abbildung hier beigegebenen Leichenstein. Die Inschrift lautet:

**Ano . dni . m . ccc . lxxx | vi . s . hermānus . de . ortzen . armiger . Ano . dni . m° . cccc° . | xlix . i . kl'. iulii . i t'ra . scā . s . sifrid⁹ . de . ortzen . sepultus . in . mōte . syō . apud . miōr⁹.**

(= Anno domini MCCCLXXXVI obiit Hermannus de Ortzen armiger. Anno domini MCCCCXLIX in kalendis Julii (Julii I) in terra sancta obiit Sifridus de Ortzen, sepultus in monte Syon apud minores), d. i.: „Im Jahre des Herrn 1449 am „1. Tage des Julii starb im Heiligen Lande Siegfried von Oertzen „und ist begraben auf dem Berge Zion bei den Minoriten.“ Neben der Stelle, wo dieser Leichenstein liegt, stand einst gewiß ein Nebenaltar, an welchem die Seelenmessen für die Familie von Oertzen gelesen wurden, oder ein v. örtzenscher Familienaltar. Hoch an der Wand hängt noch ein großes, aus Eichenholz geschnitztes und bemaltes von örtzensches Wappen, welches vor dem ersten Bande dieser Familiengeschichte in Farbendruck abgebildet ist. Wahrscheinlich ward

dieses Wappen bei der Legung des Leichensteins aufgehängt, da beide ungefähr aus derselben Zeit stammen.

In der Nähe dieses Leichensteins liegt ein schon sehr verwitterter Leichenstein ungefähr aus derselben Zeit mit einer betenden weiblichen Figur und folgender Inschrift:

**Hic . iacet . deuota . dn̄a . | helena . iuxta . fratrem . suum . sepulta . sicut . in . vita . | dilexerunt . se . ita . ꝫ . in | morte . nō . sūt . sepati . q̊ꝫ . āie . req̊escat . ī . pace . amē .**

(= Hic jacet deuota domina Helena juxta fratrem suum sepulta: sicut in vita dilexerunt se, ita etiam in morte non sunt separati: quorum animae requiescant in pace. Amen.)

Die hier Begrabene wird nur mit Vornamen, Helena, genannt, aber kein Zuname und kein Wappen bezeichnet ihre Familie und keine Zeitangabe die Zeit ihres Todes. Es ist aber leicht möglich und sehr wahrscheinlich, daß sie der Familie von Oertzen angehört.

Siverts I. Gemahlin war nach der Ahnentafel eine geborne v. Buchwald. Zwar ist oben angenommen, daß auch Siverts Vater Hermann eine v. Buchwald zur Frau gehabt habe und durch diese der Vorname Sivert in die v. örtzensche Familie gekommen sei; aber die Verheirathungen aus holsteinschen Geschlechtern waren im 15. und 16. Jahrhundert ungemein häufig, und auch Siverts I. Enkel Jaspar I. hatte nach der Ahnentafel eine geborne v. Buchwald zur Frau.

Sivert I. führt 1431—1441 ein rundes Siegel mit einem großen, stehenden Schilde mit zwei Armen, welche einen ziemlich großen Ring halten, und der Umschrift:

**s . sivert ❀ van ❀ ortzen ❀ ❀**

Dasselbe Siegel führt sein Sohn Sivert II. nicht allein während der Wallfahrt seines Vaters, sondern auch noch lange nach dessen Tode, z. B. noch am 17. Sept. 1475.

Sivert I. auf Roggow hinterließ nur einen Sohn Sivert II., welcher ihm im Besitze von Roggow folgte und wahrscheinlich eine Tochter, welche an Hardenack von Bibow auf Westenbrügge vermählt ward; von mehr Kindern ist in

den zahlreichen Urkunden, welche Sivert II. betreffen, nicht die Rede. Zwar wird nirgends anders, als in der Ahnentafel, ausdrücklich gesagt, daß Sivert II. ein Sohn Sivert's I. sei. Aber da Sivert I. sich in seinem letzten Testamente „Sivert der ältere" („Syuerd de older") nennt, so läßt sich daraus schließen, daß er einen Sohn gleiches Namens hatte. Da Sivert II. nun auch lange Zeit hindurch Siverts I. Siegel führte und diesem im Besitze von Roggow folgte, so wird hiedurch diese Annahme noch mehr bestärkt. Zwar wird in der Urkunde vom 1. April 1471 [CCLXV] ein zwischen 1470 und 1471 gestorbener Hermann von Oertzen ein Sohn Siverts von Oertzen genannt, aber der Vater Sivert wird noch als des „Herzogs tüchtiger Rath und lieber getreuer" bezeichnet, so daß es nicht zu bezweifeln ist, daß dieser Vater Sivert nach diesen Ausdrücken damals noch am Leben war und nur Sivert II. sein kann, dieser Hermann also ein früh verstorbener Sohn Siverts II. gewesen sein muß. Von diesem Verhältniß wird weiter unten bei den Kindern Siverts II. die Rede sein. Die Kinder Siverts I. waren also:

VIII. 14. Sivert II. 15. Eine Tochter.

## 13.

## Hermann IV., Knappe.

1410—1431.

§. 48. G. VII.

Hermann IV. von Oertzen war der jüngere Sohn des Knappen Hermann III. auf Roggow und Bruder des Knappen Sivert des Pilgers. Er lebte in seinen jüngeren Jahren in Dänemark, wie es scheint auf Seeland. Schon am 17. April 1410 war er, „Herman Ortz", Zeuge eines Testaments eines B. Jacobs (nach der Mittheilung des Geheimen Archivars Finn Magnusen zu Kopenhagen). Am 21. Dec. 1417 war er („Hermannus van Oertzs armiger") Zeuge,

als der Knappe Buzae Pariis zu Helsing dem Abte des Klosters Ebbelholt (jetzt Frederiksborg) Güter verkaufte [CXLIV], und am 4. Julii 1421 war er, „Herman von Oertz von Elling", auf dem Landthing von Seeland [CXLVIII]. Am 15. April 1424 war er in Meklenburg und trat mit seinem Bruder Sivert zuerst in Meklenburg als Zeuge auf, als Nicolaus v. Oertzen auf Gammelin und Kramonshagen Seelenmessen im Kloster Rehna mit Hebungen aus dem Dorfe Gr. Eixen stiftete [CLVII]. Aber im Jahre 1425 war er, „Hermen „van Oertzen", wieder in Dänemark (nach einer Original-Urkunde im Geheimen Archive zu Kopenhagen, nach Mittheilung des Geheimen Archivars Finn Magnusen zu Kopenhagen). Späterhin wird er sich wieder ganz nach Meklenburg gewandt haben; denn am 6. Februar 1431 war er im Gefolge der verwittweten Herzogin Katharine von Meklenburg; in einer Rechnung des Amtes Bukow vom Jahre 1430 heißt es: „Des „mandaghes na Unser leuen vrowen daghe to lichtmissen. „Do quam myn vrowe to der Wysmer unde bleff III nacht. „Item III s. vor scho de worden Splite unde Hermenne „van Oertze." Split war aus einem, wahrscheinlich aus Holstein stammenden, damals in Meklenburg angesessenen adeligen Geschlechte, dessen Glieder viel am herzoglich-meklenburgischen Hofe zu Schwerin dienten; der hier genannte Split ist ohne Zweifel „Hinrik Split", welcher am 25. Jan. 1432 des jungen Herzogs Heinrich Erzieher war (Hinrik Split, „knape, unses sones hertoghe Hinrikes tuchtmester"). Hermann v. Oertzen erscheint zuletzt am 21. Dec. 1431, als sein Bruder Sivert I. sein Testament für seine erste Pilgerfahrt machte und wird von diesem ausdrücklich Bruder genannt („Hermen van Ortzen myn broder") [CLXXXI].

Nach dieser Zeit kommt Hermann IV. nicht weiter vor und sein Bruder Sivert erscheint als alleiniger Besitzer von Roggow.

Das Siegel Hermanns an dem Testamente seines Bruders vom 21. Dec. 1431 ist rund und hat in einem mit Pflugscharen bestreueten Schilde zwei Arme, welche einen Ring halten. Dies wird das letzte Mal sein, daß Pflug-

scharen auf dem örtzenschen Schilde vorkommen (vgl. Bd. I., S. 13 und 14).

Von einer Gemahlin und von Kindern Hermanns IV. v. Oertzen ist nirgends die Rede.

---

## 14.

## Sivert II., Knappe.

1442—1482.

§. 49. G. VIII.

Sivert II. war der einzige Sohn des Pilgers Sivert I. und folgte ihm im Besitze von Roggow; er erscheint vierzig Jahre lang an Thätigkeit und Reichthum ausgezeichnet und giebt das Bild eines gediegenen, kräftigen Lebens. Er stand wohl im jüngern Mannesalter, als sein Vater im Jahre 1441 seine zweite Wallfahrt nach dem Gelobten Lande antrat, und übernahm dessen Güterbesitz und Siegel bis zur erwünschten Heimkehr. Am 5. Junii 1442 erscheint er zuerst, als des Raths Nicolaus I. v. Oertzen auf Gammelin und Kramonshagen Wittwe Beke Güter in Gr. Brüsewitz und Kramonshagen veräußerte [CC]; wahrscheinlich wirkte er hier als Mitvormund oder Familienrath. Am 7. März 1446 lieh er dem mit der v. örtzenschen Linie Gammelin verwandten Wedege von Züle auf Walsmühlen 105 Mark lübisch [CCIII], welche er wahrscheinlich dem meklenburgischen Jungfrauenkloster Eldena cedirte, da die Urkunde hierüber sich unter den Urkunden dieses Klosters findet, und am 24. April 1446 lieh er selbst demselben Kloster 31 Mark lübisch [CCIV]; wahrscheinlich kam er mit diesem Kloster durch Mitvormundschaft für die minderjährigen Kinder des verstorbenen Raths Nicolaus I. v. Oertzen auf Gammelin in Berührung, da das Kloster in der Nähe der gammeliner Güter lag.

Siverts II. Vater kehrte aus dem Gelobten Lande nicht wieder heim. Im J. 1450 mochte die Familie die sichere

Nachricht erhalten haben, daß Sivert I. am 1. Julii 1449 das Ziel seiner irdischen Wallfahrt in dem Lande seiner Sehnsucht und seine Ruhestätte auf dem Berge Zion gefunden habe. Da der Ritter Mathias v. Axekow, welchen Sivert I. zu seinem Testamentsvollstrecker eingesetzt hatte, auch am 23. Junii 1445 gestorben war, so wird Sivert II. ohne Zweifel die Pflicht auf sich genommen haben, den letzten Willen seines Vaters für das Kloster Doberan vollständig in Ausführung zu bringen, indem er die Seelenmessen und Almosen im Kloster Doberan anordnete. Bei dieser Gelegenheit wird er den v. örtzenschen Familienaltar geschmückt und seinem Vater, der ein ungewöhnliches, beneidenswerthes Ende gefunden hatte, ein Kenotaph errichtet haben, indem er mit einem Leichensteine für seinen Urgroßvater Hermann II. das Andenken seines Vaters verband (vgl. oben S. 20).

Mit der sichern Nachricht von dem Tode seines Vaters ward Sivert II. Herr seines Erbes und erscheint von jetzt an häufig in der Geschichte Meklenburgs. Zunächst erscheint er am 29. Jan. 1450 als Bürge für den Herzog Heinrich für eine Schuld von 1760 lüb. Mark, welche dieser dem Wedege von Züle auf Walsmühlen schuldig war [CCX], und am 26. Dec. 1454 wiederum als Bürge für den Herzog für eine Schuld von 1080 Goldgulden an Ulrich von Penz auf Gorlosen [CCXVIII]. Außerdem erscheint Sivert II. in den ersten Jahren seines selbstständigen Lebens öfter in Begleitung des Herzogs Heinrich, z. B. am 13. Dec. und 16. Dec. 1452 zu Rostock [CCXI und CCXII] und am 27. Dec. 1453 zu Schwerin [CCXIV], so daß es scheint, als wenn er schon früh zu dem herzoglichen Hofe in ein näheres Verhältniß getreten sei. Am 28. Dec. 1453 nahm er von Dietrich v. Plessen zu Lübz den Krug zu Alt-Bukow mit 12 Schillingen Pacht aus Hagebök zu Pfande [CCXV], welchen er am 1. Mai 1481 eigenthümlich erwarb [CCXCI]; dieser Krug war ein Lehnkrug [CCLXIX].

Seit dem Jahre 1455 erscheint Sivert II. v. Oertzen aber in einer höhern Wirksamkeit, indem er von dieser Zeit an häufig als Landrath auftritt und in dieser Stellung bis gegen

seinen Tod ungefähr 20 Jahre lang verharrt. Schon am 2. Mai 1455 war er unter des „Herzogs geschwornen Mannen und Räthen", welche zur Ordnung einer streitigen Grenze des Klosters Doberan bei Diedrichshagen abgesandt waren [CCXX und CCXXI], und seit dem 11. Nov. 1458 [CCXXVII] wird er häufig des Herzogs „Rathgeber" oder des Herzogs „Rath und lieber Getreuer" („unse rad und leve getruwe") genannt, z. B. am 11. März 1459 [CCXXIX], 15. März 1460 [CCXXXII], 26. Mai 1462 [CCXXXVII], 16. Febr. 1464 [CCXLII] u. s. w. Zu gleicher Zeit mit ihm war Vicke III. v. Oertzen auf Wustrow 1460 bis 1465 Landrath.

Als einziger Lehnerbe seines Vaters war sein Vermögen bedeutend und als Landrath seine Stellung von Gewicht. Daher mußte er oft für den Herzog Heinrich für dessen zahlreiche Schulden als Bürge mit eintreten, z. B. am 28. April 1457 gegen Dietrich und Hans v. Pleſſen für 1080 Goldgulden [CCXXIII], am 3. Jan. 1459 gegen Dethlof Regendank auf Eggerstorf für 550 Mark [CCXXVIII].

Zu Siverts II. Zeiten werden die Pertinenzen und kleineren Besitzungen der Linie Roggow zuerst klar.

Am 22. März 1459 verpfändete der Herzog Heinrich seinem Rath Sivert v. Oertzen $7^1/_2$ Mark jährlicher Bede aus Gerdeshagen [CCXXX]; dies ist das erste Mal, daß Gerdeshagen genannt wird. Es wird in der Urkunde zwar nicht gesagt, daß Gerdeshagen den v. Oertzen von der Linie Roggow gehörte; aber es geht aus allen späteren Verhandlungen hervor, daß es seit alter Zeit eine Pertinenz des Hauptgutes Roggow war, ein Bauerdorf bildete und seit der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. nach und nach zu einem Hofe umgeschaffen ward.

Als am 5. Dec. 1459 der Rath Vicke v. Oertzen auf Wustrow dem Lüdeke v. Bassewitz auf Maslow 4 Mark jährlicher Pacht aus dem Dorfe Neuendorf im Kirchspiele Neuburg verpfändete, besiegelte auch Sivert II. v. Oertzen den Brief [CCXXXI]. Der Besitz in diesem Dorfe war nicht bedeutend und wohl ein altes gemeinschaftliches Eigenthum der ganzen Familie aus alter Zeit; am 26. Nov. 1474 hatte Hans

v. Oertzen einen Bauerhof in demselben Dorfe, als Jaspar v. Stralendorf auf Krankow dem Mindern Kaland zu Wismar 3 Mark jährlicher Pacht aus dem Hofe des Hans v. Oertzen verpfändete [CCLXXVIII]; wahrscheinlich hatte Hans v. Oertzen seinen Besitz dem Jaspar v. Stralendorf zu Pfande gesetzt. Die v. Oertzen auf Roggow hatten noch lange einen Besitz in Neuendorf.

Auch in dem Dorfe Hanshagen bei Kröpelin, welches den v. Moltke gehörte, erwarb Sivert II. Hebungen. Schon im J. 1444 hatten die v. Moltke 16 Mark Hebungen aus Hanshagen dem Burchard v. Oertzen auf Clausdorf verpfändet, übertrugen dieselben aber am 7. April 1460, als die Linie Clausdorf zu wanken anfing und dem Aussterben nahe war, dem Sivert II. v. Oertzen auf Roggow auf 10 Jahre [CCXXXIII]. Am 26. Mai 1462 verpfändete der Herzog Heinrich seinem Rath Sivert II. v. Oertzen 3 Mark Bede aus Hanshagen [CCXXXVII] und am 11. Aug. 1469 verpfändete Johann Moltke auf Mulsow dem Sivert v. Oertzen für 50 lüb. Mark die „Besserung" aus dem Dorfe Hanshagen [CCLX]. Der Besitz der v. Oertzen in diesem Dorfe wird jedoch nur ein vorübergehender gewesen sein.

Der Herzog Heinrich verpfändete seinem Rath Sivert v. Oertzen zu Roggow am 6. Dec. 1464 die Hebung von 14 Mark Bede und das höchste Gericht aus den Dörfern Passee und Pustohl [CCXLV] und am 15. März 1470 die Hebung von 6 Mark Bede aus den Dörfern Berenshagen, Passee und Pustohl und 4 Mark Bede aus Alt-Karin [CCLXII].

Diese verpfändeten Beden aus Gerdeshagen, Hanshagen, Berenshagen, Passee und Pustohl löseten die Herzoge am 6. Febr. 1492 wieder ein [CCCIII].

Sivert II. nahm auch (unbestimmt zu welcher Zeit) von den von Jesewitz den Hof Volland und zwei Katen zu Neu-Karin zu Pfande, welche am 25. November 1493 sein Sohn Sivert III. käuflich an sich brachte [CCCX].

Sivert II. blieb in seinem Wirken unausgesetzt thätig und befestigte nicht nur den Wohlstand seines eigenen Hauses,

sondern half auch dem herzoglichen Hause und dem Lande fortwährend mit Rath und That. Er trat für den Herzog Heinrich nicht allein wiederholt in Bürgschaft, z. B. am 25. Nov. 1461 für 1100 lüb. Mark gegen Mathias v. Rathlow, wobei noch einmal die Namensform „Norsze" vorkommt [CCXXXVI], am 7. Dec. 1464 für 216 Goldgulden gegen Heinrich v. Bülow auf Plüschow [CCXLVI], sondern lieh auch dem Herzoge am 31. Dec. 1466 die Summe von 600 lüb. Mark [CCL]. Er half das Verhältniß des Herzogs Heinrich mit dessen Söhnen Albrecht und Johann für deren abgesonderte Wirthschaft am 16. Febr. 1464 [CCXLII] und 19. und 20. Jan. 1474 [CCLXXV und CCLXXVI] ordnen und sorgte mit für die Leibgedingsverschreibung der Herzogin Dorothea, Gemahlin des Herzogs Heinrich, am 23. Nov. 1473 [CCLXXII]. Er schlichtete am 23. Dec. 1462 mit die Streitigkeiten zwischen dem Herzoge und der Stadt Wismar [CCXL], bei welchen er selbst einen Ueberfall erlitten hatte [CCXXXIX], und die Streitigkeiten zwischen der Stadt Rostock und Claus Thun am 20. Nov. 1470 [CCLXIV], und ordnete manche Privatangelegenheit, z. B. am 9. Sept. 1464 die Grenzregulirung zwischen den Gütern des Klosters Doberan und dem Heinrich v. Bülow [CCXLIV], am 6. Julii 1466 die Verhältnisse der ausgestorbenen hahnschen Linie Wargentin [CCXLIX], am 16. Aug. 1467 die Verhältnisse des ausgestorbenen Geschlechts Hardenack [CCLV], welche seine Geschäftskenntniß und Erfahrung im Lehnwesen bezeugen.

Mitten in dieser Wirksamkeit treten auch Siverts II. häusliche Verhältnisse klarer hervor.

Am 16. Febr. 1464, als Sivert II. bei dem Herzoge Heinrich zur Auseinandersetzung mit dessen Söhnen den Herzogen Albrecht und Johann in Schwerin war, versicherte er seiner Gemahlin Margarethe auch das Leibgedinge, indem er ihr das Gut Wakendorf und seine Antheile in Garwensdorf und Clausdorf verschrieb und die herzogliche Bestätigung nachsuchte [CCXLIII]. Siverts Gemahlin Margarethe war eine geborne von Flotow von Stur, da nicht allein Siverts II. Söhne Jaspar und Lippolt alle v. Flotow zu Stur

am 6. Oct. 1513 „von wegen ihrer Mutter Erbe" belangen, sondern dies auch in Uebereinstimmung hiemit die v. örtzensche Ahnentafel bestätigt (vgl. unten).

Sivert II. muß im J. 1464 schon lange verheirathet gewesen sein; denn schon im J. 1467 traten seine beiden ältern Söhne Hermann und Sivert als Bürgen für den Herzog Heinrich ein [CCLI] und schon im J. 1471 war sein ältester Sohn Hermann in mündigem Alter gestorben. Am 1. April 1471 verschrieb sich nämlich der Herzog Heinrich „seinem Rathe Sivert v. Oertzen zu Roggow von seines seligen „Sohnes Hermann wegen" auf 88 rheinische Goldgulden, welche dieser dem Herzoge schuldig geblieben war [CCLXV]. Im J. 1479 wird auch ein dritter Sohn Hans genannt [CCLXXXIX].

Um diese Zeit trat für die Linie Roggow das bedeutsame Ereigniß ein, daß die Güter des Hauses Clausdorf-Garwensdorf an das Haus Roggow übergingen, in dessen Besitze sie fortan erscheinen; mochten die Güter auch stark verschuldet und zersplittert sein, so hoben sie sich durch die größere Macht des Hauses Roggow, welches theils in sich reicher war, theils in den folgenden Zeiten sich durch reiche Heirathen stärkte, doch nach und nach bedeutend und bildeten einen wichtigen Theil der v. örtzenschen Besitzungen. Hans v. Oertzen, der letzte des Hauses Clausdorf-Garwensdorf, hatte schon um das Jahr 1474 seine Rechte an den altväterlichen Lehngütern an die Linie Roggow abgetreten und sich auf einen Bauerhof zu Neuendorf zurückgezogen. Schon im J. 1477 erscheint Siverts II. ältester Sohn, der „junge Sivert", als Besitzer von Clausdorf [CCLXXXVI] bis zum J. 1482. Hans v. Oertzen lebte zu Neuendorf zwar noch im J. 1493 [CCCIX], wird aber bald darauf gestorben sein und seine Lehnrechte auf die Linie Roggow vererbt haben.

In den letzten Jahren seines Lebens und mit dem selbstständigen Auftreten seiner Söhne zog sich Sivert II. mehr und mehr von dem öffentlichen Leben zurück und wird fast nur in eigenen Angelegenheiten genannt. Am 14. Nov. 1472 lieh er dem Knappen Hans v. Bibow auf Westenbrügge 100 lüb.

Mark, wofür er 8 Mark jährlicher Pacht aus Jörnsdorf zu Pfande nahm [CCLXVIII], und am 29. März 1475 verpfändeten ihm die Brüder Heidenrich und Helmold v. Bibow auf Westenbrügge 16 Mark jährlicher Pacht aus demselben Dorfe für eine Anleihe von 200 lüb. Mark [CCLXXIX]. Am 5. Februar 1473 erscheint er als Lehnherr des Kruges zu Alt-Bukow [CCLXIX] und am 2. Dec. 1475 als Zeuge bei dem Verkaufe des Gutes Bartelshagen von den Vettern v. Bieregge auf Wokrent und Rossewitz an das Kloster Ribnitz [CCLXXXII].

Am 20. Januar 1474 wird er zuletzt herzoglicher Rath genannt [CCLXXVI]. Ausnahmsweise trat er noch am 17. Sept. 1475 mit sehr vielen Männern der meklenburgischen Ritterschaft als Bürge ein, als der Herzog Heinrich mit seinen Söhnen, den Herzogen Albrecht, Magnus und Balthasar, die Prinzessin Magdalene von Meklenburg-Stargard an den Herzog Wartislav von Pommern verheirathete und ihr die Mitgift versicherte; Sivert II. wird in dieser Urkunde als einer der ersten nach den Rittern aufgeführt [CCLXXXI], woraus sich auf ein hohes Alter desselben schließen läßt.

Der Herzog Heinrich von Meklenburg, unter welchem Sivert II. so viele Jahr lang als treuer Rathgeber gewirkt hatte, starb am 9. März 1477, und unter der hervorragenden Regierung seines Sohnes Magnus begann ein neues, kräftigeres Regiment. Dennoch erscheint Sivert II. noch einmal in öffentlichem Dienst bei einer wichtigen und feierlichen Gelegenheit, als der junge Herzog Magnus am 5. Junii 1478 seiner Gemahlin Sophie von Pommern das Leibgedinge verschrieb [CCLXXXVIII]. Siverts II. Verdienste um das Land und das Fürstenhaus unter einem nicht starken Fürsten hatten die ersprießlichen Folgen, daß unter dessen kräftigerm Sohne und Nachfolger Siverts Söhne in nähere Beziehungen zu dem Fürstenhause traten; schon im J. 1488 war sein ältester Sohn Landrath.

Siverts Leben neigte sich immer mehr zu Ende. Am 28. März 1479 stellte er mit seinen beiden Söhnen Sivert und Hans ein Zeugniß für das Kloster Tempzin aus

[CCLXXXIX]. Am 1. Mai 1481 wird er zuletzt als der „alte Sivert zu Roggow" aufgeführt, als er von Johann v. Pleſſen den Krug zu Alt-Bukow kaufte [CCXCI]. Er wird nicht lange darauf geſtorben ſein; am 24. Junii 1482 wird ſein Sohn Sivert noch der „junge Sivert" genannt [CCXCIII], ein Beweis, daß damals Sivert II. der ältere noch lebte. Seit dieſer Zeit wird aber der alte Sivert II. nicht wieder genannt und ſein Sohn Sivert III. nicht mehr mit dem Beinamen des „jungen" belegt, ſicher ſeit dem J. 1486 nicht mehr. Als am 25. Nov. 1493 Drewes und Otto v. Jeſewitz an Sivert III. den Hof Volland und zwei Katen zu Neu-Karin verkauften, war der alte Sivert II. ſchon todt: „olde „Siuert van Ortzen dem godt gnedich si" [CCCX].

Was die Siegel Siverts II. betrifft, ſo führte derſelbe zwei verſchiedene Siegel. Sivert II. führte während ſeines Lebens das Siegel ſeines gleichnamigen Vaters Sivert I.: ein rundes Siegel mit einem großen ſtehenden Schilde, auf welchem zwei Arme dargeſtellt ſind, welche einen ziemlich großen Ring halten, ohne Helm, mit der Umſchrift:

**s. ſivert ✠ van ✠ ortzen ✠ ✠**

Dieſes Siegel gebraucht Sivert II. ſchon im J. 1446, als ſein Vater auf der Wallfahrt nach dem Gelobten Lande war, ferner in den Jahren 1461 und 1464, und zuletzt noch am 17. Sept. 1475 an der Brautſchatzverſchreibung der Prinzeſſin Magdalene von Meklenburg-Stargard. Neben dieſem Siegel führte er am 13. Dec. 1462 ein anderes rundes Siegel mit einem rechts gelehnten geradſeitigen oder ſogenannten franzöſiſchen Schilde unter einem Helme, mit der auf einem in Falten umhergelegten Bande ſtehenden Umſchrift:

**s. ſivert. va. | ortſe.**

Dieſes Siegel unterſcheidet ſich theils durch die Schildform, theils durch die Umſchrift wieder von den Siegeln ſeines Sohnes Sivert III.

Siverts II. Gemahlin war Margarethe v. Flotow aus dem Hauſe Stur. Am 16. Februar 1464 verſchrieb Sivert II. ſeiner Gemahlin Margarethe das Leibgedinge [CCXLIII]. Daß ſie aus der Familie v. Flotow geboren

war, geht daraus hervor, daß Siverts II. Söhne Jaspar und Lippold v. Oertzen am 6. Oct. 1513 alle v. Flotow auf Stur „von wegen ihrer Mutter Erbe" belangen. Und hiemit stimmt auch die Ahnentafel überein, welche die Mutter Jaspars eine v. Flotow nennt. Wahrscheinlich überlebte Margarethe, aus der noch spät angebrachten Klage ihrer Söhne zu schließen, ihren Gemahl, wie lange, ist ungewiß.

---

Die Kinder und nächsten männlichen Nachkommen Siverts II. v. Oertzen, des Stammhalters der ganzen Linie Roggow, so wie deren Frauen bedürfen einer sehr genauen und gründlichen Forschung, da grade die Zeit, in welcher sie leben, für die ganze Familiengeschichte von der größten Wichtigkeit ist. Und grade hier ist für einen Zeitraum von mehr als hundert Jahren der bisherige Stammbaum im höchsten Grade verwirrt und an vielen Stellen durchaus falsch. Die Veranlassung zu dieser Verwirrung liegt theils sowohl in dem bisherigen Mangel an veröffentlichten Urkunden, als in dem Mangel an Nachrichten aus der ersten Hälfte des 16. Jahrhunderts überhaupt, theils in der Erscheinung, daß von der Mitte des 15. Jahrhunderts an der Name Sivert in der Familie ungemein häufig vorkommt und die Personen dieses Namens sich bisher sehr schwer von einander haben scheiden lassen. In manchen Stammbäumen sind mitunter zwei Personen dieses Namens in eine zusammengezogen, oft ist eine ganz übergangen; die Söhne sind oft fälschlich Vätern zugetheilt, welchen sie nicht gehören, und oft haben Väter Söhne erhalten, welche ihnen nicht gebühren. Die Verwirrung ist so groß, daß sie sich kaum klar darstellen läßt. Der Hofmarschall v. Oertzen von Roggow hat dies Alles sehr wohl gefühlt und verschiedene Versuche gemacht, den roggower Stammbaum in Ordnung zu bringen; aber es hat ihm aus Mangel an ausreichenden Nachrichten kein Versuch ganz glücken wollen, wenn er auch hin und wieder die Wahrheit getroffen hat. Es wird daher nöthig sein, die Beweise der richtigen Abstammung vollständig beizubringen, so weit dies irgend möglich ist.

Eine der wichtigsten Quellen für die Geschichte des 15. und 16. Jahrhunderts ist die

## Ahnentafel,

welche mehreren Leichenreden über verschiedene Personen der Linie aus der ersten Hälfte des 17. Jahrhunderts beigegeben ist und theilweise bis gegen die Mitte des 15. Jahrhunderts zurückreicht. Alle verschiedenen Ausgaben stimmen mit einander überein und können, da sie theilweise von Urkundenbeweisen unterstützt werden, gerechten Anspruch auf Glaubwürdigkeit machen. Es sind vorzüglich die in den Leichenreden enthaltenen Ahnentafeln des Claus v. Oertzen auf Gorow † 1638, der Abel v. Oertzen, Jürgen's Tochter, † 1651, der Margarethe v. Oertzen, Jürgen's Tochter und Hans Heinrich's v. Bülow Gemahlin, in der Leichenrede auf dessen Sohn Hartwig v. Bülow, † 1685, des Jaspar v. Oertzen, Drosten zu Pinneberg, † 1657. Die Ahnentafeln der Mütter sind natürlich verschieden. Die v. örtzensche Ahnentafel für das Haus Roggow stimmt aber von Jaspar II. v. Oertzen auf Roggow, † 1618, an aufwärts in allen Exemplaren überein und giebt den Beweis, daß der Stammhalter der Linie Roggow im Anfange des 16. Jahrhunderts Jaspar I. war, daß also die bisherigen Stammtafeln falsch sind. Vorzüglich wichtig ist aber die hier beigegebene Ahnentafel des Jaspar v. Oertzen auf Gerdshagen, † 1657, welche die v. örtzenschen Ahnen noch zwei Generationen höher hinaufführt, als alle anderen Ahnentafeln und dadurch zu einer wichtigen Geschichtsquelle wird. Wenn auch die letzten mütterlichen Ahnen nicht ganz sicher ermittelt und lückenhaft sein sollten, so sind doch die v. örtzenschen Ahnen völlig sicher.

# Ahnentafel

**des Jaspar von Oertzen**

aus dem Hauſe Roggow,

**Droſten zu Pinneberg,**

† 25. Dec. 1657,

aus

deſſen gedruckter Leichenrede

vom Jahre 1658.

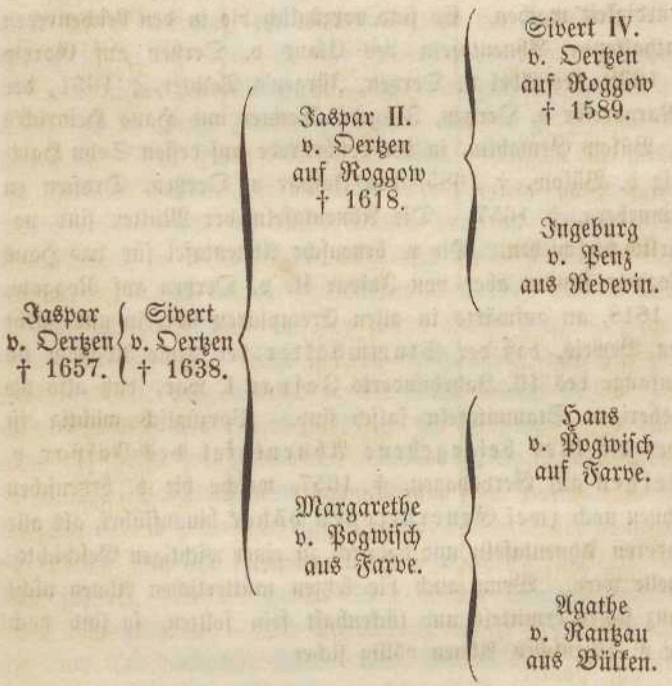

| | | | |
|---|---|---|---|
| | | | (Sivert I.) v. Oertzen † 1449. v. Buchwald aus Nipersdorf. |
| Jaspar I. v. Oertzen auf Roggow † 15(27). | (Sivert II.) v. Oertzen † (1481). | v. Flotow aus Stur. | v. Flotow. v. Penz. |
| Emerentia v. Buchwald aus Müggesfelde. | v. Buchwald. | v. Sehstedt. | |
| Ulrich v. Penz auf Bandekow. | v. Penz. | v. Rantzau. | |
| Abel v. Rantzau aus Bülken. | v. Rantzau. | v. Ahlefeld. | |
| Heinrich v. Pogwisch auf Farve. | v. Pogwisch. | v. Rantzau. | v. Pogwisch. v. Rantzau. v. Rantzau. v. Sehstedt. |
| Anna v. Rantzau aus Holstein. | v. Rantzau. | v. Hummesbütel. | |
| Otto v. Rantzau auf Panker. | | | |
| Anna v. Breide aus Nübel. | | | |

Sivert II. hatte wahrſcheinlich wenigſtens 9 Kinder: 6 Söhne und 3 Töchter, ſo weit ſich die Töchter muthmaßlich erforſchen laſſen. Bisher ſind 3 Söhne angegeben: Jaſpar, Lippold und Sivert. Aber abgeſehen davon, daß Sivert der ältere von dieſen dreien war, hatte Sivert II. ſicher ſechs Söhne in dieſer Folge: Hermann, Sivert, Hans, Hermann, Jaſpar und Lippold. Hier tritt nun zuerſt der merkwürdige Umſtand ein, daß Sivert II. zwei Söhne Namens Hermann hatte; es wird dieſe Erſcheinung in alter Zeit allerdings auch in anderen Geſchlechtern wahrgenommen (vgl. Liſch Geſchichte des Geſchlechts Hahn II, S. 21). Der erſte Hermann wird am 1. April 1471 ausdrücklich des Raths Sivert II. Sohn („Syverd van Ortzen van seligen Herman van Ortzen sines sones weghen") [CCLXV] und am 21. Februar 1467 ein Bruder Sivert's III. („Hermen und Siverd brodere geheten de Ortzen to Rogghouw") [CCLI] bei Lebezeiten des Vaters genannt. Aber dieſer Hermann ſtarb früh in mündigen Jahren vor dem Vater, vor dem 1. April 1471, und Sivert III. ward durch dieſen Todesfall der ältere lebende Sohn Siverts II. Am 28. März 1479 nennt Sivert II. ſeine beiden Söhne Sivert III. und Hans („myne beyden zones Syverd unde Hans") [CCLXXXIX]. Aber auch Hans wird früh geſtorben ſein, da er nur dies eine Mal und nicht weiter genannt wird. Nach dem Tode der Söhne Hermann und Hans bei Lebezeiten des Vaters werden nun die Aeltern den zunächſt geborenen Sohn mit dem eigenthümlichen v. örtzenſchen Familiennamen wieder Hermann genannt haben, ſei es, daß dies ſchon früh nach dem Tode des erſten Hermann der Fall war, ſei es, daß Sivert II., was nicht unwahrſcheinlich iſt, zwei Frauen hatte und das erſte Kind ſeiner zweiten Frau wieder mit dem Namen Hermann belegte, um ſo mehr, da die beiden jüngſten Söhne Jaſpar und Lippold ihre Aeltern und älteren Brüder ſehr lange überlebten. Wenn aber Sivert II. zwei Frauen hatte, ſo iſt in der Ahnentafel deshalb nur die zweite genannt, weil ſie die Mutter des Stammhalters Jaſpar war. Der jüngere Hermann ſtarb aber auch früh und wird nur in der Zeit 1500—1503, meiſt mit ſeinem Bruder Jaſpar

zuſammen, z. B. am 25. Jan. 1503 „Hermen und Jasper van Ortzen brodere to Hermenshagen“, genannt. Die drei die andern überlebenden Brüder Sivert, Jaſpar und Lippold werden aber am 31. October 1505 ausdrücklich Brüder genannt: „Syverdt, Jaspar unnd Lyppolt gebrodere van Ortzen tho Roggow“. Sivert III. ſtarb nach dem J. 1506 und vor dem J. 1512. Die beiden jüngſten und zugleich beerbten Brüder Jaſpar und Lippold werden aber noch längere Zeit hindurch häufig Brüder genannt.

Es iſt alſo keinem Zweifel unterworfen, daß Sivert II. v. Oertzen 6 Söhne hatte: Hermann, Sivert, Hans, Hermann, Jaſper und Lippold.

Die Töchter Siverts II. waren wahrſcheinlich, obgleich ſich keine einzige als ſolche mit Sicherheit nachweiſen läßt, Katharine, an Volrath Sperling, eine ungenannte, an Mathias v. Bredow vermählt, und eine unvermählt im Kloſter Rühn.

Die Kinder Siverts II. waren alſo:

| | | |
|---|---|---|
| 16. Hermann V. | 17. Sivert III. | 18. Hans II. |
| 19. Hermann VI. | 20. Jaſpar I. | 21. Lippold II. |
| 22. Katharine. | 23. Tochter N.N. | 24. Anna. |

## 15.

## Siverts I. Tochter N. N.,

### Gemahlin Hardenacks von Bibow.

### 1508.

§. 50. G. VIII.

Die von Bibow waren im Mittelalter vielfach mit den von Oertzen verſchwägert, ſo viel ſich aus einzelnen zerſtreuten Andeutungen entnehmen läßt. Am 8. Junii 1508 wird Hardenack v. Bibow auf Weſtenbrügge „Oheim“ des Lippold v. Oertzen genannt; alſo hatte v. Bibow wahrſcheinlich eine

v. Oertzen zur Ehe oder zur Ehe gehabt, da ſich kein anderes Verwandtſchaftsverhältniß errathen läßt.

---

## 16.
## Hermann V., Knappe.
### 1467—1470.

§. 51. G. IX.

Siverts II. v. Oertzen auf Roggow älteſter Sohn war Hermann V., welcher nur wenige Jahre während des Lebens ſeines Vaters erſcheint. Zuerſt tritt er mit ſeinem nächſt folgenden Bruder Sivert III. am 21. Febr. 1467 auf, als beide („Hermen und Siverd brodere geheten de Ortzen to Rogghouw") für den Herzog Heinrich als Bürgen für eine Anleihe von 160 Goldgulden eintraten [CCLI]; beide Brüder, welche in dem J. 1467 zuerſt wiederholt auftreten, hatten alſo damals ſchon ihre ſelbſtſtändige Wirthſchaft neben ihrem Vater auf dem Gute Roggow. Hermann muß ſchon damals einen geſicherten Wohlſtand gehabt haben, da er nicht allein für den Herzog annehmbare Bürgſchaft leiſten, ſondern auch demſelben am 27. Febr. 1467 die Summe von 200 lüb. Mark leihen konnte [CCLII]. Am 11. Jan. 1470 trat er wieder für den jungen Herzog Magnus für 100 Mark in Bürgſchaft [CCLXI]. Dies iſt aber ſeine letzte Handlung; denn am 1. April 1471 war er ſchon todt. Am 1. April 1471 bekannte nämlich der Herzog Heinrich, daß er „ſeinen Rath Sivert v. Oertzen von ſeligen Hermanns v. Oertzen ſeines Sohnes wegen" („unseme rade Syverde van Ortzen van seligen Herman van Ortzen sines sones weghen") 88 Goldgulden ſchuldig ſei [CCLXV]; woher dieſe Schuld des Herzogs ſtammte, ob aus der am 21. Februar 1467 übernommenen und erfüllten Bürgſchaft, oder aus einer neuen Anleihe, läßt ſich nicht erkennen. Das iſt aber gewiß, daß Sivert II. ſchon am 1. April 1467 ſeinen in der Blüthe ſeiner männlichen Jahre ſtehenden älteſten Sohn Hermann durch den Tod verloren hatte. Dieſes

Ereigniß muß in dem Hause eine tief ergreifende Wirkung gehabt haben, da der Vater einem später gebornen Sohne ebenfalls den Namen Hermann gab, so daß Sivert II. zwei Söhne des Namens Hermann hatte. Denn eben so gewiß es ist, daß Sivert II. in der Zeit 1470 -71 einen Sohn Hermann verloren hatte, eben so sicher ist es, daß ein anderer Sohn desselben Namens Hermann im Anfange des 16. Jahrhunderts selbstständig erscheint. Von dem Familienleben Hermanns V. ist nichts bekannt geworden.

## 17.
## Sivert III., Knappe.
### 1467—1506.

§. 52. G. IX.

Der zweite Sohn des Raths Sivert II. v. Oertzen auf Roggow war Sivert III., welcher mit seinem ältern Bruder Hermann V. seit dem Jahre 1467 neben dem Vater selbstständig zu Roggow wohnte. Er erscheint zuerst am 21. Febr. 1467, als er mit seinem Bruder Hermann für den Herzog Heinrich eine Bürgschaft für 160 Goldgulden gegen Jürgen v. Grabow zu Goldberg übernahm [CCLI]. Seit dieser Zeit wird er bis in das Jahr 1482 immer „der junge Sivert v. Oertzen" genannt, um ihn von seinem Vater während dessen Lebens zu unterscheiden.

Sivert II. entwickelt während seines Lebens eine große Thätigkeit und war, nachdem sein älterer Bruder Hermann um 1471 und sein Vater gestorben waren, lange Zeit hindurch das Oberhaupt des Hauses.

In den ersten Jahren seiner Wirksamkeit wohnte Sivert III. zu Roggow [CCLI] und scheint den Herzogen von Meklenburg als Kriegsmann und in auswärtigen Angelegenheiten gedient zu haben. Im J. 1467 war er an der Fehde zwischen den Herzogen Heinrich von Schwerin und Ulrich von Stargard betheiligt und hatte nach dem ersten Vertrage vom 8. Junii

1467 [CCLIV] dabei ein Pferd verloren; am 20. Jan. 1468 war er bei der Verhandlung, als Dietrich v. Plessen, dessen Gewaltthätigkeit die Veranlassung zu diesem Unfrieden gewesen war, von den Herzogen von Mecklenburg-Schwerin gegen ein großes Lösegeld aus seiner Gefangenschaft entlassen ward [CCLVII]. Nachdem Siverts älterer Bruder Hermann vor dem 1. April 1471 gestorben war [CCLXV], war Sivert III. der älteste Sohn im Hause Roggow. Am 22. April 1472 war Sivert III. bei der Eheberedung zwischen dem jungen Herzoge Johann von Mecklenburg und der Herzogin Sophie von Pommern zu Demmin [CCLXVII]; die Vermählung kam jedoch nicht zu Stande, da der junge Herzog auf einer Wallfahrt ins Heilige Land, die er mit seinem Bruder Magnus unternahm, seinen Tod fand: die Braut ward späterhin dem Bruder des verstorbenen Bräutigams, dem wackern Herzoge Magnus, vermählt. Auch zu dem Bestreben, den Herzog Balthasar von Mecklenburg zum Bischofsstuhle von Hildesheim zu verhelfen, war Sivert III. thätig. Der junge Herzog Balthasar war zwar zum Administrator des Bisthums postulirt, mußte jedoch nach kriegerischen Kämpfen, die sein älterer Bruder Magnus führte, dem Bisthume entsagen; bei den kriegerischen Bewegungen im J. 1473 war sicher auch Sivert III. v. Oertzen betheiligt, da er sich am 26. Julii 1473 für 1000 Goldgulden gegen den hildesheimschen Dompropst Eggert von Wenden, der den Herzog zum Stifte befördern wollte, verbürgen sollte [CCLXX]. Die Herzoge von Mecklenburg kamen durch solche Unternehmungen in Geldverlegenheiten und konnten z. B. die von dem Herzoge Johann von Sachsen-Lauenburg geliehenen 1100 lübischen Mark zur Verfallzeit nicht wieder zurückzahlen und mußte sich deshalb am 14. Nov. 1473 aufs neue mit Bürgen verschreiben, unter denen auch Sivert v. Oertzen war [CCLXXI], welcher sich nach allen diesen Anzeichen lebhaft an den vaterländischen Bewegungen jener Zeit betheiligte. So viel geht aber aus allen diesen Andeutungen hervor, daß Sivert, selbst im jugendlichen Mannesalter stehend, sich den jungen Herzogen anschloß, während deren Vater Heinrich „der Dicke" schon schwach und hinfällig ward, auch

nie geistesstark gewesen war. Ob Sivert mit den jungen Herzogen Johann und Magnus den Zug ins Heilige Land im J. 1474 mitgemacht hat, läßt sich aus Mangel an Nachrichten nicht bestimmen; jedoch ist es nicht unwahrscheinlich, da Sivert nicht allein den jungen Herzogen nahe stand, sondern auch wohl Sehnsucht haben mochte, die heilige Stätte zu sehen, wo sein Großvater Sivert I. im J. 1449 begraben war; vielleicht läßt sich seine Theilnahme auch daraus schließen, daß Sivert III. in der Zeit vom 14. Nov. 1473 bis 1. März 1476 nicht genannt wird. Am 1. März 1476 verbürgte sich Sivert für den jungen Herzog Magnus für 100 Goldgulden gegen Curd Sperling und dessen Brüder [CCLXXXIII].

Bald traten jedoch im häuslichen Leben Siverts und im meklenburgischen Staatsleben bedeutende Veränderungen ein. Um das J. 1475 trat das v. örtzensche Haus Clausdorf-Garwensdorf kurz vor seinem Aussterben seine Güter an das Haus Roggow ab, welches dieselben auch am Ende des 15. Jahrh. durch Heimfall erbte. Nach der Erwerbung dieser Güter trat Sivert II. seinem ältesten Sohne Sivert III. das Gut Clausdorf zum Wohnsitze ab, und Sivert III. wird eine Zeit lang „der junge Sivert von Oertzen zu Clausdorf" genannt. Auch der alte, schwache Herzog Heinrich segnete am 9. März 1477 das Zeitliche und sein Sohn Magnus ergriff mit kräftiger Hand das Staatsruder, welchem bald Sivert v. Oertzen wirksam zur Seite stand, während späterhin Siverts jüngere Brüder Jaspar und Lippold viel im Gefolge der Söhne dieses Herzogs waren.

Am 26. Dec. 1477 bürgte Sivert III. für 100 Goldgulden für den Herzog Balthasar [CCLXXXVI], welcher inzwischen mit dem Bisthume Schwerin versorgt war, und am 28. März 1479 nennt der alte „Sivert II. zu Roggow seine beiden Söhne Sivert und Hans" [CCLXXXIX], von denen Hans nur dies eine Mal vorkommt. Bald starb jedoch auch der Vater Sivert II.; er wird zuletzt am 1. Mai 1481 als der „alte Sivert" aufgeführt [CCXCI], und sein Sohn Sivert III. wird am 24. Junii 1482 zuletzt der „junge Sivert auf Clausdorf" genannt. Sivert II. wird also um das Jahr

1482 gestorben sein und seinen Söhnen, mit seinem ältesten Sohne Sivert III. an der Spitze, das väterliche Erbe im Reichthume hinterlassen haben.

Sivert III. trat gleich nach seines Vaters Tode in dessen Fußstapfen in der öffentlichen Wirksamkeit, indem er seinem Vater in der Würde eines Landraths folgte. Am 2. Mai 1488 erscheint er zuerst als solcher, als die Herzoge von den Maltzan auf Grubenhagen die Beweise für das zwischen ihnen und den v. Levetzow streitig gewordene Erblandmarschallamt des Landes Wenden forderten [CCXCVI]. Sivert III. wird bis zu seinem Tode von den Herzögen ihr „Rath" genannt. Am 20. Mai 1491 war er unter den „weltlichen Räthen" der Herzoge, als sie sich mit der Stadt Rostock wegen der Errichtung des Dom-Capitels verglichen [CCC], und am 30. Dec. 1491 saß er in einem landständischen Schiedsgerichte unter den weltlichen Räthen der Herzoge über den Streit der Herzoge mit den Maltzan über mehrere Gerechtsame [CCCII].

Seit dieser Zeit erscheint Sivert III. v. Oertzen als „zu Berenshagen wohnhaft". Das Gut Berenshagen war ein altes Lehn der Familie von Bibow, mit welcher die v. Oertzen, welche in ihrer Nähe wohnten, wie es scheint, vielfach verschwägert waren, ohne daß sich dies grade nachweisen läßt.

Ohne Zweifel hatten die v. Oertzen auf Roggow dieses Gut von den v. Bibow zum nießbräuchlichen Pfande in Besitz, da dieser nur ein vorübergehender war und eine Erwerbung sich durch nichts nachweisen läßt. Noch im J. 1462 wohnte Arnd v. Bibow zu Berenshagen; von 1489 bis 1498 erscheint Sivert III. als zu Berenshagen „gesessen" (boseten) [CCXCIX] und „wohnhaft" (wanhaftich) und im Anfange des 16. Jahrh. folgten ihm seine jüngeren Brüder Jaspar (1503) und Lippold (1508—1520) im Besitze dieses Gutes. Darauf waren die v. Bibow wieder lange Zeit im Besitze ihres Erblehns, bis sie es im J. 1618 an Barthold v. Lützow auf Panzow erblich verkauften. Es leidet also keinen Zweifel, daß Berenshagen nur ein vorübergehender Pfandbesitz der v. Oertzen auf Roggow war.

Sivert III. wird ein bedeutendes Vermögen gehabt haben, da er bald darauf auch im Pfandbesitze des bischöflich-schweriu-

schen Stiftslehns und Gutes Zibühl erscheint. Dieses Gut hatte er von seinem „Schwager" Heinrich v. Bülow auf Prützen und Zibühl zu Pfande", wie dieser am 18. April 1492 ausdrücklich selbst schreibt [CCCV]. Vom 25. Mai 1492 [CCCVI] bis in das Jahr 1499 kommt häufig „Sivert v. Oertzen zu Zibühl" vor, während er daneben zu gleicher Zeit oft auch als „zu Berenshagen wohnhaft" aufgeführt wird. Seit dem Jahre 1520 erscheint Heinrich v. Bülow wieder auf Zibühl als Lehnmann des Bisthums Schwerin, und die v. Bülow blieben im Besitze des Gutes, bis sie es im J. 1621 an den Stifts-Administrator Prinzen Ulrich von Dänemark verkauften (vgl. Jahrb. XXIII, S. 38).

Auch den Hof Bolland mit zwei Katen zu Neu-Karin hatte Sivert III. von seinem verstorbenen Vater her von der Familie v. Jesewitz in Pfandbesitz. Sivert kaufte denselben aber am 25. Nov. 1493 zum erblichen Besitze von den Vettern Drewes und Otto v. Jesewitz [CCCX] und am 19. Jan. 1515 wurden Siverts Brüder Jaspar und Lippold nach dem Aussterben der Familie v. Jesewitz von den Herzogen endlich damit belehnt, nachdem die Herzoge lange irrthümlich behauptet hatten, daß Sivert III. das Gut nur pfandweise erworben habe.

Am 6. Febr. 1492 löseten dagegen die Herzoge von Sivert III. die Beden von Passee, Berenshagen, Pustohl, Gerdeshagen und Hanshagen wieder ein, welche Sivert II. von dem Herzoge Heinrich zu Pfande genommen hatte [CCCIII].

So wie Sivert III. sich seit dem J. 1473 an den Angelegenheiten des Herzogs Balthasar lebhaft betheiligt hatte, so lieh er demselben am 24. Febr. 1493 die Summe von 200 Mark [CCCVIII]. Sivert v. Oertzen wird in dieser Urkunde ausdrücklich als „zu Zibühl wohnhaft" aufgeführt. Am 8. Nov. 1494 war er Zeuge bei einer Verpfändung seines „Vetters" Mathias v. Oertzen auf Wustrow [CCCXI], welcher ihn als „zu Berenshagen" gesessen bezeichnet. Diese und ähnliche Anleihen, welche die v. Oertzen den Herzogen machten, und manche für dieselben erlittenen Verluste und „Pferdeschäden" wurden lange Zeit hindurch nicht wieder erstattet, bis endlich die Herzoge sie dafür am 19. Jan. 1515 mit dem

heimgefallenen Lehn Bolland belehnten, welches ſie doch 1493 erblich gekauft hatten.

Bei herannahendem Alter erſcheint Siwert III. immer weniger und gewöhnlich nur in wichtigern öffentlichen oder in Familien-Angelegenheiten thätig. Am 5. Oct. 1497 ward er („Siverd van Ortzen to Zebule") mit andern „Räthen" der Herzoge („unsen leven reden unde getruwen") abgeordnet, die Streitigkeiten zwiſchen dem Kloſter Marienehe und den Bauern zu Broderſtorf zu ſchlichten, und am 14. Febr. 1499 war er mit den übrigen Räthen Richter in dieſer Sache. Am 24. Mai 1499 trat er mit andern Edelleuten für den Herzog Heinrich von Meklenburg als Bürge auf, als dieſer von dem Herzoge Friedrich von Holſtein und Schleswig 2000 Goldgulden lieh [CCCXVII]; der junge Herzog Heinrich (der Friedfertige), der älteſte Sohn des Herzogs Magnus, ſtand ſchon ſeit dem J. 1495 mit vielen Pferden im Dienſte des Kaiſers Maximilian, in welchen ihn 1496 auch Siwerts III. jüngſter Bruder Lippold v. Oertzen begleitete. Der Dienſt mit einer großen Anzahl von Pferden erforderte bedeutenden Aufwand und der Kaiſer war ſäumig in der Zahlung des Soldes; daher kam der junge Herzog häufig in große Verlegenheiten, denen er nur durch Anleihen abhelfen konnte. So z. B. mußte er auch am 13. März 1498 von dem aus dem Gelobten Lande heimkehrenden Herzoge Bugislav X. von Pommern 500 Goldgulden leihen. Am 11. März 1499 war der Herzog Heinrich zum Beſuche in Meklenburg und zu Doberan und daher wird er auch wohl noch am 24. Mai 1499 in der Heimath geweſen ſein, als er von dem Herzoge Friedrich von Holſtein die Anleihe machte. Durch dieſen Dienſt beim Kaiſer kam das herzogliche Haus Meklenburg in viele Verlegenheiten, indem aus dem vieljährigen Dienſt bei dem Kaiſer viel Sold rückſtändig blieb, wofür das herzogliche Haus am Ende die bekannte Anwartſchaft auf die halbe Landgrafſchaft Leuchtenberg erhielt (vgl. Liſch, Maltzan. Urk. IV, S. 314 flgd.)

Bald nach dem Jahre 1500 erſcheint Siwert III. wieder „zu Roggow" ſei es, daß damit im Allgemeinen ſein Hauptlehn bezeichnet werden ſollte, ſei es, daß ihm das Gut Zibühl

wo er zuletzt gerne gewohnt zu haben scheint, wieder abgelöset ward. Am 18. Julii 1501 wohnte er wieder zu Roggow, als er unter einer großen Anzahl meklenburgischer Edelleute für das Leibgedinge der Gemahlin des Herzogs Balthasar, für den er so oft gewirkt hatte, in Bürgschaft trat [CCCXIX]; auch am 6. Julii 1502 werden Sivert und Hermann „zu Roggow" als „Vettern" des Mathias v. Oertzen zu Wustrow aufgeführt [CCCXXII].

Am Ende seines Lebens scheint sich Sivert III. mehr den Städten zugewandt zu haben; leider sind die Urkunden hierüber nicht ganz sicher. Als er am 8. Febr. 1502 Zeuge war, als Henneke Bassewitz zu Gr. Lukow das halbe Dorf Gr. Stove an das Karthäuserkloster Marienehe verpfändete, wird er als „zu Bützow" wohnhaft aufgeführt [CCCXXI]; leider ist die Urkunde nur in einer sehr schlechten Abschrift vorhanden. Aber es scheint auch eine andere Urkunde hiefür zu reden: im J. 1504 hatten die Brüder Waldemar und Heinrich v. Moltke zu Neuenkirchen von dem Kloster Rühn 50 Mark geliehen und diese Summe in dem Dorfe Belitz versichert. Diese Urkunde hatten Sivert von Oertzen und Hartwig Parum, „Rathmanne" zu Bützow, mit besiegelt [CCCXXVI]. Hierüber ist die Urkunde selbst nicht mehr, sondern nur eine gleichzeitige Nachricht vorhanden; nach dieser Aufzeichnung scheint der Titel Rathmann auch auf Sivert v. Oertzen bezogen werden zu müssen; jedenfalls scheint Sivert v. Oertzen wenigstens in Bützow gewohnt zu haben. Es ist auch nicht unwahrscheinlich, daß Sivert in Bützow wohnte: er war von dem Gute Ravensberg Lehnmann der Bischöfe von Schwerin, deren Hauptresidenz zu Bützow war; in Bützow war zu jener Zeit, in den letzten Jahren des Bischofs Conrad Loste, ein ungewöhnlich reges Leben für die kirchliche Kunst, wovon noch viele ausgezeichnete Werke in der Kirche zu Bützow und in den Landkirchen umher ein redendes Zeugniß geben, und auch der Herzog und Bischof Balthasar, dem Sivert nahe stand, hatte sich kurz vorher um die Kirche zu Bützow bemühet; Sivert v. Oertzen hatte kurz vorher eine Zeit lang gerne auf dem Gute Zibühl gewohnt, welches ganz nahe bei der Stadt Bützow liegt; es war also

nicht unwahrſcheinlich, daß er Liebe zu der Biſchofsſtadt und das Vertrauen der Bürgerſchaft beſaß. Es war auch in jenen Zeiten nicht ungewöhnlich, daß Glieder angeſehener, alter Adelsgeſchlechter Burgemeiſter- und Rathmannsſtellen in den Landſtädten bekleideten; zu derſelben Zeit, im J. 1505, war z. B. auch der ohne Zweifel mit Sivert v. Oertzen genau bekannte Burchard von der Lühe auf Vogelſang erbgeſeſſen Burgemeiſter der nahe bei Bützow gelegenen Stadt Sternberg. Einen Beweis für Siverts v. Oertzen Stellung zu den Landſtädten giebt auch die Erſcheinung, daß er am 31. Oct. 1505 ein „älteſter und vollmächtiger Bruder des Kalandes in der Stadt Neu-Bukow" war [CCCXXVII], in deren Nähe ſein Stammlehngut Roggow lag.

Zu derſelben Zeit war Sivert v. Oertzen auch am Ende ſeines Lebens lebhaft um die Stiftung großer kirchlicher Feierlichkeiten bemüht, welche im Anfange des 16. Jahrh., in den letzten Jahren vor der Reformation, überall als die letzte Regung zum Beſſern von angeſehenen Laien ins Leben gerufen wurden, freilich ohne durch ſolche Aeußerlichkeiten den Einſturz des morſchen Gebäudes halten zu können. In Wismar hatte im J. 1500 der Ritter Heinrich v. d. Lühe auf Buſchmühlen und ſeine Gemahlin Beate große Marienzeiten in der Marienkirche geſtiftet, welche Beate nach ihres Mannes Tode ſorgſam und treu pflegte, indem ſie z. B. zu dieſer Stiftung am 14. Jan. 1503 jährlich 24 Mark Pacht aus dem Dorfe Blengow zur Bekleidung von zwölf Armen an jedem Grünen Donnerſtage ſchenkte [CCCXXIV]; als Mathias v. Oertzen auf Buſtrow ihr aus Gr. Eixen am 6. Julii 1502 noch 17½ Mark Pacht zum Beſten dieſer Marienzeiten verpfändete, waren „ſeine Vettern" Sivert und Hermann v. Oertzen „zu Roggow" Zeugen dieſer Verſchreibung [CCCXXII]. Im J. 1502 ſtiftete der Ritter Heinrich v. Pleſſen zu Brüel in der Kirche zu Brüel tägliche Meſſen zu Ehren des Heiligen Kreuzes. In demſelben Geiſte traten im J. 1505 die adeligen Patrone von ſieben Vikareien oder Altären in der Kirche zu Neu-Bukow, welche zum Theil auch Mitglieder des Kalandes zu Neu-Bukow waren, zuſammen, um eine neue kirchliche Stiftung zu gründen.

An der Spitze des Unternehmens stand Sivert v. Oertzen zu Roggow, „als ein ältester und bevollmächtigter Bruder des Kalandes zu Neu-Bukow," mit seinen Brüdern Jaspar und Lippold; die übrigen Familien waren die von der Lühe und die von Bibow. Von großem Einflusse scheint bei dieser Stiftung noch des verstorbenen Ritters Heinrich von der Lühe, des Stifters der wismarschen Marienzeiten, Tochter Armgard gewesen zu sein, welche Priorin des großen Nonnenklosters Neukloster war; es traten die von der Lühe auf Vogelsang, Ilow, Buschmühlen und Püttelkow und die von Bibow auf Alt-Karin und Westenbrügge dieser Stiftung bei. Alle diese Personen, welche Patrone von sieben Vikareien in der Pfarrkirche der Stadt und in der St. Georgen-Capelle vor der Stadt Neu-Bukow waren, vereinigten am 31. Oct. 1505 diese Vikareien und stifteten damit tägliche Marienzeiten in der Pfarrkirche zu Neu-Bukow [CCCXXVII]. Es scheint, als wenn die Beförderung kirchlicher Stiftungen die Pflicht des Ritterstandes war, da im Anfange des 16. Jahrh. vorzüglich die letzten Ritter oder deren Kinder und Verwandte dafür wirkten.

Diese Urkunde vom 31. Oct. 1505 ist die letzte, in welcher Sivert v. Oertzen genannt wird; er besiegelte sein Leben, wahrscheinlich im Vorgefühl seines nahen Todes, zum Schlusse mit einer kirchlichen Stiftung. Er hatte noch den Schmerz, zu erleben, daß sein wackerer Herzog Magnus am 20. Nov. 1503 und dessen vortreffliche Gemahlin bald darauf am 26. April 1504 aus diesem Leben schieden und er alt und schwach in die Regierung eines dritten Fürstengeschlechts trat. Späterhin erscheinen nur noch seine jüngsten Brüder Jaspar und Lippold, welche ihn noch lange überlebten. Zwar wird er noch in dem Roßdienstregister für das Aufgebot zur lübeker Fehde vom J. 1506 genannt, aber nur beiläufig, indem schon seine beiden Brüder für ihn den Dienst übernehmen: „Jasper und Lippolt von Ortzen to Roggow sambt erem bruder Siverden". Sivert wird bald darauf gestorben sein, da Lippold v. Oertzen am 8. Junii 1508, als er den von dem Ritter Heinrich v. d. Lühe gestifteten Marienzeiten in der Marien-Kirche zu Wismar aus dem zu Roggow gehörenden gemein-

ſchaftlichen Gute Wakendorf 17½ Mark Pacht verpfändete, die Urkunde darüber nur von „ſeinem Bruder Jaſpar zu Roggow" und „ſeinem Vetter Mathias zu Wuſtrow" mitbeſiegeln ließ. Ohne Zweifel war damals Sivert III. v. Oertzen ſchon todt. Am 17. Januar 1512 war Sivert III. v. Oertzen ſicher todt, da über „Siverts v. Oertzen nachgelaſſene Güter" Streit entſtanden und beim herzoglichen Hofgerichte verhandelt war [CCCXLVII], und am 19. Jan. 1515 nennen die Herzoge „weiland ihren Rath und lieben getreuen Sivert von Oertzen" [CCCLVIII].

Die Siegel Siverts III. von Oertzen unterſcheiden ſich weſentlich von dem Siegel Siverts II., welcher neben ſeinem eigenen Siegel auch noch das Siegel ſeines Vaters Sivert I. gebrauchte. Sivert III. führt zwei Siegel. Am 1. März 1476 führt er ein rundes Siegel mit einem rechts gelehnten, ausgeſchweiften oder ſogenannten „deutſchen" Schilde unter einem Helme, mit der Umſchrift **s . ſyver . | ... or ...** Am 6. Nov. 1498 führt er ein rundes Siegel mit einem rechts gelehnten gradſeitigen oder ſogenannten „franzöſiſchen" Schilde unter einem Helme, mit der Umſchrift **s . ſivert | van orſe .**

Die Gemahlin Siverts III. v. Oertzen war ohne Zweifel eine geborne v. Bülow. Am 18. April 1492 nennt Heinrich v. Bülow aus dem Hauſe Prützen auf Zibühl den Sivert v. Oertzen „ſeinen Schwager" [CCCV], und dieſe Verſchwägerung war ohne Zweifel die Veranlaſſung, daß Sivert v. Oertzen eine Zeit lang zum Pfandbeſitze des Gutes Zibühl kam. Dies wird auch durch eine Verhandlung vom 17. Dec. 1532 bewieſen, nach welcher die „nachgelaſſenen beweglichen Güter ſeliger Siverts v. Oertzen nachgelaſſenen Wittwe von Heinrichs und ſeines Bruders Hans v. Bülow (auf Gr. Rahden, Zibühl ꝛc.) ſeligen Vater (Hans v. Bülow) hergekommen" waren. Wenn aber in den bisherigen Stammbäumen Siverts III. Gemahlin eine geborne v. Bülow mit Vornamen „Anna" genannt wird, ſo läßt ſich dies nicht nachweiſen. Es kommt in dieſer Generation vielfach eine Anna v. Bülow als Gemahlin eines v. Oertzen vor; dieſe war aber nach zahlreichen urkundlichen Beweiſen die Gemahlin Lippolds v. Oertzen, des

jüngsten Bruders Siverts, und stammte aus dem Hause Plüschow von Harkensee. Wie aber bisher alle Familienverhältnisse unrichtig gestellt sind, so hat man auch diese Anna v. Bülow dem Sivert III. v. Oertzen zur Gemahlin gegeben, da Sivert III. allerdings auch eine geborne v. Bülow zur Gemahlin hatte; ob diese aber mit Vornamen Anna hieß, ist ganz unsicher. Nach der Verhandlung vom 17. Dec. 1532 war damals Siverts III. Gemahlin schon todt.

Ob Sivert III. v. Oertzen Kinder hatte, ist sehr ungewiß. Das ist aber ganz gewiß, daß er keine Söhne hinterließ. Man hat in den bisherigen Stammbäumen den Sivert III. als Stammhalter angegeben, ihm also wenigstens einen Sohn zuertheilt. Dies ist aber nicht richtig, indem zwischen Sivert II. und Sivert IV. in die grade Linie Siverts III. Bruder Jaspar I. als Stammhalter zwischengeschoben werden muß. Es lauten im Allgemeinen die

bisherigen richtigen

**Stammbäume:**

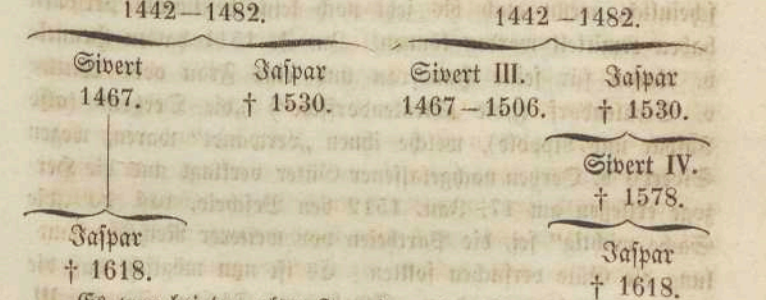


Es war bei der alten Formirung des Stammbaumes schon auffallend, daß Sivert IV. eine siebenzigjährige urkundliche Wirksamkeit erhalten mußte; außerdem war die Trennung der verschiedenen Sivert von 1442 bis 1578 sehr verwirrt. Der Hofmarschall von Oertzen hat zwar verschiedene Versuche gemacht, den Stammbaum aufzuhellen und ist in seinen handschriftlichen Bemerkungen endlich ziemlich auf das Richtige gekommen, die Nebenzweige sind jedoch bei ihm noch so dunkel und unrichtig, daß sie die Erkenntniß des Hauptzweiges stören.

Es iſt unzweifelhaft, daß Sivert III. keine Söhne hinterließ. Es erſcheinen nach ſeinem Tode häufig nur ſeine beiden Brüder Jaſpar und Lippold als Nachfolger in den Lehngütern des Hauſes Roggow, ohne daß von Lehnserben ihrer Brüder je die Rede iſt. Am 19. Jan. 1515 wurden Jaſpar und Lippold als Beſitzer der Lehngüter des Hauſes Roggow für Forderungen dieſes Hauſes mit dem heimgefallenen Lehngute Volland belehnt, ohne daß von andern männlichen Berechtigten die Rede wäre. Als am 2. Februar 1530 alle damals lebenden Glieder der Familie v. Oertzen, welche aus den meklenburg-ſchwerinſchen Landen ſtammten, einen Erbvertrag ſchloſſen, traten aus dem Hauſe Roggow nur Lippold v. Oertzen und Jaſpar's v. Oertzen Kinder bei dem Abſchluß der Urkunde auf. Endlich geben alle Ahnentafeln aus der erſten Hälfte des 17. Jahrhunderts, welche noch ſichere Kunde haben konnten, immer den Jaſpar als den Stammhalter des Hauſes Roggow an.

Ob Sivert III. Töchter hinterlaſſen habe, hat ſich bisher nicht erforſchen laſſen, es iſt aber leicht möglich, ja wahrſcheinlich, wenn auch bis jetzt noch keine beſtimmte Perſonen haben ermittelt werden können. Im J. 1511 hatten Henneke v. Raven für ſeine Hausfrau und eine Frau oder Wittwe v. Stralendorf („die Stralendorfſche") „die Oertzen" (alſo Jaſpar und Lippold), welche ihnen „verwandt" waren, wegen Sivert's v. Oertzen nachgelaſſener Güter verklagt und die Herzoge erließen am 17. Jan. 1512 den Beſcheid, daß, da „die Sache wichtig" ſei, die Partheien vor weiterer Rechtsverhandlung die Güte verſuchen ſollten. Es iſt nun möglich, daß die Frauen v. Raven und v. Stralendorf Töchter Siverts III. geweſen ſind, welche Anſprüche an den Allodialnachlaß ihrer Aeltern machten; es iſt aber auch möglich, daß dieſe Frauen der v. bülow'ſchen Familie angehörten und für den Fall, daß Sivert III. ganz kinderlos geſtorben war, Anſprüche an den Nachlaß der Gemahlin Siverts III. machen zu können glaubten. Die v. Stralendorf ſcheint nach mehreren Anzeichen eine geborne v. Bülow geweſen zu ſein. Die v. Raven waren aber mit den v. Oertzen im 16. Jahrh. vielfach verwandt.

Da nun keine urkundliche Nachrichten erhalten sind, so lassen sich auch Töchter Siverts III. nicht aufführen.

---

## 18.

## Hans II., Knappe.

1479.

§. 53. G. IX.

Siverts II. v. Oertzen dritter Sohn war Hans v. Oertzen, welcher nach dem Tode des ältesten Sohnes Siverts II., Hermanns V., neben seinem ältern Bruder Sivert III. als der zweite Sohn Siverts II. vorkommt (S. 36). Er wird aber in jungen Jahren gestorben sein, da er nur einmal im J. 1479 genannt wird, als Sivert II. v. Oertzen „mit seinen beiden Söhnen Sivert und Hans" am 28. März 1479 dem Antoniuskloster Tempzin ein Zeugniß über eine Urkunde ausstellte [CCLXXXIX], welches noch im klar geschriebenen Originale vorhanden ist, also keinen Zweifel über die Richtigkeit zuläßt. Ueber eine Gemahlin und Kinder des Hans v. Oertzen ist nirgends eine Andeutung zu finden.

---

## 19.

## Hermann VI., Knappe.

1500—1503.

§. 54. G. IX.

Siverts II. v. Oertzen auf Roggow ältester Sohn war Hermann V. (vgl. S. 36, 38), welcher in der Zeit 1467—1470 neben seinem Vater und seinem nächstfolgenden Bruder Sivert III. wirkend erscheint. Hermann V. starb aber in jungen Jahren seiner Manneskraft, vor 1. April 1471, und sein

Tod ſchlug der Familie eine tiefe Wunde. Auch der dritte Sohn Siverts II., Hans, ſtarb in jungen Jahren. Deshalb legten die gebeugten Aeltern dem zunächſt gebornen Sohne Hermann wieder den Vornamen Hermann bei, ſo daß hinter einander zwei Hermann v. Oertzen als Söhne Siverts II. erſcheinen. Daß ſich dies wirklich ſo verhält, leidet keinen Zweifel. Nach einer Original-Urkunde war Hermann V., Siverts II. älteſter Sohn, nicht lange vor dem 1. April 1471 geſtorben [CCLXV]. Vom J. 1500 bis 1503 erſcheint aber wiederholt neben Sivert und Jaſpar wieder ein Hermann v. Oertzen, welcher am 25. Jan. 1503 ausdrücklich Jaſpars Bruder genannt wird, alſo ein Sohn Siverts II. war [CCCXXV]. Zuerſt wird Hermann VI. am 1. März 1500 unter dem „Hofgeſinde" der Herzoge genannt, als er mit ſeinem Bruder Jaſpar und ſeinem Vetter Mathias auf Wuſtrow mit 5 Pferden mit dem herzoglichen Hofe zur Vermählung der Princeſſin Sophie von Meklenburg mit dem Herzoge Johann von Sachſen nach Torgau zog (vgl. unten S. 55). Am 6. Julii 1502 waren Sivert und Hermann v. Oertzen zu Roggow Zeugen, als ihr „Vetter" Mathias v. Oertzen auf Wuſtrow der Wittwe Beate von der Lühe zu Buſchmühlen 17½ Mark Pacht aus Gr. Eixen für die Marienzeiten in Wismar verpfändete [CCCXXIII]. Am 25. Jan. 1503 wohnte Hermann zu Hermanshagen, als er mit ſeinem Bruder Jaſpar („Hermen unde Jasper van Orszen brodere to Hermenshagen") als Bürge für Wedege von Oldenburg auf Watmanshagen eintrat [CCCXXV]. Dieſes Gut Hermanshagen iſt ohne Zweifel das Gut gleiches Namens, welches im Amte Bukow liegt, eine Pertinenz von Büttelkow und mit dieſem ein Lehn der von der Lühe auf Buſchmühlen und Büttelkow war. Ohne Zweifel hatten die Brüder v. Oertzen das Gut Hermanshagen auf kurze Zeit zu Pfande, da es weiter nicht im v. örtzenſchen Beſitze vorkommt. Als ſein älteſter Bruder Sivert III. ſich in den erſten Jahren des 16. Jahrh. auf Roggow und in die Stadt Bützow zurückzog, wohnte Hermann mit ſeinen Brüdern auf Berenshagen, welches ſpäter im Beſitze ſeines jüngſten Bruders Lippold erſcheint. Im J. 1503 verpfändeten Hermann und Jaſpar v. Oertzen

zu Berenshagen 6 Mark Jahrespacht aus ihrem Dorfe „Dargelatz" [CCCXXIII], welches ohne Zweifel das jetzige Dorf Dolglas ist, das noch heute als Pertinenz zu Berenshagen gehört.

Nach dem J. 1503 wird Hermann VI. v. Oertzen nicht wieder genannt und nach dem auch bald darauf erfolgenden Tode seines ältern Bruders Sivert III. erscheinen fortan längere Zeit nur die Brüder Jaspar und Lippold als die Besitzer der Lehngüter des Hauses Roggow.

Von einer Gemahlin und von Kindern Hermanns VI. v. Oertzen ist nirgends die Rede.

---

## 20.

## Jaspar I., Knappe.

### 1500—1526.

§. 55. G. IX.

Jaspar und Lippold v. Oertzen werden, in dieser Folge, sehr häufig als Brüder und im Anfange ihrer Wirksamkeit auch als Brüder Siverts III. und Hermanns VI. aufgeführt und waren ohne Zweifel die jüngsten Söhne Siverts II., welche ihre ältern Brüder lange überlebten. Nach dem um das J. 1506 erfolgten Tode der letzten ihrer ältern Brüder, Sivert und Hermann, erscheinen sie allein und lange im Besitze der Lehn- und Pfandgüter der Linie Roggow und dadurch und durch eigene geistige Befähigung als reiche und angesehene Männer. Beide mit ihren Familien halten sich eng aneinander und an die Höfe ihrer Lehnherren, an welchen sie so oft erscheinen, daß man sie nach heutigen Begriffen Kammerherren nennen könnte, wenn diese Bezeichnung für jene fernen Zeiten ganz zuträfe.

Mit Jaspar I. auf Roggow erscheint in der Familie v. Oertzen vom Hause Roggow zuerst der Vorname Jaspar, welcher in dieser Linie bis auf den heutigen Tag ein häufig

vorkommender Vorname ist. Wahrscheinlich erhielt Jaspar I. diesen Namen aus der Familie seiner mütterlichen Großmutter v. Buchwald, der Gemahlin Siverts I. Der Vorname Jaspar scheint im Anfange des 16. Jahrh. aus dem Holsteinschen gekommen zu sein, eben so wie der Vorname Sivert. Auch z. B. in der v. Penzschen Familie erscheint der Vorname Jaspar zuerst im Anfange des 16. Jahrh. bei Jaspar v. Penz auf Nützkow, einem Sohne Volraths v. Penz auf Redefin, welcher Margarethe v. Seheſtedt aus dem Holsteinschen zur Gemahlin hatte (vgl. Jahrb. X, S. 370). Vorher war der Vorname Hermann am meisten in der Familie v. Oertzen herrschend.

Während Jaspars jüngster Bruder Lippold schon früh dem jungen Herzoge Heinrich auf dessen Zügen mit dem Kaiser folgte und sein älterer Bruder Sivert sich am Abend seines Lebens in die Städte Bützow und Bukow zurückzog, lebte Jaspar mit seinem Bruder Hermann mehr auf den väterlichen Gütern. Im J. 1503 wohnten Hermann und Jaspar zu Berenshagen, als sie dem Kloster Rühn 6 Mark Pacht aus dem zu Berenshagen gehörenden Dorfe Dolglas verpfändeten [CCCXXIII] und am 25. Jan. 1503 hatten beide auch das den v. d. Lühe auf Buschmühlen gehörende Gut Hermannshagen im Pfandbesitz. Nach dem Tode der beiden ältern Brüder Sivert und Hermann um das J. 1506 erscheint Jaspar aber allein auf dem Stammlehn Roggow wohnhaft, während sein Bruder Lippold zuerst auf Berenshagen, darnach aber bald auf Gorow wohnte, welches er zuerst zu einem Wohnhofe eingerichtet zu haben scheint.

Am Hofe erscheint Jaspar v. Oertzen zuerst, als er mit seinem Bruder Hermann im J. 1500 mit dem herzoglichen Hofe zur Vermählung der Princessin Sophie nach Torgau zog. Der kräftige Herzog Magnus von Meklenburg vermählte seine liebenswürdige, gute Tochter Sophie, die Stammmutter der zahlreichen Herzoge ernestinischer Linie, an den Herzog Johann von Sachsen, den späteren Kurfürsten Johann den Standhaften. Die Vermählung ward am 1. März 1500 zu Torgau vollzogen und die Feierlichkeit war eines der glänzendsten

Feste, welche je in Norddeutschland gefeiert sind; es sollen über 10,000 Menschen als Gäste mit mehr als 6000 Pferden in Torgau versammelt gewesen sein. Diesem Feste folgten in den nächsten Zeiten beim Untergange des Ritterthums mehrere ähnliche Feste voll Glanz und Pracht. Der Herzog Magnus brachte seine Tochter mit einem ungewöhnlich großen und glänzenden Gefolge aus der Ritterschaft aller drei Kreise nach Torgau. Unter den von der Ritterschaft Aufgebotenen werden auch Hermann und Jaspar v. Oertzen, jeder mit 5 Pferden, und Mathias v. Oertzen mit 4 Pferden aufgeführt. Unter dem engern „Hofgesinde", welches aus 24 Adeligen, unter denen die beiden Ritter Bernd Maltzan und Heinrich von Plessen, bestand [CCCXVIII], werden außerdem noch einmal Hermann v. Oertzen mit 3 und Jaspar v. Oertzen mit 2 Pferden aufgeführt. Dem Feste folgten glänzende Turniere, in welchen auch eine „mecklenburgische Jungfrau" einen Dank ertheilte; es ist möglich, daß Jaspar schon damals auf diesem Feste mit turniert hat, da er bei spätern Festen als „Turnierer" auftritt. (Vgl. Lisch, Maltzan Urk. IV, S. 308 flgd.)

Am 20. Nov. 1503 starb der Herzog Magnus und später kommt auch Hermann v. Oertzen nicht vor. Am 31. Oct. 1505 lebten noch alle drei Brüder Sivert, Jaspar und Lippold v. Oertzen, als sie im Verein mit den v. d. Lühe und den v. Bibow die täglichen Marienzeiten in der Pfarrkirche zu Neu-Bukow stifteten [CCCXXVII], (vgl. S. 46). Sivert erscheint zuletzt im J. 1506, als „Jaspar und Lippold v. Oertzen zu Roggow sammt ihrem Bruder Sivert" zur Lübecker Fehde aufgeboten wurden. Wahrscheinlich wird Sivert III. bald darauf gestorben sein, denn seit dem J. 1508 erscheinen Jaspar und Lippold allein aus dem Hause Roggow. Am 26. Dec. 1506 bürgte Jaspar v. Oertzen für die Herzoge Balthasar und Heinrich von Meklenburg für 2000 Goldgulden gegen die Brüder Stephan und Andreas v. Bülow auf Wehningen [CCCXXIX]. Jaspar v. Oertzen wird unter den „Räthen" („vnse rede vnd leven getruwen") aufgeführt; vielleicht war er als Lehnmann des Stifts Schwerin Rath des Herzogs Balthasar, welcher schon am 16. März 1507 starb.

Am 8. Junii 1508 war Jaspar v. Oertzen „auf Roggow" Mitbesiegeler der Urkunde, durch welche sein „Bruder Lippold zu Berenshagen" den von dem Ritter Heinrich v. d. Lühe gestifteten großen Marienzeiten in der Kirche zu Wismar 17½ Mark Pacht aus dem Dorf Wakendorf verpfändete (CCCXXXVI].

Am 5. Nov. 1508 feierte Jaspar v. Oertzen zu Wismar seine Vermählung mit Margarethe v. Quitzow von Gr. Voigtshagen. Margarethe v. Quitzow war eine Tochter des Vicke v. Quitzow auf Gr. Voigtshagen und Mette v. Pogwisch (vgl. Jahrb. XII, S. 362), aus einem reichen Hause. Sie hatte einen Bruder Eckhard v. Quitzow, welcher, wie Jaspar v. Oertzen, auch zum herzoglichen Hofe („Hofgesinde") gehörte, z. B. im J. 1500 zur Zeit der Vermählung der Herzogin Sophie mit dem Herzoge Johann von Sachsen [CCCXVIII]. Wahrscheinlich hatte Jaspar v. Oertzen seine Braut durch ihren Bruder am herzoglichen Hofe kennen gelernt. Eckhard v. Quitzow lud den Herzog Heinrich, dessen Gemahlin Ursula von Brandenburg, dessen jüngste, damals noch unvermählte, schöne Schwester Katharine und den ganzen Hof zur Hochzeit, welche am 5. Nov. 1508 in Wismar gefeiert werden sollte [CCCXXXVII], weil in Voigtshagen zu einem so glänzenden Feste sicher nicht Raum genug war. Leider dauerte das Glück dieser anscheinend glücklichen und glänzenden Ehe nur wenige Jahre.

Wie reich, sinnig und freigebig das Leben in der jungen Ehe war, beweiset die Gunst, welche die Frau dem neu gestifteten Augustinerkloster zu Sternberg zuwandte. Im J. 1500 war an der Stelle, an welcher die Juden in Sternberg das Sacrament gemißhandelt hatten, ein Kloster Augustinerordens gestiftet (vgl. Jahrb. XII, S. 227), in dessen Kirche auch ein „Heiliges Grab" war, dessen Heiligkeit bald viele Wallfahrer anzog; aber mit dem Bau ging es nur langsam vorwärts, so daß derselbe erst im J. 1507 lebhaft in Angriff genommen und um das J. 1510 vollendet werden konnte. Als die Kirche dieses Klosters fertig war, schenkte Margarethe v. Oertzen demselben „eine Casel und zwei Dienströcke von Seidenatlas, grün „und weiß, sammt aller Zubehörung und zwei Dienströcke von

„Seidenatlas"; ihre Mutter („die Quitzowsche") schenkte „eine „Casel und zwei Dienströcke von weißem Drillich"; die übrigen Meßgewänder hatten der Herzog Magnus und dessen Gemahlin Sophie und des Herzogs Heinrich Gemahlin Ursula geschenkt (vgl. Jahrb. XII, S. 277). Außerdem bedachte sie späterhin dieses Kloster noch reich mit Vermächtnissen. Die Veranlassung war entweder Frömmigkeit oder die Feier ihrer Hochzeit, vielleicht auch nach einigen Jahren ihrer Vermählung der Wunsch, Erben zu besitzen, mit denen sie nicht gesegnet gewesen zu sein scheint; wenigstens hinterließ sie keine Söhne.

Bald nach der Hochzeit finden wir die Brüder Jaspar und Lippold auf Roggow und Berenshagen zum Besuche bei ihrem Lehnsvetter Mathias auf Wustrow, als dieser am 24. Nov. 1508 der Johanniter-Priorei zu Gr. Eixen seine Besitzungen in Gr. Eixen verpfändete [CCCXXXVIII]. Am 15. März 1511 verglich Jaspar sich mit den Vorstehern des Hospitals zum Heil. Geist zu Lübeck wegen der Lieferung des Pachtkorns aus dem Dorfe Russow [CCCXLV].

Doch das Glück der jungen Ehe dauerte nicht lange. Jaspars jugendliche Gemahlin Margarethe ward ihm früh von der Seite gerissen; im Anfange des Jahres 1513 war sie sicher todt. Die Zeit ihres Todes läßt sich nicht bestimmt, aber annäherungsweise angeben. Wahrscheinlich starb sie schon 1510 oder 1511, da schon im Mai 1512 „Jaspars v. Oertzen Frau" zu der herzoglichen Vermählung in Torgau geladen ward und Margarethe sicher vor dem Januar 1513 gestorben war, „Jaspar v. Oertzen mit der Frau" aber im Junii 1513 wieder „mit der Frau" auf der zweiten Hochzeit des Herzogs Heinrich von Meklenburg erschien und tanzte. Daher wird man wohl annehmen müssen, daß Margarethe v. Quitzow wenigstens ein Jahr vor dem Mai 1512 gestorben und Jaspar vor dem Mai 1512 zu einer zweiten Ehe geschritten war. Margarethe, geborne v. Quitzow, hatte dem Augustinerkloster zu Sternberg, welches sie schon reich mit Meßgewändern beschenkt hatte, durch ihr Testament 300 lübische Mark vermacht, für deren Zinsen in dem Kloster ihr Gedächtniß gefeiert und Messen für das Seelenheil ihrer Geschlechter, namentlich der

Geſchlechter v. Quitzow und v. Pogwiſch, geleſen werden ſollten; am 6. Jan. 1513 beurkundete das Kloſter, daß Margarethens Mutter, ihr Bruder Eckhard v. Quitzow und ihre Schweſter Leveke v. Quitzow, vermählte v. Bülow, demſelben das Vermächtniß in der Art verſichert und verbrieft hatten, daß Eckhard v. Quitzow das Kapital mit 15 lüb. Mark jährlicher Renten verzinſen ſollte (vgl. Jahrb. XII, S. 362 flgd.). Ferner hatte Margarethe in dem Kloſter elf Lichter, jedes 1 Pfund Wachs ſchwer, an dem Heiligen Grabe in der Kloſterkirche geſtiftet und dafür ein Kapital von 55 Mark ausgeſetzt, deren Zinſen ebenfalls Eckhard v. Quitzow jährlich auszahlen ſollte; am 30. Jan. 1516 nahm das Kloſter dieſe Stiftung an und verpflichtete ſich zur Ausführung des Wunſches der Verſtorbenen [CCCLXI].

Jaſpars v. Oertzen erſte Gemahlin Margarethe v. Quitzow hatte keine Kinder hinterlaſſen. In ihren frommen Stiftungen für das Kloſter zu Sternberg iſt von Kindern und ihrem ſie überlebenden Gemahle mit keiner Sylbe mehr die Rede, ſondern nur von ihren väterlichen und mütterlichen Geſchlechtern der v. Quitzow und v. Pogwiſch. Jaſpar v. Oertzen hinterließ nur einen Sohn Sivert, welcher nach einem Zeugenverhöre im J. 1567 ſein Alter ſelbſt auf etwa 40 Jahre angiebt, alſo um 1525 oder 1526 geboren ſein mochte; als deſſen Mutter wird aber in den v. örtzenſchen Ahnentafeln beſtändig Emerentia v. Buchwald von Müggesfelde in Holſtein genannt. Es iſt alſo wohl nicht zu bezweifeln, daß Jaſpars v. Oertzen erſte Gemahlin Margarethe v. Quitzow in jungen Jahren ohne Hinterlaſſung von Leibeserben ſtarb.

Jaſpar v. Oertzen heirathete nicht ſehr lange nach dem Tode ſeiner erſten Frau, vielleicht am Ende des J. 1511 oder im Anfange des J. 1512, zum zweiten Male, da er in den Jahren 1512 und 1513 wiederholt auf großen fürſtlichen Feſten zum Theil „mit der Frau" mitwirkend erſcheint. Seine zweite Gemahlin wird in keiner Urkunde erwähnt, jedoch in allen Ahnentafeln 3 bis 4 Geſchlechter hindurch übereinſtimmend Emerentia v. Buchwald aus dem Hauſe Müggesfelde in Hol-

stein genannt, mit deren Familie das Geschlecht der v. Oertzen seit mehreren Geschlechtern vielfach verwandt war.

Auch des Herzogs Heinrich erste Gemahlin Ursula von Brandenburg war ungefähr um dieselbe Zeit am 18. Sept. 1510 gestorben; der Herzog vermählte sich am 12. Junii 1513 zum zweiten Male.

In den Jahren 1512 und 1513 wurden viele große Fürstenfeste gefeiert, welche zu den berühmtesten des 16. Jahrhunderts gehören und an denen auch die Brüder Jaspar und Lippold v. Oertzen mit ihren Frauen mit glänzenden Erfolgen Theil nahmen.

Zu Fastnacht (24. Febr.) des J. 1512 hielt der Kurfürst Joachim I. von Brandenburg, nachdem er sich mit dem Herzoge Heinrich von Meklenburg „eines gesellligen und ritterlichen welischen Turniers vereinigt" hatte, ein großes Turnier zu Neu-Ruppin „mit andern vielen Herren und Fürsten, mit „allem Frauenzimmer und Hofgesinde, und haben daselbst ge„stochen und gebrochen und turnirt mit großer Freude und „Fröhlichkeit". Auch die herzoglichen Brüder Heinrich und Albrecht nahmen Theil an diesem Feste mit einer großen Anzahl von Edelleuten und Hofleuten (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 409 flgd.) An diesem Turnier nahm auch Jaspar v. Oertzen Theil; von seinem Bruder Lippold ist nirgends die Rede, da dieser wahrscheinlich durch die Trauer über den Tod seiner ersten Gemahlin zu Hause gehalten ward. Der glänzende Zug ging von Schwerin über Crivitz (20. Febr.), Plau (21. Febr.) und Witstock (22. Febr.) nach Ruppin (23. Febr.), wo die Feste bis zum 27. Febr. dauerten und die Gesellschaft sich am 28. Febr. trennte; die Meklenburger zogen über Witstock, Plau und Lübz wieder in die Heimath. Jaspar v. Oertzen betheiligte sich an dem Zuge mit 5 Pferden. Nach dem noch vorhandenen Turnierzettel [CCCXLVIII], einer für Meklenburg sehr seltenen Urkunde, waren in dem „meklenburgischen Turnier" 6 Paare, und unter diesen 12 Turnierern auch Jaspar v. Oertzen, welcher anscheinend mit dem Hofmarschall Joachim Hahn auf Basedow turnierte (vgl. Lisch, Gesch des Geschlechts Hahn, III, S. 141).

Dieses Turnier hatte für Meklenburg die Folge, daß während desselben die schöne Princessin Katharine, jüngste Schwester der Herzoge Heinrich und Albrecht, mit dem Herzoge Heinrich von Sachsen-Freiberg verlobt ward. Schon am 5. Julii 1512 ward die Hochzeit zu Freiberg mit großer Pracht gefeiert, und an diesem Feste nahmen auch die Brüder Jaspar und Lippold, so wie Mathias v. Oertzen auf Wustrow Theil. Der Zug ging am 24. Junii von Plau über Perleberg, Havelberg, Brandenburg, Wittenberg, Torgau und Meißen nach Freiberg. Es waren an 40 Vasallen aus den ersten adeligen Familien des Landes, zum Theil mit ihren Frauen, aufgeboten und diese und die Hofdiener führten 317 gerüstete Pferde mit sich (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 416 flgd.) Aus der Familie v. Oertzen waren Mathias, Jaspar und Lippold, jeder mit 5 Pferden, zur Begleitung entboten; in der Reiserechnung für Stallmiethe werden alle drei, oft jeder mit 4 Pferden, genannt; das fünfte Pferd war vielleicht das Frauenpferd oder das Turnierpferd, welches vielleicht allein ging. Unter den 12 Frauen, welche zur Begleitung geladen waren, befanden sich auch Jaspars und Lippolds v. Oertzen „Frauen" (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 414). Besonders ward Jaspar v. Oertzen, mit Stephan v. Bülow und Jürgen Fineke, zum Turnier angesagt [CCCXLIX] und von ihm begehrt, sich in jeder Weise dazu zu rüsten. Nach dem Turnierzettel [CCCL] war aber Jaspar vom Turnieren abgehalten, jedoch trat sein gewandter Bruder Lippold dafür ein. Unter den 12 Turnierern waren die beiden Herzoge selbst und 5 geborne Meklenburger, die übrigen 5 waren Ausländer in meklenburgischen Diensten. Am 19. Julii langte der Zug in Plau wieder an.

Bald darauf dachte auch der Herzog Heinrich an seine Wiedervermählung, welche mit der Prinzessin Helena von der Pfalz am 3. Junii 1513 zu Wismar, mit so viel Pracht und mit einem „so herrlichen Turnier und Stechspiel, auf dem Markte zu Wismar", gefeiert ward, daß etwas Aehnliches „vormals in diesen Landen nicht gesehen" war. Der Fürsten und der „Landsassen" Pferde waren „387 von einer Farbe"; außerdem waren der Wagenpferde, der Frauen und Jungfrauen

und anderer Pferde so viel, daß man ihre Zahl auf 1800 rechnete. Auch zu diesem Feste waren Mathias, Jaspar und Lippold v. Oertzen geladen (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 421 flgd.) und bewährten ihre gewandte Ritterlichkeit. Jeder von ihnen war mit 4 „gerüsteten Pferden" verschrieben und Jaspar und Lippold waren „mit den Frauen" geladen. Vor der Hochzeit hatten Jaspar und Lippold unter 24 Edelleuten auf dem Lande den Auftrag erhalten, „Rehe und Hasen zu jagen und nach Wismar zu schicken." Jaspar und Lippold v. Oertzen hatten nicht allein an den Hochzeitstagen Ehrendienste, sondern waren schon vorher beauftragt, „die fremden Fürsten und Fürstinnen" an der Landesgrenze „anzunehmen", nach Wismar zu geleiten und „auf sie in ihren Herbergen zu warten, alle Nothdurft zu verordnen". Jaspar v. Oertzen und Jürgen v. Halberstadt sollten den Herzog Heinrich von Sachsen, des Herzogs Heinrich von Meklenburg Schwager, ohne Zweifel mit Gemahlin, zwischen Perleberg und Neustadt empfangen, und mit Nachtlagern in Neustadt und Schwerin nach Wismar führen und hier für sie sorgen. Den Herzog von Sachsen-Lauenburg sollten Achim v. Bredow und Lippold v. Oertzen, den Erzbischof v. Bremen Doctor Marschalk, Jaspar v. Fineke und Mathias v. Oertzen empfangen. Am Hochzeitstage sollte Lippold v. Oertzen „der Braut vor dem Tische stehen", Jaspar „der Braut vor dem Trinken gehen" und beim Tanze „der Braut nachtanzen". Bei dem großen Turnier von 48 Turnierern waren ebenfalls Jaspar und Lippold und im Vorturnier erhielt Lippold v. Oertzen den ersten Dank, einen „Spieß" (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 428 flgd.) Auch an einem zur Nachfeier am 6. Septbr. 1513 gehaltenen Turnier von 28 Turnierern betheiligten sich Jaspar, Lippold und Mathias v. Oertzen; Lippold hatte aber den Unfall, daß ihm der Spieß zerbrach (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 431 flgd.) Alle diese vielfältigen, kostspieligen Ehrendienste beweisen, daß Jaspar und Lippold v. Oertzen in jeder Lage des höhern Lebens gewandte, hochangesehene Männer waren.

Für so viele Opfer, welche die Brüder v. Oertzen brachten, scheint das herzogliche Haus denselben auch dankbar ge-

wesen zu sein. Das Geschlecht v. Jesewitz, welches auch den Hof Bolland mit Zubehörungen und zwei Katen zu Neu-Karin besessen hatte, war um diese Zeit ausgestorben. Zwar hatte Sivert III. diesen Hof am 25. Nov. 1493 von den Vettern Drewes und Otto v. Jesewitz gekauft [CCCX], nachdem er denselben von seinem Vater her schon als Pfandbesitz überkommen hatte (vgl. oben Sivert III.); aber die Herzoge wollten diesen Kauf als solchen nicht anerkennen, sondern in der Erwerbung nur einen Pfandbesitz erblicken, und machten auf diese Güter als heimgefallene Lehen Anspruch [CCCLII]. Dennoch belehnten die Herzoge endlich am 19. Jan. 1515 die Brüder Jaspar und Lippold v. Oertzen mit diesen Gütern [CCCLVIII], wogegen diese einer Schuldforderung, wie es scheint von 200 Mark, von wegen ihres verstorbenen Bruders Sivert III. vom 24. Febr. 1493 [CCCVIII], und Forderungen für im fürstlichen Dienste erlittene Pferdeschäden entsagen und den Herzogen noch 350 lüb. Mark zubezahlen mußten. Die Herzoge hatten von den „ehemaligen v. Jesewitzischen Gütern" ihrem Rentmeister und Rath Claus Trutmann den Hof Neu-Carin mit 3 Bauern zu Alt-Carin und 3 Bauern zu Alt-Hagen versprochen, tauschten mit demselben jedoch diese Güter gegen die Güter Schönfeld und Carpin im Stargardischen um, mit denen er Dienstag nach Antonii 1508 belehnt ward.

Von dieser Zeit an zog sich Jaspar v. Oertzen mehr vom Hofe und vom öffentlichen Staatsleben zurück, vielleicht weil er schwächlich ward, indem er nach nicht langer Zeit starb. Er erscheint fortan fast nur in Ordnung von Familienangelegenheiten und als Theilnehmer an allgemeinen öffentlichen Pflichten und Lasten thätig. Am 6. Oct. 1513 verhandelten er und sein Bruder mit den v. Flotow auf Stur wegen ihres mütterlichen Erbes, da ihre Mutter eine geborne v. Flotow gewesen war [CCCLI]. Am 13. Jan. 1516 ging Jaspar für die Herzoge Heinrich und Albrecht für 1000 Goldgulden gegen Anna v. Rantzau zu Bülck, Wittwe des Ritters Otto v. Rantzau, in Bürgschaft [CCCLX]. Um das Jahr 1515 oder 1520 starb das v. örtzensche Haus Kl. Tessin mit Segeband v. Oertzen aus, welchem dessen Tochter, die an Claus Hahn auf Kuchelmiß

verheirathet war, für ihre Lebenszeit als Erbtochter im Besitze des Lehngutes folgte (vgl. Haus Kl. Tessin). Ueber die spätere Erbfolge in das Gut Kl. Tessin kam es schon früh zwischen den v. Oertzen aus den Häusern Roggow und Wustrow zur Verhandlung; jedoch ist hierüber nichts weiter bekannt geworden, als daß das Gut in den Besitz des Hauses Wustrow kam, von welchem es späterhin auf einige Zeit durch Kauf auf das Haus Roggow überging. Jaspar und Lippold v. Oertzen kamen wieder mit ihrem „Schwager" Mathias v. Bredow in Streit, welcher Namens seiner „Hausfrau", die wohl sicher eine Schwester der v. Oertzen war, Ansprüche an Segebands v. Oertzen nachgelassene Güter machte; dieser Streit dauerte noch bis in das Jahr 1526 [CCCLXXIII, CCCLXXIV, CCCLXXV].

Am 30. Nov. 1519 [CCCLXII] und 27. März 1520 [CCCLXIV] war Jaspar für seinen Bruder Lippold Bürge, in zwei Verschreibungen gegen die Priesterschaft der Nicolaikirche zu Wismar. Am J. 1521 werden Jaspar v. Oertzen zu Roggow und Lippold v. Oertzen zu Berenshagen in einem Roßdienstregister aufgeführt. Am 1. August 1523 untersiegelten Jaspar und Lippold v. Oertzen die Union; aus dem Lande Meklenburg-Schwerin hat, außer Mathias v. Oertzen auf Wustrow, kein anderer v. Oertzen die Union untersiegelt, wie auch zu dieser Zeit keine v. Oertzen in volljährigem Alter mehr in Meklenburg lebten: Mathias v. Oertzen auf Wustrow aber war Bevollmächtigter der Landstände bei der Union. Im Lande Stargard lebten nur Jacob und Bernd und Marcus, von denen Jacob und Bernd die Union besiegelten.

Die Besiegelung der Union vom 1. Aug. 1523 ist die letzte Handlung, welche von Jaspar v. Oertzen bekannt geworden ist. Jaspar v. Oertzen starb bald darnach; sicher ist, daß er vor dem J. 1529 gestorben ist. Es ist aber wahrscheinlich, daß er schon im J. 1526 starb. Im J. 1525 war Mathias v. Bredow in ehelicher Vormundschaft seiner Frau, wahrscheinlich einer gebornen v. Oertzen, mit seinen Schwägern Jaspar und Lippold v. Oertzen wegen des Nachlasses Segebands v. Oertzen auf Kl. Tessin in rechtliche Verhandlung gerathen [CCCLXXIII, CCCLXXIV], welche wahrscheinlich in dem

Jahr 1525 begann, da Bredow am 26. Novbr. 1526 um die Anſetzung eines neuen Termins bittet [CCCLXXV]. Nach den undatirten Verhandlungen, welche wahrſcheinlich in das Jahr 1525 fallen, lebte damals Jaſpar v. Oertzen noch. Am 26. Nov. 1526 war er aber ſchon geſtorben, da in der an dieſem Tage erlaſſenen herzoglichen Ladung nicht mehr die Brüder Jaſpar und Lippold, ſondern nur Lippold und „ſeines Bruders Frau gottſeliger" („syns bruder frawen gothseliger") genannt werden; dieſer Ausdruck „gothseliger" (ſeliger) iſt ohne Zweifel auf das Wort Bruder zu beziehen, da die „Frau" noch längere Zeit nach dem J. 1526 lebte. Am 6. April 1529 war nach einer herzoglichen Ladung an Lippold v. Oertzen [CCCLXXIX] Jaſpar ſicher todt, da Lippold mit „ſeines Bruders Frau" und „ſeines Bruders Kindern" ſammt „der Kinder Freundſchaft" wegen des Bauwerks auf den Gütern in Streit lag. In der Erbverbrüderung, welche am 2. Febr. 1530 die v. Oertzen im Lande Meklenburg-Schwerin unter einander ſchloſſen [CCCLXXXI], werden aus dem Hauſe Roggow ganz beſtimmt „Lippold v. Oertzen und ſeligers Jaſpars v. Oertzen nachgelaſſene Kinder" genannt. Jaſpar v. Oertzen wird alſo im J. 1526 geſtorben ſein. Nach den Kirchenrechnungen der St. Georgenkirche zu Wismar ſtarb im J. 1526 ein Glied der Familie v. Oertzen, da es heißt: „Item VIII s. clockengelt van Ortzenn". Möglich iſt es, daß Jaſpar v. Oertzen in Wismar ſtarb und ihm hier nachgeläutet ward; möglich iſt es aber auch, daß das Geläute für ſeine muthmaßliche Schweſter Katharine (vgl. Nr. 22) geſchah, da dieſe zu Wismar wohnte. Mit der Annahme, daß Jaſpar 1526 geſtorben ſei, ſtimmen mehrere andere Verhältniſſe überein. Als der Herzog Albrecht am 11. Nov. 1526 ſeiner Gemahlin Anna das Leibgedinge verſchrieb und an ſie auch die Ritterſchaft der verſchriebenen Leibgedingsämter wies, ward ihr auch „Lippold v. Oertzen zum Berenshagen mit 5 Pferden" zugewieſen, von Jaſpar iſt aber nicht mehr die Rede. Hiezu ſtimmen endlich auch die Lebensverhältniſſe des Sohnes Jaſpars. Jaſpar hinterließ nur einen Sohn Sivert, welcher erſt früheſtens im J. 1543 ſelbſtſtändig auftritt. In einem ge-

richtlichen Zeugenverhöre sagt Sivert v. Oertzen im J. 1567, daß er damals „bei 40 Jahren alt" sei; er wird also nicht lange vor seines Vaters Tode im J. 1525 geboren sein und bis zu seiner Volljährigkeit mit 18 Jahren unter der Vormundschaft seines Oheims Lippold gestanden haben, da im J. 1535 im Roßdienstregister „Lippold v. Oertzen sammt seines Bruders Sohn" aufgeführt wird. Weil Sivert so spät geboren war, wird man auch seines Vaters Tod nicht vor das Jahr 1525 setzen können.

Jaspar v. Oertzen auf Roggow hatte sicher zwei Frauen:

1. Margarethe v. Quitzow von Gr. Voigtshagen, welche nach Urkunden nur kurze Zeit, 1508—1510, mit ihm vermählt war und ihm wahrscheinlich keine Kinder hinterließ (vgl. oben S. 56 und 57), und

2. Emerentia v. Buchwald aus dem Hause Mügges-felde in Holstein, welche ihm 1512—1526 vermählt war und ihn überlebte; sie wird als Jaspars hinterlassene Frau noch im J. 1529 genannt [CCCLXXIX].

Jaspar v. Oertzen hinterließ, ohne Zweifel nur von seiner zweiten Gemahlin, „Kinder". Am 6. April 1529 [CCCLXXIX] und am 2. Febr. 1530 [CCCLXXXI] werden Lippolds Bruder-„Kinder" genannt. Es erscheint in der Folge jedoch nur ein Sohn Sivert, und im J. 1535 wird nur Lippold v. Oertzen „sammt seines Bruders Sohn" genannt. Die übrigen „Kinder" werden also Töchter gewesen sein; jedoch läßt sich muthmaßlich nur eine Tochter Anna nachweisen, welche an Volrath Sperling zu Keetz vermählt war. Die Kinder Jaspars I. v. Oertzen waren also:

25. Sivert IV. 26. Anna.

## 21.

## Lippold II., Knappe.

1496—1545.

§. 56. G. IX.

Lippold II. v. Oertzen war von den sechs Söhnen Sivers II. auf Roggow der jüngste und überlebte alle seine ältern Brüder lange Zeit. Nach dem um das Jahr 1506 erfolgten Tode seiner zwei ältern Brüder Sivert III. und Hermann VI. erscheint er sehr häufig mit seinem Bruder Jaspar im Besitze aller Güter der Linie Roggow, als ein angesehener, befähigter Mann. Er hatte sich mit seinem Bruder Jaspar schon früh den herzoglichen Höfen angeschlossen, an welchen beide bei wichtigen Begebenheiten sehr häufig erscheinen. Lippold ward am Ende seines Lebens auch Staatsmann.

Lippold v. Oertzen erscheint schon früh als einer der Begleiter des jungen Prinzen Heinrich von Meklenburg, später Herzog Heinrich der Friedfertige genannt, als dieser in den Dienst des Kaisers Maximilian trat. Der Kaiser hatte, wahrscheinlich aus Zuneigung zu dem ihm sehr gleichgesinnten Vater Herzog Magnus, am 5. Sept. 1495 den damals sechszehnjährigen Prinzen Heinrich „mit 200 Pferden an seinen Hof in des Reiches Sold" genommen und zwar zunächst „zu dem vorgenommenen Römerzuge." Nach gehöriger, gewiß glänzender und kostspieliger Ausrüstung ritt der Herzog am 14. Dec. 1496 aus Schwerin mit 141 Pferden zum Kaiser. Er nahm aus Meklenburg gegen 100 Pferde mit, von denen ungefähr die Hälfte gerüstete Rosse meklenburgischer Edelleute waren, mit dem Hofmarschall Jörg v. Biswang an der Spitze, in der Begleitung des Canzlers Dr. Antonius Grunewalt; dazu stieß der Ritter Hartmann Marschalk v. Onolzbach mit 9 auswärtigen Edelleuten, welche 44 Pferde hatten (vgl. Lisch, Maltzan. Urk. IV, S. 314—321). Zu des jungen Herzogs unmittelbarer Umgebung waren, außer der Dienerschaft, 12 junge Edelleute bestellt, welche jeder ein Pferd in des Herzogs Stall hielten und daher „Einrosser" genannt wurden; zu diesen Einrossern gehörte auch Lippold v. Oertzen [CCCXV]. Im März 1497 schickte der Herzog auf Begehren des Kaisers die meisten

Pferde, namentlich die fremden, nach Schwerin zurück, so daß er nur 78 Pferde bei sich behielt; sicher wird Lippold bei dem Herzoge geblieben sein, da er bis zum J. 1505 überall nicht weiter genannt wird. Im März 1498 war der Herzog noch beim Kaiser zu Inspruck, ging aber bald darauf zum Besuche nach Meklenburg, von wo ihn jedoch der Kaiser am 26. Oct. 1498 zurückforderte. Der Herzog wird im Frühling 1499 wieder in Meklenburg gewesen sein, da er am 24. Mai 1499 von dem Herzoge Friedrich von Holstein 2000 Goldgulden lieh, wofür sich auch Sivert v. Oertzen verbürgte [CCCXVII]. Die kaiserliche Bestallung für den Herzog ward am 21. Aug. 1500 erneuert, am 1. Mai 1501 mit der Rathswürde verbunden und am 28. April 1502 auf ein Jahr verlängert. Da nun des Herzogs Vater Magnus II. am 20. Nov. 1503 starb und Heinrich dadurch zur Regierung kam, so hörte hiemit das Dienstverhältniß beim Kaiser auf. Der Dienst forderte großen Aufwand, zu welchem der Sold nicht immer bezahlt ward, sondern in großen Summen rückständig blieb, wofür der Kaiser dem Herzoge im J. 1502 die bekannte Exspectanz auf die Landgrafschaft Leuchtenberg gab.

Dieser Dienst, welchen Lippold v. Oertzen an dem glänzenden und bewegten Hofe des ritterlichen Kaisers, in der Begleitung des jungen Herzogs hatte, verlieh dem jungen, ritterlich gesinnten Manne eine besondere Gewandtheit und die Zuneigung eines wohldenkenden Fürsten, an dessen Hofe er noch lange in glänzenden Festen und ernsten Berathungen wirkte.

Lippold v. Oertzen wird in den ersten Jahren der Regierun gdes Herzogs Heinrich wenig genannt. Am 31. Oct. 1505 half er mit seinen Brüdern Sivert und Jaspar die täglichen Marienzeiten in der Kirche zu Neu-Bukow mitstiften [CCCXXVII] und im J. 1506 ward er mit denselben zur lübeker Fehde aufgeboten. Bald darauf wird Sivert v. Oertzen gestorben sein und die beiden Brüder Jaspar und Lippold erscheinen allein im Besitze der väterlichen Güter. Wahrscheinlich setzten sie sich bald auseinander und theilten die Güter, indem seit dem J. 1508 Jaspar auf Roggow und Lippold

auf Berenshagen wohnhaft erſcheint; nach ſpätern Verhandlungen waren Lippold außerdem wenigſtens noch die Güter Gorow, Wakendorf und Ravensberg zugefallen. Am 8. Junii 1508 verpfändete Lippold v. Oertzen den von dem Ritter Heinrich v. d. Lühe auf Buſchmühlen und deſſen Gemahlin geſtifteten großen Marienzeiten 17½ Mark lüb. Pacht aus ſeinem Dorfe Wakendorf [CCCXXXVI]. Am 5. Nov. 1508 feierte ſein Bruder Jaſpar glänzend ſeine Hochzeit zu Wismar (vgl. oben S. 56) und am 24. Nov. 1508 waren beide Brüder bei ihrem Vetter Mathias zu Buſtrow [CCCXXXVIII].

Auch Lippold v. Oertzen wird ſich um dieſe Zeit vermählt haben, da er auf den großen fürſtlichen Feſten in den Jahren 1512 und 1513 überall „mit der Frau" auftritt. Als ſeine Gemahlin wird in ſpäteren Urkunden ſehr häufig Anna v. Bülow aus dem Hauſe Plüſchow genannt.

Die Jahre 1512 und 1513 ſahen mehrere große und berühmte Fürſtenfeſte, an welchen auch Lippold v. Oertzen in den beſten Jahren ſeiner Manneskraft und jungen Ehe Theil nahm und die Erwartungen ſeiner rittermäßigen Ausbildung an dem prachtvollen Hofe des Kaiſers Maximilian im Gefolge des jungen Herzogs Heinrich von Meklenburg glänzend rechtfertigte.

An dem berühmten Turniere, welches der Kurfürſt Joachim I. von Brandenburg am 24.—27. Februar 1512 zu Neu-Ruppin hielt, nahm Lippold v. Oertzen keinen Theil; vielleicht hielt ihn noch Familientrauer von der lauten Freude zurück.

Dagegen zog er mit ſeinem Bruder Jaſpar mit zu der Vermählung der Princeſſin Katharine von Meklenburg mit dem Herzoge Heinrich von Freiberg, welche am 5. Julii 1512 zu Freiberg mit großer Pracht gefeiert ward (vgl. oben S. 60). Zu dieſem feſtlichen Zuge ward auch „Lippolds Frau" geladen, Lippold mußte alſo damals ſchon verheirathet ſein. Auf dieſem großen Feſte turnierte Lippold in dem meklenburgiſchen Turnier von 6 Paaren [CCCL]; wenn auch ſein Bruder Jaſpar dazu angeſagt war [CCCXLIX], ſo mußte

dieser doch Abhaltung erhalten haben und für ihn sein Bruder eingetreten sein, der zum ernsten Ritterspiel alle Befähigung hatte.

Lippold v. Oertzen bewährte seinen Ruhm auch auf den großen Festen, welche zur zweiten Vermählung des Herzogs Heinrich am 3. Junii 1513 zu Wismar gehalten wurden (vgl. oben S. 60). Er war mit seinem Bruder Jaspar überall, wo den Fürsten Aufmerksamkeit und Ehre erwiesen ward. Er mußte mit Achim v. Bredow den Herzog von Sachsen-Lauenburg auf der Landesgrenze empfangen und nach Wismar führen, am Hochzeitstage der Braut vor dem Tische stehen, und das große Turnier mit ausführen, auf welchem er im Vorturnier den ersten Dank, den „Spieß", gewann. Auch an dem zur Nachfeier der Hochzeit zu Wismar am 6. Sept. 1513 gehaltenen Turnier nahm er Theil, hatte hier jedoch den Unfall, den Spieß zu zerbrechen.

Diese frohen und kräftigen Regungen einer alten, glänzenden Zeit scheinen die letzten ihrer Art in Mecklenburg gewesen zu sein. Das Ritterthum ging von selbst seinem Ende entgegen und die römische Kirche brach vor der Gewalt der Reformation auseinander. Die Zeit ward ernster und kälter, und so sehen wir Lippold fortan nur in ernsten Geschäften, wozu ihn außerdem auch noch das Schicksal der Herzoge trieb, indem den friedfertigen Herzog Heinrich häusliche Leiden und geschäftliche Widerwärtigkeiten verfolgten, der Herzog Albrecht aber bald zur papistischen Kirche zurückfiel und seine Kraft in erfolglosen Unternehmungen verschwendete.

Am 19. Jan. 1515 wurden die Brüder Jaspar und Lippold nach dem Aussterben des Geschlechts v. Jesewitz mit dem heimgefallenen Hofe Bolland belehnt und dadurch die Güter des Hauses Roggow um ein Beträchtliches vergrößert [CCCLVIII] (vgl. oben S. 12). Im J. 1513 und später verhandelten beide Brüder über ihr mütterliches Erbe mit den v. Flotow auf Stur [CCCLI]. Um dieselbe Zeit und vor dem Jahre 1520 starb das v. örtzensche Haus Kl. Tessin aus, dessen nachgelassene Güter zu allerlei Streitigkeiten Veranlassung gaben. Am 30. Nov. 1519 übernahm Lippold v. Oertzen zu

Berenshagen, für die Priesterschaft der Nicolai-Kirche zu Wismar eine Schuld des weiland Wulf von der Lühe auf Vogelsang des Betrages von 200 Mark lübisch einzumahnen [CCCLXII], und am 27. März 1520 lieh er von derselben Priesterschaft 150 Mark lübisch [CCCLXIV], vielleicht nachdem er die Schuld des Wulf v. d. Lühe eingetrieben hatte. Am 25. Dec. 1520 waren Lippold v. Oertzen zu Berenshagen, Mathias v. Oertzen zu Wustrow, Jürgen Fineke zu Gresse, Hardenack v. Bibow zu Westenbrügge und Eckhard v. Bibow zu Tützen Bürgen, als Jaspar Fineke seine Tochter Margarethe ins Kloster Neukloster gab und aussteuerte [CCCLXV]; wahrscheinlich waren die genannten Bürgen alle mit dem Aussteller und mit einander verwandt. Am 1. Aug. 1523 besiegelten Jaspar und Lippold v. Oertzen die Union.

Im J. 1526 starb Lippolds v. Oertzen älterer Bruder Jaspar und hinterließ nur einen Sohn Sivert, welcher bei seines Vaters Tode erst ein Jahr alt sein mochte und bis zu seiner Volljährigkeit mit 18 Jahren unter Lippolds Vormundschaft stand, da dieser für ihn den Roßdienst leistete. Bei der großen Ausdehnung der Güter war die Last der Geschäfte gewiß bedeutend und Unannehmlichkeiten blieben auch nicht aus, wie er im J. 1529 mit seines Bruders Wittwe und deren Kindern wegen des „Bauwerks" in Streit gerathen war [CCCLXXIX].

Als der Herzog Albrecht von Meklenburg am 11. Nov. 1526 seiner Gemahlin für ihr Ehegeld von 5000 Gulden Schloß und Vogtei Lübz mit gewissen, einzeln aufgeführten „unverpfändeten Hebungen" aus dem Amte Lübz und den Aemtern Crivitz, Goldberg und Bukow verschrieb und gewisse Personen aus der Ritterschaft dieser Aemter anwies, wies er an sie aus dem Amte Bukow „Lippold von Oertzen zum Berenshagen mit 5 Pferden."

Mit Jaspars Tode trat in dem Güterbesitze keine Veränderung ein: Sivert folgte seinem Vater in dem Besitze von Roggow mit den dazu gehörenden Gütern. In Lippolds Hause trat aber dadurch eine Veränderung ein, daß er, vielleicht mit der Ablösung von Berenshagen, bald nach seines Bruders Tode

seinen Wohnsitz nach Gorow verlegte: seit dem J. 1530 erscheint Lippold v. Oertzen nur als auf Gorow wohnend. Gorow, ohne Zweifel eine alte Pertinenz des Hauses Roggow, wird vorher nie genannt; wahrscheinlich baute Lippold zu Gorow einen Wohnhof, wie sein Sohn Vicke um das J. 1555 zu Gerdshagen einen adeligen Wohnhof aufführte. Durch den Bau Lippolds ward aber Gorow fortan ein Hauptgut der Familie v. Oertzen.

So zahlreich auch oft die Linien des Geschlechts v. Oertzen und deren Personen gewesen waren, so war doch das Geschlecht bald nach dem ersten Viertheil des 16. Jahrh. sehr zusammengeschmolzen. Die Linie Clausdorf-Garwensdorf war schon im 15. Jahrh., die Linie Kl. Tessin um das J. 1520 ausgestorben. Von der Linie Roggow war Jaspar I. auf Roggow im J. 1526 gestorben und hatte nur einen unmündigen Sohn, Siwert, hinterlassen; es lebte von der Linie nur noch Lippold II., der zwar zwei Söhne hinterließ, welche jedoch gegen das J. 1530 auch noch sehr jung sein mußten. Von der Linie Gammelin lebte in reiferm Alter nur noch der Ritter Mathias II. auf Wustrow, der zwar auch Söhne hatte, welche jedoch auch noch sehr jung sein mußten. Im Lande Stargard lebten von der gammeliner Linie nur Bernd und Marcus, beide jedoch unvermögend und unbeerbt. Von der alten stargardischen Linie lebte allein Jacob auf Grammertin, damals vielleicht noch ohne Kinder. Im Lande Meklenburg-Schwerin lebten also gegen das Jahr 1530 nur zwei männliche Glieder der Familie in reifern Jahren, Lippold von der Linie Roggow und Mathias von der Linie Gammelin, welche damals alle ihre Güter unverpfändet in Besitz hatten und sich eines gediegenen Wohlstandes erfreuten. Im August und Septbr. 1529 war die ansteckende Krankheit der Schweißsucht durch Meklenburg gezogen und hatte manche Gemüther bedenklich und furchtsam gemacht, namentlich auf dem Lande. Daher schlossen bei diesen Zuständen die lebenden, volljährigen Glieder der Familie v. Oertzen am 2. Februar 1530 eine Erbverbrüderung [CCCLXXXI] für den Fall, daß einer von ihnen ohne männliche Leibeserben mit Tode abgehen sollte. Nach dieser wich-

tigen und merkwürdigen Urkunde sollte für den Fall, daß Mathias auf Wustrow ohne Lehnserben sterben würde, von dessen Gütern das Gut Wustrow mit Zubehörungen an denjenigen aus dem Hause Roggow, welcher sich zum nächsten würde berechnen können, das Gut Kramonshagen mit Zubehörungen aber an Bernd und Marcus auf Helpte fallen; für den Fall, daß Lippold und seines Bruders Jaspar Sohn ohne Lehnserben sterben würden, sollten alle Lehngüter des Hauses Roggow an Mathias auf Wustrow fallen; für den Fall, daß, was allerdings vorauszusehen war, Bernd und Marcus ohne Lehnserben sterben würden, sollten deren Lehngüter an Mathias auf Wustrow fallen. Der Vertrag war sehr billig. Die Brüder Bernd und Marcus stammten aus der Linie Gammelin-Wustrow, also mußten deren Güter an diese Linie zurückfallen; der Vertrag wegen der Güter Wustrow und Roggow war ohne Zweifel geschlossen, um die Güter wieder möglichst zusammenzubringen und mit Rücksicht darauf, daß Bernd und Marcus die letzten ihres Hauses sein würden und dann die Linie Roggow der Linie Gammelin-Wustrow doch am nächsten stand. Die stargardische Linie stand allen Linien in Meklenburg-Schwerin ferner und konnte erst nach dem Aussterben aller dieser an deren Güter Anspruch machen; die Stargarder brauchten also gar nicht mit in den Vertrag gezogen zu werden. Alle Theile verpflichteten sich, für den Fall, daß einer seine Lehngüter verkaufen oder verpfänden wollte, dieselben den andern Theilen zuvor anzubieten. Dieser Hausvertrag kam nun freilich nicht zur Geltung; das Aussterben des alten Hauses Helpte war vorauszusehen, und so gingen dessen Güter angemessen durch Verkauf an Jacob v. Oertzen, den Stifter und Stammhalter der neuern sogenannten „helpter Linie", über, welche noch heute blühet, wie die Linie Roggow; die Linie Gammelin ist freilich erst im 18. Jahrh. ausgestorben, nachdem sie jedoch ihre Lehngüter in Allodien verwandelt hatte. In Gemäßheit dieses Vertrages war auch Lippold Zeuge und Bürge, als Mathias auf Wustrow am 24. Junii 1531 seine Besitzungen in Gr. Eixen von der Johanniter-Priorei Eixen wieder einlöfete [CCCLXXXIII]. Am 29. Aug. 1530 kaufte

Lippold v. Oertzen von dem Kloster Doberan pfandweise die Wassermühle zu Gr. Bölkow, welche seinem damaligen Wohnsitze Gorow benachbart war [CCCLXXXII]; diese Mühle ist jedoch während des v. örtzenschen Besitzes früh eingegangen.

Vom fürstlichen Hofe hielt sich Lippold v. Oertzen jetzt fern, da die Zeiten sehr ungünstig waren. Des Herzogs Heinrich zweite Gemahlin Helena war schon im J. 1524 gestorben und der Herzog vermählte sich erst in seinem letzten Lebensjahre wieder. Um das Jahr 1530 gingen die Wogen der Reformation sehr hoch. Der Herzog Albrecht und seine schwächliche Gemahlin Anna fielen ganz zur papistischen Kirche zurück und auf Unternehmungen, welche der Herzog Heinrich nicht billigen konnte. Daher ging auch kein Oertzen mit auf den denkwürdigen Reichstag von 1530, und am 25. Aug. 1532 entschuldigte sich Lippold v. Oertzen zu Gorow, daß er der Aufforderung zum Türkenzuge nicht folgen könne, da er zu solchen Zügen „mit Pferden ungeschickt" sei. Am 18. Sept. 1532 huldigte er zu Bützow als Lehnträger des Gutes Ravensberg mit den übrigen Vasallen des Bisthums Schwerin dem jungen Stiftsadministrator Herzoge Magnus [CCCLXXXV].

In dem letzten Zeitraume seines Lebens mußte Lippold v. Oertzen in wichtigen Angelegenheiten dem Herzoge Albrecht dienen, wenn auch seine Güter nicht in dessen Landestheile lagen. Schon am 13. Jan. 1533 lieh Lippold dem Herzoge 1000 Gulden [CCCLXXXVI]. Bald mußte jedoch Lippold v. Oertzen größere Anstrengungen für den Herzog Albrecht machen, als dieser den abentheuerlichen Kriegszug nach Dänemark unternahm. Der Herzog ließ sich durch eine trügerische Hoffnung auf den dänischen Thron verleiten, thätigen Antheil an der Wiederherstellung des dänischen Königs Christian II. und an der deshalb entstandenen sogenannten Grafenfehde zu nehmen. Dazu fehlte es ihm aber sowohl an der nöthigen Umsicht, als vorzüglich an Geld und gehöriger Vorbereitung. Daher mußten ihm, nachdem die Landstände ausreichende Beihülfen abgelehnt hatten, die reichern Vasallen Geld leihen oder für ihn bürgen. Am 1. Jan. 1535 lieh er z. B. von seinem Bruder Herzog Heinrich die Summe von 12000 Goldgulden,

wofür unter Andern auch der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow und Lippold v. Oertzen bürgen mußten [CCCLXXXVII]. Nach dem gewöhnlichen Anschlage hatten Mathias v. Oertzen auf Wustrow und „Lippold v. Oertzen (auf Gorow) und seines „Bruders Sohn (Sivert auf Roggow) 14 Pferde Roßdienst" zu stellen. Nach dem „Musterzettel der meklenburgischen Reu„ter zum dänischen Zuge" hatten aber Mathias nur 4, „Lippold „nur 1 und seines Bruders Sohn nur 2 Pferde" gestellt. Vor seiner Abreise nach Dänemark bestellte der Herzog eine Statthalterschaft zur Regierung des Landes, an deren Spitze der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow stand (vgl. Mathias). Am 8. April 1535 schiffte sich der Herzog mit seiner Gemahlin und dem ganzen Hofe in Rostock ein; der lübecker Burgemeister Wullenweber, nur 40 Reiter und 1 Fähnlein fremder Knechte waren seine ganze kriegerische Begleitung. Mit diesem Gefolge zog er am 16. April 1535 in Kopenhagen ein. So geringe Mittel reichten natürlich nicht aus und der Herzog drängte nach mehr Reitern. Er wünschte zunächst nur noch 40 Reiter und hatte am 25. April 1535 zu deren Zusammenbringung und Musterung zu Rostock Lippold v. Oertzen, als bewährten Reiter und Turnierer, Martin v. Bylow und den rostocker Burgemeister Bernd Krohn zu „Verordneten" bestellt [CCCLXXXIX]. Durch die Bemühungen des Ritters Mathias v. Oertzen, der dem Herzoge am Ende des Monats April zur Verhandlung nach Kopenhagen nachgesegelt gewesen war, hatte sich der Herzog Heinrich bereitwillig finden lassen, mit Hülfe der Landstände noch einige geworbene Reiter aufzubringen. Endlich entschlossen sich die Landstände am 5. Junii 1535, dem Herzoge Albrecht einige Hülfe zu gewähren; aber schon am 11. Junii ward die Sache zum Nachtheil des Herzogs entschieden und ein gewünschter Erfolg für immer unmöglich gemacht. Die bewilligten Reiter hatte Lippold v. Oertzen zu mustern, welcher dem Herzoge am 5. Julii 1535 die geschehene Musterung meldete, jedoch die persönliche Ueberführung der Reiter ablehnte [CCCXCII]. Des Herzogs Sache war mit seiner Niederlage gänzlich verloren; er ward in Kopenhagen eingeschlossen, das er endlich am 29.

Julii 1536 übergeben mußte, um mit Schulden überlastet nach Meklenburg heimzukehren. Zur Abwendung seiner Geldverlegenheit mußte er „zu seiner hohen Nothdurft" von seinem Bruder Herzog Heinrich am 3. Septbr. 1536 wieder 1400 Goldgulden leihen, wofür Mathias und Lippold wieder als Bürgen eintreten mußten [CCCXCV].

Zu derselben Zeit war auch die kirchliche Bewegung im Lande groß geworden und der Protestantismus dem Wesen nach durchgedrungen, wenn auch der Herzog Albrecht mit seiner Gemahlin zum papistischen Glauben zurückgefallen war. Der Herzog Heinrich der Friedfertige blieb fest bei der lutherischen Lehre, obgleich er jedes gewaltthätige Vorgreifen vorsichtig vermied. Während dieser ganzen Zeit, zunächst nach der dänischen Grafenfehde, wird Lippold v. Oertzen nicht genannt; er wird sich bei herannahendem hohen Alter zu stiller Wirksamkeit auf seine Güter zurückgezogen haben, wie der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow. Jedoch wird Lippold v. Oertzen in seinen letzten Jahren noch als Landrath aufgeführt; als solcher erscheint er am 10. Nov. 1538. Auf dem Landtage zu Parchim, auf welchem auch die beiden regierenden Herzoge Heinrich und Albrecht persönlich anwesend waren, stellte der junge Herzog Magnus, Herzogs Heinrich Sohn, als Administrator des Bisthums Schwerin, am 10. Nov. (am Abend Martini) 1538 „vor den regierenden Landesfürsten und ihren Landräthen" (wie die eigenen Worte des Herzogs Magnus lauten) den Antrag und die „Protestation", „in den Religionssachen eine gute Ordinanz aufzurichten", d. h. durch angemessene Ordnungen die protestantische Kirche zu befestigen, worauf die Herzoge, nach Berathung mit ihren Räthen, den Abschied gaben, daß sie diese „wichtige Sache in Bedenken ziehen" wollten. Der Herzog Magnus hat selbst einen schriftlichen Bericht über diesen Vorgang hinterlassen und hinzugefügt, „welche Räthe „dabei gewesen: der Abt von Doberan, der Präceptor von „Tempzin, Herr Mathias von Oertzen, der Canzler, Achim „Hahn, Dietrich Maltzan, Vicke Vieregge, Lippold von „Oertzen, Oethlof von Bülow, Heinrich Hahn, Vicke Bassewitz, Doctor Philipps Jacob Oseler." Hieraus geht mit

Sicherheit hervor, daß Lippold v. Oertzen damals Landrath war. Welche kirchliche Richtung er hatte, ist aber weder aus diesem Berichte, noch aus irgend einer andern Nachricht zu entnehmen, da der Adel in den Pfarren seines Patronats jede Einmischung der Landesherrschaft und jede Kirchenvisitation lange Zeit hartnäckig abzuwehren suchte. Es ist wahrscheinlich, daß Lippold v. Oertzen als ein bewährter und erfahrner Mann und vieljähriger Anhänger des Herzogs Heinrich neben dem begeistert protestantischen und gelehrten Landrath Dietrich Maltzan auf Grubenhagen auch Protestant war; aber es ist keine einzige Nachricht darüber vorhanden, da die Acten der Pfarren adeligen Patronats für die Zeit der Reformation äußerst geringhaltig sind.

Lippold v. Oertzen wird urkundlich zuletzt am 24. Febr. 1539 und Ostern 1540 aufgeführt, als die Maltzan die trechowschen Güter auf 15 Jahre an Achim v. Passow auf Zibberich verpfändeten [CCCXCVII], welchem dabei die „Güter und Pächte zu Zarnin und Boitin" angerechnet wurden, welche an „Lippold v. Oertzen verpfändet" waren; um Ostern 1540 waren diese Güter wieder eingelöset.

Hierauf wird Lippold v. Oertzen nur noch zwei Male in den „Landregistern des Adels" von 1543 und 1545 aufgeführt. Diese Register sind nun nicht immer zuverlässig, da sie oft längere Zeit hindurch aus ältern Registern fortgeführt wurden und die Veränderungen nicht immer regelmäßig und mit Sicherheit nachgetragen sind. Aber es ist wahrscheinlich, daß Lippold v. Oertzen, nachdem er im Landbuche des Adels vom J. 1545 zuletzt aufgeführt wird, im J. 1545 starb, da er am 6. Dec. 1545 sicher todt war, indem an diesem Tage „Jürgen und Bicke Gebrüder die Oertzen, des seligen Lippold v. Oertzen Kinder", ihre Einwilligung ertheilten, als Bernd v. Oertzen zu Woldeck seinem Vetter Jacob v. Oertzen zu Grammertin das Gut Helpte verpfändete [CCCXCIX]. Daß in der Abschrift der Urkunde vom 6. Jan. 1536 schon „seliger Lippolds v. Oertzen Sohn zu Roggow" genannt wird [CCCXCIV], ist ohne Zweifel ein Versehen, da damals Lippold sicher noch lebte und man in der Urkunde „Jaspars Sohn"

lesen muß. Im J. 1545 wird auch zuerst „Anna v. Bülow, Lippolds v. Oertzen Wittwe", nach einem Actenstücke im wismarschen Archive erwähnt. Seit dem Jahre 1545 wird Lippold v. Oertzen nicht mehr genannt, dagegen erscheinen fortan seine Söhne Jürgen und Vicke. Lippold v. Oertzen wird ungefähr 70 Jahre alt geworden sein.

Lippolds v. Oertzen Gemahlin war Anna von Bülow, aus dem Hause Plüschow, welche ihren Gemahl längere Zeit überlebte. Zu einem Zeugniß vor fürstlichen Commissarien ward in der Zeit 1550—1560 und vor 1560 „Anna von „Bülow, Lippolds von Ortzen seligen verlassene Wittwe", verhört [CCCCV]. In der Leichenrede auf ihre Enkelin Valentine Vieregge vom J. 1592 wird gesagt: „Ihre Mutter ist ge„wesen Anna von Oertzen, deren Vater Lippelt von Oertzen „zu Gerdshagen und desselben Hausfrau Anna von Bülow „von Plüskow bürtig dieser seligen Frauen Großältern von „der Mutter wegen gewesen sein." In einem Zeugenverhöre vom 13. April 1565 sagt Vicke v. Oertzen, Lippolds Sohn, für Vicke v. Bülow auf Harkensee, daß er und Vicke v. Bülow „Schwester und Bruder Kinder" seien; also war Vicke's Mutter eine geborne v. Bülow. Auf dem Leichensteine des Vicke v. Oertzen, Lippolds Sohn, in der Kirche zu Satow ist Anna v. Bülow mit Namen und Wappen als die Mutter Vicke's angegeben. Die Wittwe scheint bis gegen das Jahr 1560 gelebt und zeitweise auf dem Gute Tützen gewohnt zu haben, welches Lippold und nach ihm seine Söhne von den Moltken „pfandesweise innehatten"; es wird im J. 1563 in einem Zeugenverhöre gesagt, daß einmal „Jürgen und Vicke v. Oertzen mit ihrer Mutter allda gewesen" seien.

Lippold v. Oertzen hinterließ wenigstens 6 Kinder, sicher 2 Söhne, Jürgen und Vicke, und 4 Töchter. Die beiden Söhne Jürgen und Vicke werden sehr häufig in vielen sichern Originalschriften Lippolds Söhne genannt, und ihr ganzes Leben liegt sehr klar vor. Die bisherigen Genealogien sind ganz falsch, indem sie Jürgen gar nicht nennen, und noch in neuern, sonst strebsamen Forschungen Sivert auf Roggow und Vicke auf Gerdshagen als Söhne Jaspars aufführen. Von den

Töchtern Lippolds v. Oertzen werden drei in den Lehnacten ganz bestimmt bezeichnet, indem die Brüder in der Zeit 1550—1560, vor dem J. 1560, mit einem ihrer Schwäger, Ulrich v. Stralendorf, über den Brautschatz ihrer Schwester in Streit kamen. Ulrich v. Stralendorf auf Goldebee hatte Lippolds Tochter Mette geheirathet und mit derselben 1000 Gulden Brautschatz empfangen, wie zwei andere Töchter Lippolds, welche an Martin v. Halberstadt und Christoph v. Flotow verheirathet waren, war aber damit nicht zufrieden, sondern machte größere Anforderungen an den Nachlaß seines Schwiegervaters [CCCCV]. Außer diesen drei Töchtern hatte Lippold v. Oertzen sicher noch eine Tochter, welche an Valentin v. Vieregge verheirathet war. Die Kinder Lippolds II. v. Oertzen waren also:

| | | |
|---|---|---|
| 27. Jürgen. | 28. Vicke. | 29. Mette. |
| 30. Tochter N.N. | 31. Magdalene. | 32. Anna. |

## 22.

## Katharine.

Gem. Jaspar Sperling.

1506—1522.

§. 57. G. IX.

Eine Tochter Siverts II. v. Oertzen auf Roggow war wahrscheinlich Katharine v. Oertzen. Nach den genealogischen Stammtafeln des Ministers v. Gamm war Katharine v. Oertzen aus dem Hause Gerdshagen 1506 an den herzoglichen Rath Jaspar Sperling auf Rubow vermählt, welcher zwei Söhne, Jaspar und Heinrich, und einen Enkel Jaspar Sperling auf Rubow hatte. Beweisen läßt sich dies nicht; auch konnte damals Katharine noch nicht aus dem Hause Gerdshagen stammen, weil damals noch kein herrschaftliches Haus zu Gerdshagen stand. Jedoch wird diese Verwandtschaft ihre

Richtigkeit haben, da nach Originalnachrichten des wismarschen Stadtarchivs eine „Katharine von Oertzen", wahrscheinlich Sperlings Wittwe, in den Jahren 1520–1522 eine Bude auf dem Marienkirchhofe zu Wismar für 3½ Mark jährlicher Miethe von der Verwaltung der Marienkirche zur Miethe hatte. Vielleicht starb sie im J. 1526, da es in den Rechnungen der St. Georgenkirche zu Wismar zu diesem Jahre heißt: „Item VIII s. clockengelt van Ortzenn" und ihr vielleicht auch von der Georgenkirche nachgeläutet ward. Möglich ist es aber auch, daß hiemit Jaspar I. v. Oertzen, Katharinens muthmaßlicher Bruder, gemeint ist, welcher im J. 1526, vielleicht in Wismar, gestorben ist. Vgl. oben S. 64.

## 23.

## Siverts II. Tochter N.N.

Gem. Mathias von Bredow.?

1526.

§. 58. G. IX.

Eine andere Tochter Siverts II. auf Roggow war wahrscheinlich die Gemahlin des Mathias v. Bredow. Als um das Jahr 1520 das v. örtzensche Haus Kl. Tessin ausgestorben war, klagte Mathias v. Bredow um das Jahr 1525 als „Vormund seiner ehelichen Hausfrau" gegen die Brüder Jaspar und Lippold v. Oertzen, wegen Segebands v. Oertzen auf Kl. Tessin nachgelassener Güter, an welche die v. Bredow auch Ansprüche machen zu können glaubte [CCCLXXIII flgd.]. Um das Jahr 1525 waren die Angelegenheiten noch nicht geordnet und die Brüder v. Oertzen wurden wieder vorgeladen [CCCLXXIV]. Am 26. Nov. 1526 trug Mathias v. Bredow wieder auf einen neuen Termin an und nannte dabei die Brüder v. Oertzen „seine Schwäger" [CCCLXXV]. Weiter läßt sich diese Sache nicht verfolgen.

24.

## Anna, Nonne zu Rühn.

1495.

§. 59. G. IX.

Eine Tochter Siverts II. auf Roggow war wahrscheinlich Anna v. Oertzen, welche im J. 1495 Klosterjungfrau zu Rühn war. Als der Bischof Conrad von Schwerin am 28. Octbr. 1495 mit seinem Beistande und herzoglichen Bevollmächtigten die Einnahmen und Ausgaben des Klosters Rühn regelte, wurden dabei auch die Klosterjungfrauen namentlich aufgeführt, und zwar unter denen, die „binnen Klosters persönlich waren", auch „Anna von Oertzen."

---

25.

## Sivert IV.

1543 † 1589.

§. 60. G. X.

Jaspar I. auf Roggow hinterließ bei seinem frühen Tode im J. 1526 aus seiner zweiten Ehe mit Emerentia v. Buchwald nur Einen Sohn Sivert IV., welcher damals erst ungefähr ein Jahr alt war und bis zu seiner erreichten Volljährigkeit mit 18 Jahren unter der Vormundschaft seines Oheims Lippold II. auf Gorow stand. Da sein Vater Jaspar I. mit seinem Bruder Lippold II., nachdem ihre übrigen Brüder ohne Leibeserben gestorben waren, getheilt hatte, so traten, da beide Brüder Lehnserben hinterließen, mit dem Tode Jaspars I. keine Veränderungen im Güterbesitze des Hauses Roggow ein, indem Sivert IV., als einziger hinterlassener Sohn Jaspars I. in den Besitz der Güter seines Vaters folgte. Sivert IV. führte ein stilles Leben auf seinen Gütern und deshalb ist er nur wenig genannt und die Erforschung seines Lebens mit großen Schwierigkeiten verbunden. Der Mangel an Nachrichten über

die Familie v. Oertzen aus dem 16. Jahrh. ist durch unbekannte Zufälle so groß, daß in den Acten aller v. örtzenschen Lehngüter kein einziges Actenstück vorkommt, welches Sivert IV. nennt, und daß überhaupt die Lehnacten der Linie Roggow im Staats-Archive zu Schwerin erst mit dem Ende des 16. Jahrh., mit dem J. 1585, beginnen, eine sehr seltene Erscheinung. Auch der Hofmarschall v. Oertzen aus Roggow hat kein Actenstück von oder über Sivert IV. auffinden können. Ja, Sivert IV. ist in frühern Zeiten, obgleich er Stammhalter war, in den Stammtafeln ganz übersprungen und mit Sivert III. verwechselt, welcher gar keine Lehnserben hinterließ und schon um das Jahr 1506 starb; die Schwierigkeit ist dadurch noch vermehrt, daß man mitunter sogar Siverts IV. Vater Jaspar I. mit dessen Enkel Jaspar II. verwechselt hat, welcher erst im J. 1618 starb.

Dennoch liegt Siverts IV. Leben ganz klar vor. Nach der Ahnentafel (vgl. oben S. 34 flgd.) war er der Sohn Jaspars I. und der Vater Jaspars II. Seine Abstammung beweiset, außer mehrern beiläufigen Aeußerungen, die Verpfändung von Helpte vom 6. Dec. 1545 ganz bestimmt. Bei seines Vaters Tode, der im J. 1526 erfolgt sein wird, war er ungefähr ein Jahr alt. In einem gerichtlichen Zeugenverhöre in Wismar vom J. 1567 ward auch „Sivert v. Oertzen „erbgesessen zu Ruggow verhört", welcher bekannte: „er heiße „Sivert v. Oertzen, sei adeligen Standes, habe Edelmanns „Nahrung und sei bei 40 Jahren alt." Hiernach wird Sivert IV. im J. 1525 geboren und im J. 1543 mit 18 Jahren volljährig und selbstständig geworden sein. Und wirklich tritt er zuerst im J. 1543 selbstständig auf. Bis zum J. 1530 werden nur „Jaspars v. Oertzen zu Roggow seligen Kinder" genannt; nur einmal, um das J. 1526, wird in der Lehnrolle des Bisthums Schwerin auch „Sigfrid v. Oertzen zu Roggow" als Lehnmann des Stifts verzeichnet. In dem Erbvertrage vom 2. Febr. 1530 [CCCLXXXI] werden noch „seligen Jaspars von Oertzen Kinder" genannt. Im J. 1535 wird im Roßdienstregister für das ganze Haus Roggow mit „14

Pferden" nur „Lippold von Ortzen sammt seines Bruders Sohn" aufgeführt.

Als der Herzog Albrecht von Meklenburg am 6. Jan. 1536 von Joachim Maltzan auf Osten die Summe von 6000 Goldgulden lieh, mußte unter vielen andern Bürgen vom Adel auch „seligen [Jaspars] von Oertzen Sohn zu Roggow, da er reich war, als Bürge eintreten [CCCXCIV]. In der sicher richtig datirten Urkunde, welche nur in einer Abschrift vorhanden ist, wird zwar „seligen Lippolds Sohn" genannt; dies muß aber ein Versehen gewesen sein, da Lippold im J. 1536 noch lebte und späterhin nicht einen Sohn, sondern zwei Söhne hinterließ, auch nie auf Roggow wohnte: es kann also nur Jaspars Sohn gemeint sein.

Zuerst wird Sivert IV. im J. 1543 im Landregister des Adels des Amtes Bukow selbstständig aufgeführt: „Lippold von Oertzen zu Gurow, Siverdt von Oertzen zu Roggow," und dies im Landregister von 1545 wiederholt. Sivert IV. wird fortan ungefähr ein Vierteljahrhundert als auf seinem väterlichen Erbgute Roggow wohnend erwähnt. In einem Verzeichnisse v. wopersnowscher Briefe wird: „Siverths von Oertzen zu Roggow Schadlosbrief für 1000 Goldgulden Anno 1544" ohne weitere Inhaltsangabe aufgeführt. Ganz klar und urkundlich bestimmt tritt Sivert v. Oertzen auf, als am 6. Dec. 1545 Bernd v. Oertzen, damals zu Woldeck wohnhaft, sein Gut Helpte an Jacob v. Oertzen auf Grammertin von der stargardischen Linie verpfändete: „mit Bewilligung" auch „Siverdts von Oertzen, des seligen Jaspars von Oertzen Sohns" [CCCXCIX]. Ungefähr um dieselbe Zeit wird „Sifrid von Oertzen zu Roggow" in den Lehnrollen des Stifts Schwerin als Lehnträger des Gutes Ravensberg aufgeführt, und eben so im Contributions-Register vom J. 1555 als „Sivert von Oertzen zu Roggow." Nach einem Verzeichniß v. wopersnowscher Urkunden hatte im J. 1557 „Adam v. „Podelwils einen Schadlosbrief an Volrath Sperling auf 1150 „Gulden gegeben, welche er von Sivert von Oertzen entlehnt" hatte. Im J. 1559 war „Sivert von Oertzen zu Roggow" Bürge für die Herzoge.

Als die Landeshülfen im J. 1559 nicht so viel betrugen, daß die fürstlichen Schulden damit bezahlt werden konnten, mußten der Herzog Johann Albrecht und der „Ausschuß der Landschaft" zu neuen Geldanleihen schreiten, um die alten Schulden zu bezahlen; unter andern liehen sie auch von Paris Hahn zu Basedow 10,000 Gulden, für welche Summe sich 45 Bürgen vom Adel verbürgten; unter diesen Bürgen waren aus dem örtzenschen Geschlechte auch: „Jürgen v. Oertzen zu „Gorow, Sivert v. Oertzen zu Roggow und Vicke v. Oertzen „zu Tützen." Von diesen haben Jürgen und Vicke v. Oertzen die Urkunde untersiegelt, Sivert v. Oertzen jedoch nicht, obgleich die Wachspresseln für das Siegel angehängt ist. Die Schuldverschreibung ward „Antonii 1560" ausgestellt; am „19. Januar 1560" ward unter mehrern auch Sivert v. Oertzen aufgefordert, sein Siegel an die Urkunde zu hängen, „da er darin zum Bürgen gesetzt" sei; an der eingelöseten Original-Urkunde ist jedoch Siverts Siegel nicht ausgedrückt. Im J. 1562 wird „Sivert von Oertzen zu Roggow" im Landbuche des Adels aufgeführt und im J. 1567 legte er vor dem Magistrate zu Wismar in einem Processe des Vicke v. Oertzen gegen Magdalene Vieregge zu Wokrent wegen Injurien Zeugniß ab, in welchem er auch bekannte, daß er damals 40 Jahre alt sei.

Bis gegen das Jahr 1570 hatte Sivert IV. seinen Wohnsitz zu Roggow gehabt; seit dieser Zeit wird sein Wohnsitz Clausdorf genannt, während sein Sohn Jaspar von der Zeit an selbstständig auf Roggow wohnhaft erscheint. Der Vater wird also um das Jahr 1570 das Hauptlehen seinem Sohne zur eigenen Verwaltung abgetreten haben; aus welchen Gründen, ob aus Leibesschwäche oder Neigung zum zurückgezogenen Leben, läßt sich nicht ermitteln. Als am 26. Aug. 1571 die Brüder Paschen und Dethlof Negendank sich über die von ihrem Vater Achim und ihrer Mutter Katharine v. Anefeld „wegen Alters-Unvermögenheit" ihnen abgetretenen Güter Eggerstorf und Zierow auseinandersetzten, war der „Beistand „Dethlofs Negendank aus ihrer Freundschaft: Sivert v. Oer„tzen zu Clausdorf, Hans v. d. Lühe zu Vogelsang, Jürgen

„und Martin Bibow, Brüder, zu Berenshagen, und Jaspar „v. Oertzen zu Roggow;" bei der endlichen Theilung zwischen beiden am 15. März 1573 waren „Sivert v. Oertzen zu „Clausdorf, Georg Bibow zu Berenshagen und Jaspar v. „Oertzen zu Roggow" wieder „Freunde und Beistand" Dethlofs Negendank.

Am 29. Junii 1573 gaben „zu Wustrow Sivert, Vicke „und Jaspar, Gevettern, Vater und Sohn, von Oertzen, zu „Clausdorf, Gerdeshagen, Gurow und Roggow ihre Zustim„mung zu der Verpfändung des dem gammeliner Hause ge„hörenden Gutes Cramonshagen" durch Joachim v. Oertzen auf Wustrow, indem die v. Oertzen aus dem Hause Roggow der Pfandnahme wegen zu großer Entfernung entsagten. Als im April 1575 die Söhne des Jacob v. Oertzen auf Helpte aus der stargardischen Linie ihre väterlichen Lehngüter mutheten, mutheten sie zugleich für den Fall einer etwanigen Eröffnung auch die Lehen ihrer „Vettern im Lande Meklenburg", namentlich auch die Lehen „Siverts v. Oertzen sammt seines „Sohnes zu Roggow und Clausdorf gesessen". Am 17. Jan. 1577 werden zu Güstrow „Sigfried und Jaspar Vater „und Sohn die Oertzen zu Roggow, Clausdorf, Gerds„hagen und Gurow" als des Stifts Schwerin Lehnleute aufgeführt; die Sitze Gerdshagen und Gorow können hier nur als eventuelle Anfälle genannt sein, da damals Vicke v. Oertzen, der Besitzer dieser Güter, noch am Leben war. Als Antonii 1578 die Brüder v. Oertzen aus dem Hause Gammelin ihrem Schwager Christoph Schwantener das Gut Schossin verpfändeten, gaben auch „Siverd, Vicke und Jaspar Vater, „Sohn und Vetter, v. Oertzen zu Clausdorf, Gerdshagen, Go„row und Roggow" ihre Einwilligung.

Im J. 1578 trat für die Linie Roggow das wichtige Ereigniß ein, daß das neu gegründete Haus Gorow-Gerdshagen ausstarb. Lippold II. hatte zwei Söhne, Jürgen und Vicke, hinterlassen, welche die Güter Gorow und Gerdshagen ausgebauet und bewohnt hatten. Jürgen war schon vor dem Jahre 1571 gestorben; Vicke starb im J. 1578. Beide hatten keine männlichen Lehnserben hinterlassen, und daher fielen ihre

Güter mit Zubehörungen an „Sivert IV. auf Clausdorf" und dessen Sohn Jaspar I., aus dem Hause Roggow. Da Jürgen und Vicke auch keine Brüder hatten, so kamen alle Güter des Hauses Roggow wieder in Eine Hand. Beide hatten jedoch Töchter hinterlassen und daher kamen die Güter nicht gleich nach dem Tode der Erblasser in den Besitz des roggowschen Hauses.

Mit den Gütern Gorow und Gerdshagen fiel auch das Gut Kl. Tessin an das Haus Roggow. Nach dem Aussterben der Linie Kl. Tessin und dem Tode der Erbtochter war das Gut Kl. Tessin an das Haus Gammelin, also an den Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow, gefallen. Nach dessen Tode hatte aber die Mutter seiner minderjährigen Söhne während ihrer Minderjährigkeit, „als sie mit Vormündern noch unversorgt" waren, also ungefähr zwischen 1550 und 1560, das Gut an die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen auf Gorow und Gerdshagen verkauft, nach deren Tode es an Sivert IV. gefallen war. Die Söhne des Ritters Mathias stellten daher bald nach dem Absterben der Brüder Jürgen und Vicke am 12. Jan. 1579 eine Reluitionsklage gegen Sivert IV. an und widerholten dieselbe 1580 und 1581, jedoch ohne Erfolg. Das Haus Roggow blieb längere Zeit im Besitze des Gutes Kl. Tessin, bis es Sivert auf Gerdshagen und Clausdorf am 15. Sept. 1619 verkaufte.

Nach dieser Zeit wird Sivert IV. nur noch einige Male genannt. Im Verzeichnisse der Ritterschaft vom Jahre 1580 werden „Siegfried von Oertzen zu Gerdshagen und Clausdorf und Jaspar von Oertzen zu Roggow" aufgeführt; am 4. Nov. 1581 erscheint Sivert IV. „auf Gerdshagen zu Wakendorf." Daß Sivert IV. im J. 1585 noch lebte, geht aus einem Briefe seines Sohnes Jaspar vom 13. Febr. 1585 hervor, welchen dieser noch als „Caspar von Oertzen zu Gorow, Sigfrits Sohn", unterzeichnet; er würde sich sicher „seligen Sigfrits Sohn" genannt haben, wenn sein Vater damals nicht noch am Leben gewesen wäre. In den Jahren 1599 und 1601 wird wiederholt „Sivert von Oertzen Jaspars von Oertzen „seliger Vater" genannt.

Sivert IV. starb am 18. Dec. 1589 zu Gerdshagen und ward in der Kirche zu Russow begraben; am Sonntage vor seinem Tode stiftete er für die Pfarren zu Russow und zu Satow, zu welcher Gerdshagen eingepfarrt ist, Vermächtnisse. Der Pastor Johann Röpke zu Satow berichtet bei der Kirchen-Visitation am 1. Junii 1599: Anno 1589 den 18. Decemb. „starb Siver von Ortzen s. zum Gerdeshagen, welcher unter „andern den Sontagk fur seinem Todte (dom. 3. Advent) zu „mir sagte, das er gelt in die kirche zu Russow, da er be„graben wart und der Ortzen lehn ist, und Satow gelt ge„geben, davon der Pastor seine Zinse jerlich zu genieſſen ha„ben sollte."

Siverts IV. Gemahlin war nach der Ahnentafel (vgl. S. 34) Ingeburg von Penz von Redevin; weiter wird sie beim Mangel aller Acten nicht genannt, die Ahnentafel ist aber gewiß zuverlässig, da sie wiederholt in der dritten und vierte Generation nach Sivert übereinstimmend aufgemacht wird.

Sivert IV. hinterließ nur einen Sohn Jaspar II., welcher nach seines Vaters Tode der einzige Stammhalter des ganzen Hauses Roggow war und alle alten Lehen desselben noch einmal in Einer Hand vereinigte. Auch wird Sivert IV. Töchter hinterlassen haben; jedoch sind dieselben noch nicht bestimmt ermittelt. Diese und der Stammhalter Jaspar und dessen Nachkommen bleiben der fernern Untersuchung in dem letzten Theile dieses Werkes vorbehalten, welcher beginnen muß mit Siverts IV. auf Roggow einzigem Sohne

## 36. Jaspar II.

26.

## Anna.

Gem. Volrath Sperling.

(1544) — 1597.

§. 61. G. X.

Es ist wahrscheinlich, daß Jaspar I. von Oertzen auf Roggow auch wenigstens eine Tochter hinterließ. Muthmaßlicher Weise war diese Anna v. Oertzen, welche mit Volrath Sperling auf Schlagsdorf zu Keetz vermählt war. Sie war sicher aus dem Hause Roggow, da sie fast nur mit Mitgliedern dieses Hauses erscheint, und der Zeit nach stimmt sie zu Sivert IV. auf Roggow, welcher wahrscheinlich ihr Bruder war. Schon in den Jahren 1544 und 1557 verschrieb sich, wahrscheinlich in Folge ihrer Vermählung, Sivert auf Roggow gegen Volrath Sperling (nach v. wopersnowschen Urkunden-Verzeichnissen). Volrath Sperling wird aber nicht alt geworden sein, da er schon vor dem J. 1582 starb. Im J. 1582 wird „Anna v. Oertzen seligen Volraths Sperling Wittwe" in den Lehnacten genannt. Im J. 1589 war sie bei dem Leichenbegängniß des Paul v. Bülow zu Plüschow, bei welchem von der Familie v. Oertzen außer ihr noch Jaspar v. Oertzen mit Frau und Töchtern, Vickes v. Oertzen auf Gerdshagen Wittwe und Joachim v. Oertzen auf Wustrow waren (vgl. Bülowen-Buch, alte Ausgabe, Beil. S. 79). Im J. 1597 wohnte sie in Wismar und machte ihr Testament, durch welches sie unter andern dem Superintendenten Dinggrav 1 Rosenobel, jedem Kaplan zu S. Marien 2 Thaler, zum S. Marien-Kirchenbau 50 Thaler und zur Almosentafel derselben Kirche 50 Thaler vermachte. Sie wird bald darnach gestorben sein.

## 27.

## Jürgen.

1545—1560.

§. 62. G. X.

Lippold II. v. Oertzen auf Gorow hinterließ sicher zwei Söhne, Jürgen und Vicke, welche in vielen Original-Urkunden ausdrücklich genannt werden. Lippold II. starb im J. 1545; seine Wittwe überlebte ihn bis gegen das Jahr 1560. Da die Brüder Jaspar I. und Lippold II. die roggower Güter getheilt hatten und beide Lehnserben hinterließen, so folgten Lippolds II. Söhne ihrem Vater in dem Besitze von Gorow mit Zubehörungen, welches dieser besessen und aufgebaut hatte. Jaspar I. und sein Sohn Sivert IV. besaßen sicher Roggow mit den Zubehörungen Russow, Vorwerk und Wakendorf, sowie Clausdorf und Garwensdorf und Ravensberg; Lippolds Söhne besaßen Gorow und Gerdshagen mit Goldberg, sowie das Pfandgut Tützen, endlich das örtzensche Gut Kl. Tessin, welches sie 1550—1560 von der Linie Gammelin kauften. Diese Theilung und die Einrichtung dieser Güter hat für die folgenden Zeiten lange die Norm für mehrere Häuser der Linie Roggow gegeben.

Jürgen und Vicke v. Oertzen werden, stets in dieser Reihenfolge, Söhne Lippolds und Brüder genannt. Am 12. Febr. 1553 stellen „Jürgen und Vicke Gebrüder die Oertzen „erbgesessen zu Gurow" dem Ulrich Stralendorf zu Goldebee eine Quittung aus [CCCCIII]. In einem Processe, welchen 1562—1568 Vicke v. Oertzen gegen Otto Moltke auf Belitz wegen des Besitzes des Gutes Goldberg führte, wird sehr häufig gesagt, daß Lippold Vickes Vater und Jürgen Vickes Bruder gewesen sei [CCCCVII]. Bestimmt treten die beiden Brüder gleich nach ihres Vaters Tode am 6. Dec. 1545 auf, als Bernd v. Oertzen sein Gut Helpte an Jacob v. Oertzen auf Grammertin verpfändete, „mit Bewilligung Jürgens und Vickes „Gebrüder der Oertzen, des seligen Lippold von Oertzen Kinder" [CCCXCIX]; die beiden Brüder werden hier noch Lippolds „Kinder" genannt, weil der jüngere Vicke damals wahrschein-

lich noch nicht volljährig war, indem seine Geburt ungefähr in das Jahr 1527 fallen wird.

Die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen wohnten zuerst zusammen auf dem Gute Gorow. Am 22. Jan. 1549 sagen „Jürgen und Vicke v. Oertzen erbgesessen zu Gurow" den Achim v. Bülow auf Simen von dem Gelübde los, welches dieser für seinen Vetter Jaspar v. Bülow im J. 1534 gegen Lippold v. Oertzen für 600 Gulden gethan und durch Zahlung hatte erfüllen müssen. Im Umschlag 1550 wird „Jürgen v. Oertzen zu Gorow" in einem Verzeichniß v. wopersnowscher Briefe genannt. Am 15. Febr. 1553 quittirten „Jürgen und Vicke Gebrüder die Oertzen erbgesessen zu Gurow" den Ulrich v. Stralendorf auf Goldebee über 100 Gulden, welche dieser in Folge einer Bürgschaft für Martin v. Halberstadt auf Camptz an sie hatte zahlen müssen [CCCCIII]. Im J. 1555 werden Jürgen und Vicke in dem Contributions-Register und Jürgen in dem Verzeichniß des Adels, welcher zur Vermählung des Herzogs Johann Albrecht verschrieben war, aufgeführt. In der Zeit von 1550–1560 hatten die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen von der Mutter der minderjährigen Söhne des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow das Gut Kl. Tessin gekauft, welches diesen nach dem Aussterben der Linie Kl. Tessin angefallen war.

Bald darauf starb Jürgen v. Oertzen auf Gorow, kaum 40 Jahre alt, nach dem Alter seines jüngern Bruders Vicke zu urtheilen. Am 17. Jan. 1560 lebte er noch, da er Antonii 1560 als Bürge noch die Urkunde besiegelte, durch welche sich der Herzog Johann Albrecht und der Ausschuß der Landstände dem Paris Hahn zu Basedow auf eine Schuld von 10,000 Gulden verschrieben. Gewiß ist es aber, daß er schon im J. 1563 gestorben war, da in diesem Jahre Vicke v. Oertzen „seinen Bruder Jürgen Oertzen seligen" nennt; nach dieser Zeit wird Jürgen öfter als verstorben aufgeführt. Er starb, wie später sein Bruder Vicke, ohne männliche Leibeslehnserben, und das Gut Gorow fiel daher an seinen Bruder Vicke. Es wird oft und wiederholt gesagt, daß beide Brüder ohne Leibeslehnserben gestorben seien.

Jürgen v. Oertzen war ſicher vermählt, da er Töchter hatte. Seine Gemahlin wird aber nirgends genannt, und läßt ſich nur errathen. Vielleicht war ſie eine geborne v. Fineke von Gnemern. Die v. Fineke auf Gnemern, in der Nähe der v. örtzenſchen Güter, waren mit den v. Oertzen gewiß vielfach verwandt, da nahe Verwandtſchaftsverhältniſſe oft angedeutet werden, ohne daß man ſie genau verfolgen kann. Jürgens Bruder, Vicke v. Oertzen, nennt in einem Schreiben vom 29. Dec. 1563 den Claus Fineke zu Gnemern und den Burgemeiſter Dionyſius Sager zu Wismar ſeinen „lieben Oheim, Schwager und guten Freund", und Vickes Gemahlin, Sophie v. Wangelin, vermacht in ihrem Teſtamente im Anfange des 17. Jahrh. dem Joachim v. Fineke eine goldene Kette. In der Familie v. Fineke auf Gnemern war gleichfalls der Vorname Jaſpar zu Hauſe, deſſen Aufnahme in die Familie v. Oertzen im Anfange des 16. Jahrh. ſich noch nicht nachweiſen läßt: es lebte 1484—1498 zu Karow, 1504—1528 zu Gnemern, 1559 zu Karow, 1598 zu Gnemern ein Jaſpar v. Fineke. Jaſpar v. Fineke auf Gnemern hatte in der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. Sophie Vieregge, eine Tochter des Valentin Vieregge auf Weitendorf und der Anna v. Oertzen, Lippolds Tochter, zur Frau, welche ſicher 1587 noch lebte, als ihre Mutter ſtarb.

Jürgen v. Oertzen hinterließ keine Söhne, aber ſicher Töchter, da bald nach ſeinem Tode Vickes „Bruders Töchter," jedoch ohne Namen, genannt werden; die eine derſelben war wahrſcheinlich Anna, welche zwei Male vermählt war. Weiter ſind keine Namen und Verhältniſſe zu ermitteln. Die Töchter Jürgens v. Oertzen waren wahrſcheinlich:

33. Anna. 34. Tochter N.N.

28.

## Vicke.

1545 † 1578.

§. 63. G. X.

Lippolds II. v. Oertzen auf Gorow jüngerer Sohn war Vicke v. Oertzen, welcher als solcher sehr oft zuerst neben seinem ältern Bruder Jürgen und nach dessen Tode allein genannt wird. Dieser Vicke v. Oertzen ist nicht mit Vicke v. Oertzen auf Gammelin zu verwechseln, welcher eine Zeit lang, 1562—1578, mit jenem zu gleicher Zeit lebte; Vicke auf Gammelin überlebte den Vicke von der Linie Roggow bis zum J. 1615, und daher ist auch unter Vickes Wittwe bis zum J. 1604 immer Vickes auf Gorow und Gerdshagen nachgelassene Gemahlin zu verstehen. Vicke v. Oertzen, Lippolds Sohn, wird um das J. 1527 geboren sein, da er in einem Zeugenverhöre vom 5. April 1571 im wismarschen Archive sagt, daß er damals „44 Jahr ungefährlich alt" sei. Hiemit stimmt auch überein, daß er und sein älterer Bruder Jürgen am 6. Dec. 1545 gleich nach ihres Vaters Tode noch „seligen Lippolds v. Oertzen Kinder" genannt werden, indem bei einer Lehnsverhandlung aus dem Ausdruck „Kinder" hervorzugehen scheint, daß damals wenigstens noch der jüngere Sohn Vicke minderjährig war. Wenn er dagegen in einem andern Zeugenverhöre am 13. April 1565 sagt, daß er damals „bei 46 Jahren alt" sei, so scheint diese Angabe weniger zutreffend oder verschrieben zu sein, da er nach der ersten Angabe im J. 1565 vielmehr erst ungefähr 36 Jahre alt sein mochte.

Nach seines Vaters Tode wohnte er zuerst mit seinem ältern Bruder Jürgen auf dem Gute Gorow, welches sein Vater ausgebauet und zu einem Hauptgute erhoben hatte. Als Besitzer von Gorow werden die Brüder Jürgen und Vicke in den ersten Jahren öfter zusammen genannt. Bestimmt treten die beiden Brüder als „Jürgen und Vicke Gebrüder die Oertzen, des seligen Lippold von Oertzen Kinder", gleich nach ihres Vaters Tode am 6. Dec. 1545 auf, als sie ihre Einwilligung dazu gaben, daß Bernd v. Oertzen sein Gut Helpte an Jacob v. Oertzen auf Grammertin verpfändete [CCCXCIX].

Am 22. Jan. 1549 befreieten „Jürgen und Vicke von Oertzen erbgesessen zu Gurow" den Achim v. Bülow auf Bölkow von der Bürgschaft, welche dieser für Hans v. Bülow auf Simen gegen ihren Vater Lippold v. Oertzen im J. 1534 für 600 Gulden geleistet hatte, nachdem er den Rest des schuldigen Geldes baar hatte bezahlen müssen. Am 12. Febr. 1553 befreieten „Jürgen und Vicke Gebrüder die Oertzen erbgesessen zu Gurow" auch den Ulrich v. Stralendorf auf Goldebee von einer Bürgschaft für Martin v. Halberstadt auf Camptz auf 100 Gulden, welche Stralendorf ebenfalls hatte zahlen müssen [CCCCIII].

Nachdem Vicke v. Oertzen ungefähr 10 Jahre lang mit seinem ältern Bruder Jürgen auf Gorow zusammen gewohnt hatte, theilten sie ihre Güter und Vicke bauete sich einen herrschaftlichen Wohnhof zu Gerdshagen, das er zu einem Hauptgute erhob, welches in der Folge oft ein eigenes Haus der Familie v. Oertzen bildete; Gerdshagen war vorher ein Bauerdorf und eine alte Pertinenz der Linie Roggow und wird vorher nur wenig genannt. Der Pastor Röpke zu Satow, wohin Gerdshagen eingepfarrt ist, berichtet bei der Kirchen-Visitation am 1. Junii 1599: „Der Hof Gerdeshagen ist bei „Vicke von Ortzen Zeiten von eitel Bauerben gemacht." Dieses für die Familie v. Oertzen nicht unwichtige Werk wird um das Jahr 1555 ausgeführt sein, da Vicke v. Oertzen bei einem Zeugenverhöre vom 2. April 1571 sagt: „er heiße Vicke „von Oertzen, wohne zum Gerdeshagen und habe ungefehrlich „16 oder 17 Jahre dar gewohnet, und sei 44 Jahre unge„fährlich alt." Hiezu stimmt auch, daß er im J. 1555 zuerst als auf Gerdshagen wohnhaft aufgeführt wird, indem in den Contributionsregistern vom J. 1555 „Jürgen von Oertzen zu Gorow und Vicke v. Oertzen zu Gerdeshagen" genannt werden. Um dieselbe Zeit wird sich Vicke v. Oertzen auch verheirathet haben. Er war mit Sophie von Wangelin aus dem Hause Vielist, einer reichen Frau, vermählt, welche in einem Zeugenverhöre im J. 1567 selbst von sich aussagt: „Sophie Wangelins, Vicke von Ortzen Frau zum Gerdeshagen, „ist vom Adel, gutes Vermögens, ungefährlich bei 30 Jahren."

Wenn sie nun in einem Alter von etwa 20 Jahren geheirathet hatte, so wird die Vermählung um das Jahr 1557 vollzogen sein, vielleicht noch bei Lebzeiten der Mutter Vickes. Während der Zeit, daß Vicke den Hof zu Gerdshagen aufbauete, wird er wohl eine Zeit lang zu Tützen gewohnt haben, welches er und sein Bruder ungefähr 1550—1560 von den Moltken „zum Pfande" hatten. Es wird ausdrücklich gesagt, daß Jürgen und Vicke v. Oertzen sich mit ihrer Mutter einmal zu Tützen aufgehalten hätten, und als Antonii 1560 der Herzog Johann Albrecht und der Ausschuß der Ritter- und Landschaft zur Abtragung der Landesschulden 10,000 Gulden von Paris Hahn zu Basedow liehen, stellten sie dafür 45 Bürgen, unter denen auch „Jürgen von Oertzen zu Gorow und Vicke von Oertzen zu Tützen" waren, welche auch die Schuldverschreibung besiegelten. Vicke wird aber nur dieses eine Mal Besitzer von Tützen genannt. Um dieselbe Zeit, zwischen 1550—1560, kauften die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen von der Wittwe des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow während der Minderjährigkeit ihrer Söhne das v. örtzensche Gut Kl. Tessin, welches nach dem Aussterben der Linie Kl. Tessin an die Linie Gammelin gefallen war.

Am 17. Jan. 1560 wird Vickes älterer Bruder Jürgen v. Oertzen auf Gorow zuletzt genannt; er wird bald darauf, sicher vor dem J. 1563, gestorben sein. Da Jürgen v. Oertzen keine Leibeslehnserben, wenn auch sicher eine Tochter, hinterließ, so fiel sein Gut Gorow an Vicke v. Oertzen.

Vicke v. Oertzen war also nach der Vollendung des Hofes Gerdshagen bald nach dem J. 1560 ein reicher Mann, indem er wenigstens die Güter Gerdshagen, Gorow mit dem Bauerdorfe Clausdorf, Goldberg, Kl. Tessin und das Pfandgut Tützen besaß und eine reiche Frau hatte.

In der Zeit 1562—1568 hatte Vicke v. Oertzen einen Proceß mit Otto Moltke auf Belitz. Um das J. 1540 hatte „Vickes v. Oertzen Vater Lippold v. Oertzen" die Dienste aus einem Bauerhofe in Goldberg, den Hans Hünermörder bewohnte, an Otto's Moltken Vater Gevert versetzt. Im J. 1562 hatte Otto Moltke aber die ganze Pacht von diesem

Bauerhofe in Anspruch genommen und auch Gerichtsbarkeit geübt, indem er den Bauern gewaltsam gepfändet hatte. Im Laufe des Processes behauptete Otto Moltke, daß ihm der Bauerhof eigenthümlich gehöre, ja am Ende sogar, daß der ganze Hof Goldberg der Moltken altes Stammlehn und den Oertzen nur verpfändet sei. Aus einem weitläuftigen Zeugenverhöre geht hervor, daß die Moltken nur den einen Bauerhof im Pfandbesitze, jedoch einen Theil der Nienhöfer Feldmark mit einem Theile von Goldberg verbunden hatten. Zwischen Goldberg, Tützen und Passee lag eine zu Tützen gehörende Feldmark Niendorf, welche den Moltken gehörte und früher nur 6 Katen enthalten hatte; die Moltken hatten nun die Hälfte der Feldmark des untergegangenen Dorfes Nienhof zu ihrem Bauerhofe in Goldberg gelegt und denselben damit verbessert und andere Höfe daraus gemacht. Der Proceß läßt sich bis in das Jahr 1568 verfolgen, hört dann aber auf. Das Ende des Processes muß insoferne für die Oertzen günstig gewesen sein, als sie den Besitz des Gutes behaupteten; die Moltken blieben aber im Besitze des einen Bauerhofes, welchen sie noch im J. 1610 besaßen, als die v. Oertzen das Gut Goldberg verkauften. Im Laufe des Processes wird oft „Jürgen von Oertzen seliger, Bruder des Vicke von Oertzen zu Gerdshagen," und „Lippold von Oertzen seliger, Vater" der beiden Brüder, genannt.

Aus diesen Proceßacten geht auch aus einem Briefe des Vicke v. Oertzen an Claus Fineke zu Gnemern vom 29. Dec. 1563 hervor, daß Vicke v. Oertzen damals „an den Kinderpocken mit großer Leibesschwachheit befallen" war.

Am 28. October 1571 ward Vicke v. Oertzen auf Gerdshagen mit zum Vormund für Stephans v. Oertzen auf Schossin Sohn Stellan von der Linie Gammelin bestellt. Am 9. Jan. 1575 werden Vicke v. Oertzen zu „Clausdorf" und Jaspar v. Oertzen zu Roggow im Landregister des Adels aufgeführt. Als die Brüder v. Oertzen auf Helpte im April 1575 nicht allein die väterlichen Lehen mutheten, sondern auch für den Fall einer Successsion die Lehen ihrer Vettern im

Lande Meklenburg, führten sie unter diesen auch „Vicke v. Oertzen zu Gurow und Gerdshagen erbgesessen" auf.

Vicke v. Oertzen mochte auch sein nahes Ende besorgen, da er, nach dem Berichte des Pastors Johann Röpke zu Satow zur Kirchenvisitation vom 1. Junii 1599, „für sich und „seinen verstorbenen Bruder Jürgen zum ewigen Gedächtniß" „dem Predigtstuhl in Satow 100 Gulden mildiglich schenkte" und am 16. Jan. 1576 zu diesem Zwecke in einem Hause in Rostock belegte. Im J. 1575 ließ auch seine Gemahlin Sophie v. Wangelin ihr beider Begräbnißgruft und Leichenstein in der Kirche zu Satow einrichten (vgl. unten). 1576 waren Vicke v. Oertzen zu Gerdshagen und Jaspar v. Oertzen zu Roggow Unterhändler, als Johann Moltke zu Neuenkirchen und Tützen der Anna v. Oertzen, des verstorbenen Valentin Vieregge zu Weitendorf Wittwe, Vickes Schwester, das halbe Gut Kronskamp auf 15 Jahre verpfändete. Vicke v. Oertzen lebte noch Antonii 1578, als die Vormünder Stellans v. Oertzen dessen Gut Schossin an Christoph Schwantener und dessen Ehefrau Adelheid v. Oertzen auf 8 Jahre verpfändeten; neben Siwert und Jaspar v. Oertzen auf Roggow gab auch Vicke v. Oertzen auf Clausdorf und Gerdshagen seine Einwilligung dazu.

Noch am 6. Junii 1578 unterzeichnete zu Gerdshagen „Vicke von Oertzen, seligen Lippolds Sohn", wahrscheinlich zum Unterschiede von Vicke v. Oertzen auf Gammelin, ein Schreiben wegen Jagdstörung zu Gerdshagen. Aber noch im Laufe des Jahres 1578 starb Vicke v. Oertzen, ungefähr 52 Jahre alt, und ward in der Kirche zu Satow, in welche Gerdshagen eingepfarrt ist, begraben. Vor dem Altare in der Kirche zu Satow liegt ein Leichenstein, welcher sein und seiner Gemahlin Grab decken soll. Dieser Leichenstein ist schon sehr abgetreten, jedoch lassen sich doch die Hauptsachen erkennen. In der Mitte steht rechts das v. örtzensche Wappen mit Schild und Helm, links das v. wangelinsche Wappen mit einem längs getheilten Schilde und einem hervorspringenden Windspiel auf dem Helme. In den vier Ecken stehen die Namen und Wappen der Aeltern

beider, oben der Väter, unten der Mütter, nach folgender Anordnung:

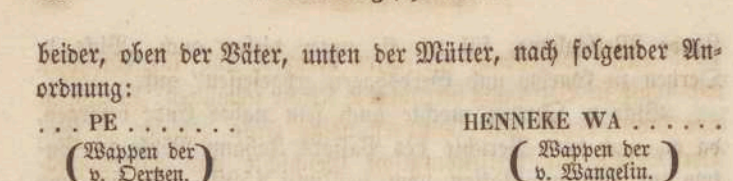


Unter dem v. örtzenſchen Wappen ſteht in einem Viereck folgende Inſchrift:

ANNO . MDLXXVIII . DEN . [VI N] . . . . . RI .
IST . DER . [EDLER . ] ERNVESTER . VICKE .
VON . [ORTZ]EN . ERBSESSEN . . [ZV . GERDE]S[HAG]EN .
[SELIGLICHEN . ] IN . DEM . HERN . ENTSCHLAFEN .

Unten in der Mitte iſt ein Viereck mit einer Inſchrift, deren Anfang lautet:

IM . FREDEN . ICK . DA[HI]N . GEFAREN . DAN — —

Umher auf dem Rande ſteht mit älteren gothiſchen Buchſtaben eine Inſchrift, von welcher noch der Anfang zu erkennen iſt:

**Anno . . . 75 . habe . ich . Vicke . v . Ortzt . Hau[sstraw . ] Sophia . — — — — — —**

Dieſer Leichenſtein iſt noch ziemlich verſtändlich. Rechts in den Ecken ſtehen die Namen und Wappen der Aeltern des Vicke v. Oertzen: Lippold v. Oertzen und Anna v. Bülow; von dem Namen des Vaters ſind mit Sicherheit nur noch die Buchſtaben PE zu leſen, welche ohne Zweifel nur zu der Namensform Lip PE lt gehören kann, da nach ſehr vielen urkundlichen Zeugniſſen Vicke ein Sohn Lippolds war. Henneke v. Wangelin auf Vieliſt und Anna v. Halberſtadt waren die Aeltern der Sophie v. Wangelin, welche auch ſonſt urkundlich beglaubigt ſind. Der Todestag Vickes v. Oertzen iſt auf dem Leichenſteine durchaus nicht klar zu leſen; wahrſcheinlich iſt der VI Novemb RI s zu leſen, da nach andern, ältern Privatforſchungen Vicke v. Oertzen am 17. Nov. 1578 geſtorben ſein ſoll. Nach der Randſchrift ließ Vickes Gemahlin ſchon im J.

1575 dieses Begräbniß für ihren Gemahl und sich einrichten und sonst in Beziehung hierauf die Kirche schmücken; sie scheint eine kunstliebende und kunstverständige Frau gewesen zu sein. Der Verein für meklenburgische Geschichte und Alterthumskunde besitzt durch Geschenk aus Doberan ein für die Zeit ziemlich großes und ziemlich gut auf Glas gemaltes v. wangelinsches Wappen, mit einem längs getheilten Schilde, rechts silbern, links roth (in neuern Zeiten umgekehrt), und mit einem rechts hin laufenden Windspiel mit goldenem Halsband auf dem Helme, mit der Unterschrift: HENNEKE WANGELIN. Dieses Wappen ist also nach dem Leichensteine das Wappen des Vaters der Gemahlin Vickes v. Oertzen und stammt gewiß aus der Kirche zu Satow. Ohne Zweifel ließ sie also auch in die Kirchenfenster alle Wappen in Glasmalerei setzen, welche auf dem Leichensteine ausgehauen waren. Es ist immer noch ein glücklicher Zufall, daß noch dieses eine Wappen gerettet ist.

Vicke v. Oertzen hinterließ seine Gemahlin Sophie v. Wangelin als Wittwe, welche ihn noch lange überlebte, und wenigstens eine Tochter, welche bisher noch nicht bekannt gewesen ist. Hiefür zeugt auch, daß in einem Verzeichniß der meklenburgischen Ritterschaft vom J. 1580 „Vickes von Oertzen seligen Erben zum Goldberg" aufgeführt werden; also war wenigstens eine Tochter vorhanden. Die Wittwe wohnte noch sicher 1597 zu Goldberg, welches ihr gewiß zum Leibgedinge verschrieben war.

Sicher ist es aber, daß Vicke ohne Hinterlassung männlicher Leibeslehnserben starb. Daher fielen nach seinem und seiner Tochter Tode seine ansehnlichen Güter, welche durch die Güter seines vor ihm ebenfalls ohne Leibeslehnserben verstorbenen ältern Bruders Jürgen und durch den Ankauf von Kl. Tessin bedeutend vermehrt waren, an das Haus Roggow zurück, welches nach Siverts IV. Tode im J. 1589 nur einen einzigen Besitzer Jaspar II. hatte, welcher noch einmal alle alten Güter des Hauses Roggow in einer Hand vereinigte. Es wird im J. 1579 oft in den Lehnacten gesagt, daß, da „die Brüder Jürgen und Vicke von Oertzen zu Gorow und

„Gerdeshagen ohne Leibeslehnserben verstorben, deren Lehn„güter an Sivert v. Oertzen zu Clausdorf und dessen Sohn „Jaspar erledigt und gefallen" seien, und „Sivert und Jaspar „die Oertzen Vater und Sohn" werden 1579 als „zu Gorow „und Gerdshagen", 1580 als zu „Gerdshagen und Roggow" wohnhaft aufgeführt. Zwar schien Jaspar II. auf Roggow Anfechtung wegen des Anfalls dieser Güter erwarten zu müssen, da es in alten Lehnsnachrichten vom J. 1588 heißt: „Es „wird dafür gehalten, daß der Hof und Gut Gurow nach „Vicke von Oertzen zum Gerdeshagen Absterben wieder an die „Fürsten fallen soll, davon wissen etzliche vom Adel und alte „Bauern im Amte Bukow wohl guten Bescheid"; aber die v. Oertzen auf Roggow blieben deshalb unangefochten und im Besitze.

Vickes v. Oertzen Gemahlin Sophie v. Wangelin war eine ausgezeichnete Frau, welche nicht allein bei ihres Mannes Leben, sondern auch als Wittwe in Achtung, Ehre und Wirksamkeit, auch am herzoglichen Hofe, stand. Sie war eine Tochter des Hennete v. Wangelin auf Bielist, welcher um das Jahr 1500 genannt wird, und der Anna v. Halberstadt. Sie war um das Jahr 1537 geboren und um das Jahr 1557 vermählt, wenn sie in einem Alter von ungefähr 20 Jahren verehelicht ward, da sie im J. 1567 in einem Zeugenverhöre von sich selbst aussagt: „Sophie Wangelins, Vicke von Oertzen „zu Gerdeshagen Frau, ist vom Adel, gutes Vermögens, un„gefährlich bei 30 Jahren." Ihr Gemahl, der ungefähr 10 Jahre älter war, als sie, hatte sich kurz vor der Vermählung mit seinem ältern Bruder Jürgen auseinandergesetzt und den Hof Gerdshagen aus Bauerhöfen aufgebauet, welchen er zum Hauptgute erhob und sein Leben lang bewohnte. Sie führte gewiß ein angenehmes Leben, da sie nach allen ihren Handlungen zu urtheilen sehr gebildet war. Leider ward sie von harten Prüfungen heimgesucht; ihr Gemahl, dem schon um das J. 1560 sein älterer Bruder Jürgen in den besten Lebensjahren in die Ewigkeit vorangegangen war, ward auch schwächlich; schon im J. 1575 bedachte er seinen Seelsorger zu Satow „zum ewigen Gedächtniß" mit einem Vermächtnisse und

Sophie ließ in demselben Jahre ihr und ihres Mannes Begräbniß in der Kirche zu Satow einrichten und mit einem kunstreichen Leichenstein und die Fenster daneben mit Glasgemälden schmücken; schon im J. 1578, wahrscheinlich am 6. Nov., raubte ihr der Tod ihren Gemahl, der eben erst 50 Jahre alt geworden war, und ließ sie als eine Wittwe von 40 Jahren mit vermuthlich nur einer Tochter zurück. Söhne hatte sie eben so wenig geboren, als ihres Mannes Bruder Söhne hinterlassen hatte, und so fielen ihres Mannes Lehngüter demnächst an das Haus Roggow zurück, woher sie gekommen waren. Um die Zeit, als sie ihren Gemahl verlor, hatte auch eine Anna v. Oertzen, wahrscheinlich ihre Nichte, Jürgens Tochter, ihren ersten Gemahl, Heinrich Moltke, nach kurzer Ehe verloren und nicht lange darauf, vor 1581, den Joachim v. Wangelin auf Bielist wieder geheirathet. — Sophie v. Wangelin hatte ihr Leibgedinge auf dem v. örtzenschen Hofe Goldberg, wo sie auch ihren Wohnsitz nahm. In einem Verzeichniß der meklenburgischen Ritterschaft vom J. 1580 werden „Vickes von Oertzen seligen Erben zum Goldberg" und im Landbuche von 1597: „Vickes von Oertzen Wittfrau zum Goldberg" aufgeführt; aus dem Ausdruck „Erben" scheint hervorzugehen, daß sie wenigstens eine Tochter hatte. Unter Vickes v. Oertzen „Wittwe" ist bis in den Anfang des 17. Jahrhunderts immer sicher Sophie v. Wangelin zu verstehen, da Vicke v. Oertzen auf Gammelin sie, bis zum J. 1612, überlebte. Sophie v. Wangelin wird schon am 12. Jan. 1579 als Vickes v. Oertzen zu Gerdshagen Wittwe aufgeführt. Am „Kaufschlagmontag 1583" schreibt sie von Goldberg in einem plattdeutschen Briefe, daß ihres „seligen lieben Junkers Erben" von Köne v. Plessen zu Großenhof Geld zu fordern haben. In der Zeit von 1586—1589 führte sie gegen die Brüder Jürgen Raben d. j. zu Stück und Heinrich Raben zu Steinfeld eine Klage wegen Schuld für Waaren, die sie in Lübeck für der Raben Schwester Ilse Raben ausgewählt hatte; in den Klageacten nennt sie die beiden Brüder Raben „ihre Oheime". Im J. 1589 war sie mit vielen andern v. Oertzen bei dem Leichenbegängniß des Paul v. Bülow auf Plüschow,

der aus dem Hause ihrer Schwiegermutter stammte; es waren dabei noch gegenwärtig: Joachim v. Oertzen auf Wustrow, Jaspar v. Oertzen auf Roggow, mit seiner Gemahlin und seinen Töchtern Emerentia und Elisabeth, und Anna v. Oertzen, Volraths Sperling Wittwe (vgl. Geschichte der v. Bülow, alte Auflage, S. 79). Vor allen Dingen wichtig ist aber die Stellung, welche sie am Hofe des Herzogs Johann und dessen ausgezeichneten Gemahlin Sophie einnahm; einige Begebenheiten werden die Ehre, die sie genoß, in das rechte Licht stellen. Bei der Taufe des Herzogs Adolph Friedrich am 2. Febr. 1589 waren außer sämmtlichen fürstlichen Personen der nächsten Verwandtschaft des herzoglichen Hauses noch „Gevattern": die vier wendischen Hansestädte Lübeck, Lüneburg, Rostock und Wismar, vier Landräthe und „drei Frauen: Oel„gard v. Qualen, Ulrich Pentzen Wittwe und Vicke Oertzen „Wittwe." (Vgl. Jahrb. XV, S. 85, nach der eigenhändigen Autobiographie der Herzogin Sophie). Zu der Zeit war Joachim v. Wangelin, vielleicht Sophiens Bruder, Hofmeister am fürstlichen Hofe (vgl. Jahrb. a. a. O.). Im J. 1597 lebte die Wittwe v. Oertzen noch, da sie im Landbuche von 1597 als „Vicke v. Oertzen Wittfrau zum Goldberg" aufgeführt wird. Sie starb um das Jahr 1603, ungefähr 65 Jahre alt, und hinterließ ein für die damalige Zeit großes Vermögen, indem sie in zinstragenden Papieren ungefähr 13,000 Gulden nachließ, von denen sie viele, große Vermächtnisse angeordnet hatte. Sie hatte den schweriner Dompropst Joachim v. Bassewitz auf Levetzow und den Vicke v. Bülow auf Harkensee zu Testamentsvollstreckern ernannt. Am 5. Julii 1604 lieh die verwittwete Herzogin Sophie zu Lübz zu den nothwendigen Ausgaben für ihre Söhne von diesen, „als Vickes von Oertzen „seligen Wittwen vermachten letzten Willens geordneten Testa„mentarien", bis zum nächsten Antonii-Termine 1000 Gulden und am 28. Januar 1605 quittirte über die Rückzahlung Joachim v. Bassewitz, als „von der edlen, ehrentugendreichen „Frauen Sophia Wangelins, Vicke von Oertzen zum Gerdes„hagen, jetzo beide seligen, nachgelassenen Wittwe in ihrem auf„gerichteten Testament mitverordneter Testamentarius", für sich

und Vicke v. Bülow. Darauf entstanden zwischen den Erben und den Testamentsvollstreckern Streitigkeiten über die Ausführung des Testamentes; diese Streitigkeiten wurden jedoch im J. 1606 geschlichtet, indem die „Brieflade" der Sophie Wangelin nach Wismar gebracht und hier untersucht und die Einnahme und Ausgabe des Nachlasses berechnet ward. Es waren von ihrem Capitalvermögen damals seit mehreren Jahren die Zinsen rückständig. — Ob Sophie v Wangelin auch unter dem Leichensteine in der Kirche zu Satow, den sie im J. 1575 hatte legen lassen, begraben liegt, ist nicht gewiß, jedoch ist es wahrscheinlich, da die Zeiten noch ruhig waren.

Vicke v. Oertzen hinterließ keine Söhne, aber wenigstens eine Tochter

35. Sophie.

---

29.

## Mette.

Gem. Ulrich v. Stralendorf.

(1548.)

§. 64. G. X.

Lippolds II. v. Oertzen eine Tochter war Mette v. Oertzen, welche sicher an Ulrich v. Stralendorf auf Goldebee und Prensberg verheirathet war. Sie starb früh, gewiß vor dem J. 1560, vielleicht schon vor dem J. 1550. Sie hatte, wie ihre Schwestern, 1000 Gulden Brautschatz erhalten; damit war aber Stralendorf nicht zufrieden, sondern machte nach dem Tode seines Schwiegervaters und seiner Frau Ansprüche an den Nachlaß des Vaters seiner Frau. Die Brüder Jürgen und Vicke v. Oertzen bezeugten aber vor den zur Schlichtung des Streites ernannten herzoglichen Commissarien, daß der Frau Stralendorfs nicht mehr versprochen sei und sie das Versprochene empfangen habe. Hiebei ward auch noch die Mutter der verstorbenen Mette, Anna v. Bülow, als Zeugin vernommen [CCCCV]. In einem Zeugenverhöre in einem Processe des Ulrich v. Stralendorf gegen Joachim v. Halber-

stadt zu Camptz sagt Vicke v. Oertzen zu Gerdshagen am 2. April 1571, daß „Ulrich v. Stralendorf ihm mit Schwä„gerschaft verwandt sei, denn Ulrich habe seine Schwester „gehabt." Ulrich v. Stralendorf heirathete nach dem Tode seiner ersten Gemahlin die Margarethe v. Kamptz, Hermanns Tochter, wieder, welche 1574 über 50 Jahre alt war. Stralendorf hatte an seines Schwagers Levin v. Kamptz Gewaltthat und Landfriedensbruch Theil genommen, ward 1560 in die Reichsacht erklärt und mußte das Land verlassen. Margarethe v. Kamptz lebte noch 1574 in Wismar, Ulrich v. Stralendorf starb 1576. Ulrichs Sohn erster Ehe, Leopold, ward im Auslande katholisch und ist als kaiserlicher Reichs-Vice-Canzler eine bekannte Persönlichkeit; sein Enkel Peter Heinrich v. Stralendorf war ebenfalls katholisch. (Vgl. v. Kamptz, Gesch. der Familie v. Kamptz, S. 146, 147, 152 und 171). Mette v. Oertzen von Gorow ist also die Mutter des berühmten Reichs-Vice-Canzlers v. Stralendorf.

---

## 30.

## Lippolds Tochter N.N.

Gem. Martin v. Halberstadt.

1560 - 1571.

§. 65. G. X.

Eine andere Tochter Lippolds II. v. Oertzen, deren Name nicht bekannt geworden ist, war an Martin v. Halberstadt auf Camptz verheirathet und hatte, wie ihre übrigen Schwestern, 1000 Gulden Brautschatz erhalten [CCCCV]. Martin v. Halberstadt war ein Sohn des Ritters Henning v. Halberstadt auf Camptz. Er starb früh, sicher vor dem Jahre 1571, und sein Vetter Joachim v. Halberstadt auf Kl. Brütz maßte sich aller hinterlassenen Güter Martins an und gebrauchte sie lange Jahre; Martin v. Halberstadt hatte also wohl keine Kinder. Vicke v. Oertzen auf Gerdshagen sagt am 2. April 1571: „Martin Halberstadt sei sein Schwager gewesen, habe „seine Schwester gehabt, dem habe er und sein Bruder seliger

„wohl Geld geliehen, die Bürgen hätten es aber nach seinem „Tode bezahlen" müssen.

---

## 31.

## Magdalene.

Gem. Christoph v. Flotow.

1554—1571.

§. 66. G. X.

Eine dritte Tochter Lippolds II. v. Oertzen war Magdalene, welche mit Christoph v. Flotow auf Stuer und Kogel vermählt ward (vgl. v. Flotow Geschichte der v. Flotow, S. 30 flgd., welcher ihm nach den bisherigen Genealogien eine v. Below zur Frau giebt). Magdalene v. Oertzen hatte, vor 1560, 1000 Gulden zum Brautschatz erhalten [CCCCV]. Christoph v. Flotow hatte dagegen seiner Gemahlin aus seinen Lehngütern den Hof zu Nossentin mit Silitz, die halbe Feldmark Cratz, die Schäferei und den See der Feldmark Sanz, die Feldmark Lübow mit dem See, die Lackische Feldmark, seinen Antheil an der Feldmark Vier, den halben Acker und die ganze Holzung auf der Feldmark Bistorf, seinen Antheil an Sparow, Leppin, Cartze und Redewitz, drei Bauern in Jameln und die Mühle zu Giewitz zum Leibgedinge verschrieben. Christoph v. Flotow starb früh, da der Herzog Johann Albrecht am 20. Dec. 1560 dieses Leibgedinge der „Magdalene „v. Oertzen, Christophs Flotow seligen nachgelassenen Wittwe", bestätigte. Magdalene v. Oertzen überlebte ihren Gemahl längere Zeit. In den Jahren 1568 und 1569, namentlich noch am 29. Dec. 1569, war „Magdalene v. Oertzen, Chri„stophs Flotowen seligen nachgelassene Wittwe", in Streit mit den fürstlichen Beamten wegen ihrer Schäfereien zu Nossentin und Sanz in Bezug auf die Polizei-Ordnung. Ihr Gemahl hatte ihr Kinder hinterlassen, von denen im J. 1571 ihr Sohn Jaspar v. Flotow schon volljährig, die übrigen aber noch „unmündig" waren; im J. 1575 war Jaspar v. Flotow schon selbstständig. Magdalene v. Oertzen war sicher vor dem J. 1584 gestorben, da Jaspar v. Flotow zu Stuer im J.

1584 alle die Güter, welche seiner Mutter zum Leibgedinge verschrieben waren, auf 20 Jahre an Vicke v. Wangelin verpfändete.

---

## 32.

## Anna.

Gem. Valentin v. Vieregge.

1548 † 1587.

§. 67. G. X.

Lippold II. v. Oertzen hatte sicher wenigstens noch eine Tochter Anna, welche an Valentin v. Vieregge auf Weitendorf vermählt war. In der Leichenrede auf ihre Tochter Valentine Vieregge († 1592) wird ausdrücklich gesagt, daß „ihre Mutter „Anna v. Oertzen gewesen, deren Vater Lippold v. Oertzen, „dessen Hausfrau Anna v. Bülow von Plüschow gewesen" sei. Anna v. Oertzen war um das J. 1528 geboren. Bei einem Zeugenverhöre in dem Processe des Vicke v. Oertzen auf Gammelin gegen Magdalene v. Vieregge zu Wokrent wegen Injurien sagt sie im J. 1567 selbst aus: „sie sei von Adel, „Anna v. Oertzen, Valentin Vieregge eheliche Hausfrau, 39 „Jahre ungefährlich alt und gutes Vermögens". Sie wird, wenn sie ungefähr mit 20 Jahren vermählt ward, um das J. 1548 verehelicht worden sein, was auch dazu stimmt, daß sie ihrem Gemahle 10 Kinder gebar, dieser schon im J. 1572 starb, das jüngste Kind aber nach ihres Mannes Tode geboren ward. Valentin Vieregge starb früh, am 3. März 1572, und hinterließ sie in einem Alter von 44 Jahren als Wittwe mit 4 unmündigen Kindern, 3 Söhnen und 1 Tochter, nachdem schon 5 Kinder gestorben waren. Nach ihres Gemahls Tode gebar sie am 29. Junii das zehnte Kind, eine Tochter, welche nach dem Vater Valentine genannt ward. Valentin Vieregge hatte ein großes Vermögen hinterlassen und seine Wittwe scheint ein gutes und kräftiges Regiment geführt zu haben. Im J. 1575 wollte Mathias Vieregge auf Rossewitz das seinem verstorbenen Vetter Valentin Vieregge auf gewisse Jahre verpfändete Gut Levekendorf wieder einlösen, wie er

solches seines „Vetters Wittwe und nachgelassener Kinder „Vormündern losgekündigt" hatte; dabei wird am 26. März 1574 der „Anna v. Oertzen, Valentins Viereggen seligen nach- „gelassenen Wittwe", befohlen, die armen Leute an ihren her- gebrachten Nutznießungen an der wüsten Feldmark Barentin nicht zu hindern. Johannis 1576 verpfändete Johann Moltke zu Neuenkirchen und Tützen der „Anna von Oertzen, Valentins „Viereggen seligen zu Weitendorf nachgelassener Wittfrau, und „ihren Kindern das halbe Gut und Dorf Kronskamp" auf 15 Jahre für 3200 Gulden; unter den Unterhändlern waren auch Bicke v. Oertzen auf Gerdshagen und Jaspar v. Oertzen auf Roggow. Die andere Hälfte von Kronskamp hatte Levin Moltke auf Kl. Belitz an Otto Vieregge auf Weitendorf ver- pfändet.

Anna v. Oertzen starb am 25. Aug. 1587 und hinterließ ihr jüngstes Kind Valentine in einem Alter von 15 Jahren, welche die ältere Tochter Sophie, welche an Jaspar v. Fineke auf Gnemern verheirathet war, zu sich nahm. Valentine Vieregge ward im J. 1591 an Henneke v. Reventlow auf Zisendorf verheirathet, lebte aber nur etwas über ein Jahr in der Ehe mit ihm und starb im März 1592, im 20. Lebens- jahre, nachdem sie ihrem Gemahle einen Sohn Lorenz geboren hatte. Von Annas v. Oertzen Söhnen überlebten die Mutter Paul, Lippold und Hans Valentin Vieregge.

---

## 33.

## Anna.

1580—1583.

Gem. 1. Heinrich v. Moltke.
2. Joachim v. Wangelin.

§. 68. G. XI.

Jürgen v. Oertzen auf Gorow hinterließ zwar keine Söhne, aber sicher wenigstens zwei Töchter. Es heißt bald nach Jürgens Tode in einer bei dem Lehnhofe eingebrachten, undatirten Nachricht: „Bickes von Oertzen Brudertöchter,

„wiewohl eine ziemliche Baarschaft an Gelde vorhanden, so „muß er doch seines Bruders Töchtern jeder 2000 Gul„den aus dem Lehngute herausgeben;" es kann also keinem Zweifel unterworfen sein, daß Jürgen v. Oertzen Töchter hinterließ. Nun begegnen wir in der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. einer Anna v. Oertzen, welche ohne Zweifel aus der Linie Roggow stammte und sich nicht gut anders unterbringen läßt, als wie eine Tochter Jürgens. Anna v. Oertzen war an Heinrich Moltke auf „Toitendorf" verheirathet, welcher jedoch früh zwischen 1575 und 1581 starb. Ihr Mann hatte ihr eine unmündige Tochter Henrika Moltke hinterlassen, deren Vormünder noch im J. 1583 Curt v. Plessen zu Damshagen, Jaspar v. Oertzen zu Roggow und Johann Moltke zu Neuenkirchen waren; diese Vormünder nennen den Bruder des Heinrich Moltke, den Georg Moltke zu Samow, ihren „Schwager und Bruder". Nach ihres Mannes Tode hatte Anna v. Oertzen die Güter desselben einige Jahre „ihrer Tochter halben in Administration", jedoch manche Last davon gehabt, da das Gut sehr verschuldet war. Auch Anna v. Oertzen hatte sich für das Gut mehreren Gläubigern verschreiben müssen, unter andern auch Bickes v. Oertzen Erben auf 2000 Gulden; sie war daher sicher keine Tochter Bickes. Nicht lange nach ihres Gemahls Henneke Moltke Tode verheirathete sich Anna v. Oertzen zum zweiten Male mit Joachim v. Wangelin auf Vielist. Ihres Vaters Bruder Bicke war mit Sophie v. Wangelin von Vielist verheirathet, welche erst um das J. 1603 starb. Im J. 1583 waren Verhandlungen zwischen der Vormundschaft ihrer Tochter erster Ehe und „Joachim v. Wangelin „in ehelicher Vormundschaft seiner Frau Anna v. Oertzen" wegen der ihrem ersten Gemahl „eingebrachten Ehesteuer;" auf Seite der Frau war unter den Unterhändlern außer ihrem Gemahl auch Joachim v. Kossebade d. j. zu Torgelow (vgl. Bickes Tochter Sophie). Am 24. April 1583 verglichen sich die Partheien dahin, daß Anna ihren Brautschatz mit 8800 Gulden und 2000 Gulden rückständiger Zinsen darauf, sowie 5000 Gulden Besserung zurückerhalten solle; Anna handelte jedoch, sicher in Uebereinstimmung mit ihrem zweiten Gemahl,

sehr liebevoll, indem sie gleich die 2000 Gulden ihrem Kinde erster Ehe und dessen väterlichem Gute zum Besten und 1300 Gulden von der Besserung dem Kinde allein zum Besten nachließ, damit ihre Tochter nicht ganz entblößt würde. Von den weiteren Schicksalen der Frau ist nichts weiter bekannt.

## 34.
## Jürgens Tochter N.N.

§. 69. G. XI.

Jürgen v. Oertzen auf Gorow hatte sicher „Töchter" hinterlassen, von denen jedoch nur muthmaßlich eine, Anna (vgl. §. 33), nachgewiesen werden kann. Dem Namen und den Verhältnissen nach sind keine andere bekannt geworden.

## 35.
## Sophie.
Gem. Joachim v. Kosboth.
1583.

§. 70. G. XI.

Vicke v. Oertzen auf Gerdshagen hinterließ keine Söhne, jedoch wird er wenigstens eine Tochter nachgelassen haben, da in den Lehnacten von seinen „Erben" die Rede ist. Sie wird in einer Leichenrede auf ihren Urenkel Christian v. Grävenitz († 1685) klar bezeichnet und Sophie genannt; nach dieser Leichenrede war sie an Joachim v. Kosboth auf Torgelow vermählt. Dies trifft auch mit den Verhandlungen zu, welche im J. 1583 zwischen Jürgens Tochter Anna und den Vormündern ihrer Tochter erster Ehe gepflogen wurden (vgl. S. 106), bei denen auch „Joachim v. Kossebade d. j. zu Torgelow," nächster Vetter durch Verschwägerung, gegenwärtig war. Sophie v. Oertzen hatte ihren Vornamen sicher von ihrer Mutter, Sophie v. Wangelin. Die Verwandtschaftsverhältnisse, wie die erwähnte Leichenrede sie, jedoch ohne Jahreszahlen, angiebt, sind folgende:

Vicke v. Oertzen
auf Gerdshagen († 1578).
Gem. Sophie v. Wangelin
von Vielist († um 1603).

Sophie v. Oertzen
von Gerdshagen.
Gem. Joachim v. Kosboth
auf Torgelow (1583).

Georg v. Kosboth
auf Torgelow.
Gem. Dorothea v. Kamptz
von Gudow.

Ingeburg v. Kosboth
von Torgelow.
Gem. Hans v. Grävenitz,
Oberhauptmann.

Christian v. Grävenitz,
Hauptmann, auf Turow ꝛc.
1640 † 1685.

Sophie v Oertzen hatte hiernach sicher einen Sohn Georg v. Kosboth auf Torgelow.

## 36.

## Jaspar II.

1571 † 1618.

§. 71. G. XI.

Jaspar II. v. Oertzen war der einzige Sohn Siverts IV. auf Roggow und vereinigte nach seines Vaters Tode und nach dem schon vorher erfolgten Aussterben aller Nebenhäuser sämmtliche alte Lehngüter des alten Hauses Roggow noch einmal in Einer Hand. So ward Jaspar II. v. Oertzen der Stammhalter des ganzen Hauses Roggow und mit ihm beginnt am angemessensten der letzte Theil dieser Familiengeschichte, welcher nicht so große Schwierigkeiten darbieten wird, als die bisherige Forschung.

## B. Das Haus Clausdorf-Garwensdorf.

Das Haus Clausdorf-Garwensdorf geht im 15. Jahrh. seiner Auflösung entgegen, obgleich sich die Glieder des Hauses noch größten Theils und ziemlich klar erkennen lassen. Im 14. Jahrh. reichen die Nachrichten bis zum J. 1386. Darnach werden die v. Oertzen auf Clausdorf bestimmt erst im J. 1415 wieder genannt, und es erscheinen hier mit Sicherheit zwei Brüder Segeband und Burchard und deren Vetter Heinrich, alle auf Clausdorf. Wenn auch das Gut Garwensdorf einige Male mit Namen genannt wird, so ist es doch wahrscheinlich, daß es stückweise fortwährend veräußert und verpfändet ward, die frühere Theilung in die Häuser Clausdorf und Garwensdorf aufhörte und die Besitzer des Hauses Garwensdorf sich auf Clausdorf zurückzogen, an welchem sie ebenfalls lehnrechtliche Ansprüche hatten. Es wird daher nicht gewagt sein, die Brüder Segeband und Burchard dem Hause Clausdorf zuzuschreiben und für Söhne Johanns II. zu halten, da Segeband immer als der erste genannt wird, und ihren Vetter Heinrich in das Haus Garwensdorf zu verweisen.

Die alten **Güter des Hauses Clausdorf** - (Garwensdorf) lassen sich im 15. Jahrh. aus gleichzeitigen und aus jüngern Nachrichten übersehen und waren folgende:

1) das Gut **Clausdorf** in dem ritterschaftlichen Amte Bukow und der Pfarre Alt-Bukow, das Hauptgut der Linie, mit Kirchenstuhl und Begräbniß zu Alt-Bukow;

2) das Gut **Garwensdorf**, neben Clausdorf gelegen, welches aber seit dem 15. Jahrh. nach und nach Pertinenz von Clausdorf ward;

3) eine Kossatenstelle zu Teschow;

4) ein Bauerhof zu Neuendorf im Kirchspiele Neuburg. Das Gut Neuendorf war ein altes v. bülowsches Lehn, in welchem die v. Oertzen kleine Besitzungen hatten; am 5. Dec. 1459 verpfändete Vicke v. Oertzen auf Wustrow 4 Mark Pacht aus Neuendorf [CCXXXI] und am 26. Nov. 1474 verpfändete Jaspar v. Stralendorf die 3 Mark, welche Hans v. Oertzen von Clausdorf aus einem Bauerhofe zu zahlen hatte [CCLXXVIII].

Die gesammten alten Güter des Hauses steuerten im J. 1750 für 5½ Hufen.

Die Krugstelle zu Alt-Pukow, welche in neuern Zeiten „zu dem Gute Clausdorf genutzt" ward, gehörte der Linie Roggow und ward wohl in jüngern Zeiten von dieser zu dem Gute Clausdorf gelegt, als dieses an die Linie Roggow gefallen war.

Ebenso waren auch wohl die vormaligen Pertinenzen Ravensberg und Wakendorf erst in jüngern Zeiten zu Clausdorf gelegt.

Nach dem Aussterben der v. örtzenschen Linie Clausdorf-Garwensdorf am Ende des 15. Jahrhunderts fielen die Güter derselben an die nächsten Vettern aus dem Hause Roggow, welches die Güter auch über anderthalb Jahrhunderte besaß, aber endlich durch Verpfändung verlor. Schon im J. 1640 ward die Pertinenz Garwensdorf, „Dorf und Meierei", verpfändet. Im J. 1697 ward auch das Hauptgut Clausdorf mit dem Rechte der Reluition der Pertinenz Garwensdorf verpfändet. Die von den v. Oertzen ununterbrochen eingereichten Lehnsmuthungen und wiederholt angestellten Reluitionsklagen halfen nichts, indem ihnen im J. 1751 durch richterliche Entscheidung die Rechte abgesprochen wurden. Garwensdorf ward im J. 1810 wieder zu einem Hauptgute erhoben.

# Das Haus Clausdorf.

## 9.
## Segeband, Knappe.
1407–1415.

§. 72. G. VII.

Im J. 1411 werden ausdrücklich zwei „Brüder" Segeband und Burchard v. Oertzen genannt, welche späterhin als auf Clausdorf gesessen bezeichnet werden; man wird nicht fehlgreifen, wenn man sie für Söhne des Knappen Johann II. auf Clausdorf hält, um so mehr, da Segeband einen Sohn Namens Hans hatte. Am 6. Dec. 1411 verpfändeten die Brüder Segeband und Burchard v. Oertzen dem Otto Preen vier lüb. Mark Pacht aus dem Dorfe Reetz bei Rostock; diese Pacht ward nicht wieder eingelöset, sondern ging zunächst an den rostocker Burgemeister Johann Odebrecht und im J. 1440 an das Karthäuser-Kloster Marienehe über [CXXXVII]. Woher die v. Oertzen diesen von ihren Stammgütern entfernt liegenden Besitz hatten, ist nicht zu ermitteln; wahrscheinlich war er nur Pfandbesitz. Für diese Verpfändung bürgten Kurd von der Lühe zu Buschmühlen, Hans Barsse zu Garwensdorf und Bernd Barnekow zu Malpendorf, mit denen die v. Oertzen ohne Zweifel verschwägert waren. Von Wichtigkeit ist die Nachricht, daß Hans Barsse, welcher ohne Zweifel mit den v. Oertzen verwandt war (vgl. unten bei Heinrich v. Oertzen am 15. Dec. 1438), damals das Gut Garwensdorf inne hatte.

Im J. 1415 hatten die auf Clausdorf wohnenden Glieder des Hauses eine Theilung des von den Vorfahren ererbten Gutes vorgenommen. Die Hauptunterhändler waren Segeband, für sich und seinen Bruder Burchard, und dessen Vetter Heinrich, für sich und „seine Brüder", ersterer wohl aus dem Hause Clausdorf, letzterer aus dem Hause Garwensdorf. Beide Theile werden als auf Clausdorf wohnend bezeichnet und hatten das Gut wohl zur Hälfte unter sich getheilt. Am 17. März 1415 ward unter beiden bestimmt, daß Burchard v. Oertzen den „alten Hof" zu Clausdorf und das halbe Erbe, auf welchem Segeband daselbst wohnte, auch Mahlfreiheit in der Mühle zu Garwensdorf haben solle [CXL]. Ohne Zweifel war es ein Viertheil des Gutes, welches an Burchard in der Theilung gefallen war. Zur Bezeugung seiner Einwilligung hängte Hermann von Oertzen auf Roggow als nächster Lehnsvetter auch sein Siegel an die Urkunde.

Segeband v. Oertzen wird zuerst im J. 1407 genannt, als er wegen einer Gewaltthätigkeit an einem wismarschen Knechte in der Stadt Wismar verfestet ward [CXXXIII].

Er wird nicht alt geworden sein, da schon im J. 1433 sein Sohn handelnd auftritt [CLXXXV].

Als Söhne Segebands werden aufgeführt:

VIII. 13. Reimar. 14. Hans.

## 10.

## Burchard, Knappe.

1411—1446.

§. 73. G. VII.

Burchard v. Oertzen wird wiederholt ein Bruder Segebands v. Oertzen auf Clausdorf genannt und war daher wahr-

scheinlich ein Sohn Johanns II. Er wird am 6. Dec. 1411 zuerst genannt, als die Brüder Segeband und Burchard an Otto Preen 4 lüb. Mark Pacht aus Reetz verpfändeten [CXXXVII]. Am 17. März 1415 bestimmten sein Bruder Segeband und sein Vetter Heinrich nach der Theilung des Gutes Clausdorf seinen Antheil, welcher in dem alten Hofe zu Clausdorf, dem halben Erbe daselbst, auf welchem Segeband wohnte, und der Mahlfreiheit in der Mühle zu Garwensdorf bestand; vgl. oben S. 112 [CXL]. Wahrscheinlich hatten die Vettern Segeband und Heinrich das Gut Clausdorf zur Hälfte getheilt und Burchard erhielt die Hälfte von seines Bruders Segeband Erbe, also ein Viertheil des Gutes.

Burchard v. Oertzen wird von allen damaligen Gliedern der Linie Clausdorf-Garwensdorf am häufigsten genannt und lebte ziemlich lange. Er wird nach und nach das Gut Clausdorf ganz oder zum größern Theile von seinen Vettern an sich gebracht haben, da diese mit der Zeit an andern Orten wohnhaft erscheinen. Am 28. Junii 1430 verkaufte er der geistlichen Jungfrau oder Begine Armgard Haversack zu Wismar 2 lüb. Mark Renten aus seinem ganzen Hofe und Dorfe Clausdorf; diese Veräußerung bewilligten durch Anhängung ihrer Siegel seine Vettern Sivert auf Roggow und Heinrich aus dem Hause Clausdorf-Garwensdorf, damals zu Kahlenberg wohnend [CLXXVII]. Er trat am 17. Oct. 1430 für den Knappen Barthold vom See auf Damekow und am 5. Dec. 1430 für den Knappen Berend v. Barnekow auf Malpendorf als Bürge ein, als diese an geistliche Stiftungen und Personen Hebungen aus ihren Gütern zu Eichholz und Nantrow verpfändeten [CLXXVIII, CLXXIX]; am 12. März 1432 bürgte er wieder für Barthold vom See, als dieser wiederum 4 lüb. Mark Renten aus seinem Hofe zu Eichholz an die Nicolai-Kirche zu Wismar verpfändete [CLXXXIV]. Ohne Zweifel war er mit den Verpfändern und deren übrigen Bürgen verschwägert.

Am 24. Julii 1433 überließ ihm seines verstorbenen Bruders Segeband Sohn Reimar für eine Anleihe von 13½ lüb. Mark zum unterpfändlichen Besitze seine Besserung an

der Burgstätte und den Teichen zu Garwensdorf [CLXXXV]: es scheint damals also keine Ritterburg auf dem Gute Garwensdorf mehr gestanden zu haben. Im J. 1442 wird Burchard v. Oertzen noch genannt, als der schweriner Dompropst Johann Bruns der Wittwe des Claus Sperling einen Pfandbesitz in Gr. Brütz und Kramonshagen überließ [CC] und der Herzog Heinrich ihm und Hans Stralendorf auf Gamehl und Heinrich v. Bülow auf Plüschow 10 Mark Bede aus Nantrow und Madsow verpfändete [CXCIX].

Mit Bestimmtheit tritt Burchard v. Oertzen noch am 22. Aug. 1444 hervor, als die Brüder Waldemar und Johann Moltke auf Mulsow ihm, „dem Knappen Burchard v. Oertzen zu Clausdorf", 16 lüb. Mark Pacht aus dem Gute Hanshagen im Kirchspiel Kröpelin verpfändeten [CCI]; diese Forderung übertrug Johann Moltke am 7. April 1460 auf Sivert v. Oertzen auf Roggow auf fernere 10 Jahre. Zuletzt erscheint Burchard v. Oertzen am 22. Nov. 1446, als sein Neffe Hans, der damals auf der Pfarre zu Alt-Bukow wohnte, ihm und seinem Vetter Mathias v. Oertzen auf Kl. Tessin 6 Scheffel Hafer, 3 Scheffel Roggen und 3 Scheffel Gerste Pacht aus einem Bauerhofe in Clausdorf verpfändete [CCVI]. Auch mag es um diese Zeit gewesen sein, daß ein Theil von Clausdorf, welcher den v. Oertzen auf Gammelin und Wustrow gehörte, an die Overberg zu Steinhagen verpfändet war, da Burchard v. Oertzen aus dem Hause Gammelin um das J. 1510 eine für 300 Mark verpfändete Pacht als sein väterliches Erbe in Anspruch nahm [CCCXLIII]. Man sieht aus allen diesen Vorgängen deutlich, daß Burchard v. Oertzen nach und nach in den alleinigen Besitz von Clausdorf m. Z. kam, indem sein Vetter Heinrich im J. 1430 zu Kahlenberg und sein Neffe Hans im J. 1446 zu Alt-Bukow wohnten und seine Neffen Reimar und Hans ihm Theile von ihren Erbgütern verpfändeten, so weit Nachrichten darüber erhalten sind; über andere Veräußerungen mögen die Nachrichten verloren gegangen sein.

Wie lange Burchard v. Oertzen noch gelebt hat, ist nicht zu ermitteln; als am 7. April 1460 sein Pfandbesitz in Hans-

hagen auf Sivert v. Oertzen auf Roggow überging, wird freilich sein Name noch genannt, ohne daß dabei gesagt wird, daß er schon verstorben sei [CCXXXIII]; aber es ist wahrscheinlich, daß er damals schon todt war, da die ganzen Verhältnisse des Hauses Clausdorf-Garwensdorf darauf hinzudeuten scheinen, daß das Haus damals schon seinem Ende entgegenging und schon seine Güter größtentheils aus den Händen gegeben hatte. Da er in der ersten Hälfte des 15. Jahrh. lebte, so ist er nicht mit Burchard v. Oertzen aus dem Hause Gammelin zu verwechseln, welcher in der zweiten Hälfte des 15. Jahrhunderts lebte und noch im J. 1522 auf Helpte wohnhaft erscheint.

Wahrscheinlich war Burchards Sohn

VIII. 15. Bernd.

---

11.

## Heinrich, Knappe.

1415—1430, † vor 1438.

§. 74. G. VII.

Heinrich v. Oertzen wird nach der Urkunde vom 17. März 1415 ein Vetter der Brüder Segeband und Burchard auf Clausdorf genannt [CXL]; zugleich wird gesagt, daß er „Brüder" hatte, die aber nicht bekannt geworden sind. Wahrscheinlich stammten Heinrich und seine Brüder aus dem Hause Garwensdorf und waren Söhne Detwigs III. oder des Nicolaus. Garwensdorf war aber damals wohl verpfändet, indem am 6. Dec. 1411 „Hans Barsse zu Garvenstorf" genannt wird. Heinrich mit seinen Brüdern wohnte im J. 1415 zu Clausdorf und hatte dieses Gut mit seinen Vettern, den Brüdern Segeband und Burchard, getheilt; am 17. März 1415 setzten die beiden ältesten Vettern den Antheil Burchards fest [CXL]: in der Urkunde wird ausdrücklich

„Heinrichs Scheide" zu Clausdorf genannt. Burchard v. Oertzen, welcher von den Vettern am längsten lebte, brachte aber nach und nach wohl den Besitz des ganzen Gutes Clausdorf an sich und die Vettern erscheinen bald an andern Orten wohnhaft. — Im J. 1416 ward Heinrich v. Oertzen von der Stadt Wismar verfestet, weil er Henneke vom See (wahrscheinlich aus dem Hause Damekow) verwundet hatte [CXLII]. In der Linie Clausdorf-Garwensdorf scheinen um jene Zeit öfter Gewaltthätigkeiten vorzufallen, wie auch Segeband v. Oertzen 1407 von der Stadt Wismar verfestet ward [CXXXIII].

Im J. 1430 wohnte Heinrich v. Oertzen zu Kahlenberg im Kirchspiele Zurow, nicht weit von Clausdorf; als Burchard v. Oertzen auf Clausdorf am 28. Junii 1430 zwei lüb. Mark Renten aus Clausdorf verkaufte, gaben Sivert v. Oertzen auf Roggow und „Heinrich von Oertzen derzeit wohnhaft zu Kahlenberg" durch Anhängung ihrer Siegel ihre Zustimmung [CLXXVII]; die Original-Urkunde mit dem Siegel Heinrichs ist noch vorhanden. Wie Heinrich v. Oertzen zu dem Wohnsitze in Kahlenberg kam, ist nicht zu ergründen; das Gut Kahlenberg war ein altes Lehn der Familie v. Levetzow und liegt bei dem Gute Levetzow bei Wismar, dem Stammgute dieser Familie, von welchem sie auch den Namen trägt und zu welchem Kahlenberg als Pertinenz gehörte; am 29. Sept. 1443 ward Johann v. Bassewitz mit dem Hofe und dem Dorfe Levetzow und mit dem Hofe Kahlenberg, mit dem Wohnhofe daselbst, belehnt, so wie er diese Güter von den v. Levetzow gekauft hatte. Wahrscheinlich waren Verschwägerungen die Veranlassung, daß Heinrich v. Oertzen zu Kahlenberg wohnte.

Diese Urkunde vom J. 1430 ist die letzte, in welcher Heinrich v. Oertzen genannt wird; am 15. Dec. 1438 war er schon todt. Als an diesem Tage die Brüder Heinrich und Barthold v. Barsse auf Rambow die ihnen zustehenden Pächte aus dem Dorfe Hohen-Wendorf bei Wismar an die Vorsteher der Georgenkirche zu Wismar verpfändeten, nahmen sie davon 11 Mark Rente „Leibgedinges, welche der Wittwe „Heinrichs v. Oertzen zugehörten" [CXCIV]. Das Gut

Hohen-Wendorf war im 15. Jahrh. ein Lehn der Familie von Barsse. Es ist daher nicht unwahrscheinlich, daß Heinrichs v. Oertzen Gemahlin eine geborne von Barsse war. Aus diesem Verwandtschaftsverhältnisse mag es sich denn auch erklären, daß schon im J. 1411 Hans Barsse im (wahrscheinlich unterpfändlichen) Besitze des v. örtzenschen Gutes Garwensdorf war.

Von Kindern und Nachkommen Heinrichs v. Oertzen ist nirgends die Rede; er wird ohne Hinterlassung männlicher Leibeserben gestorben sein.

## 12.
## Brüder Heinrichs.
1415.

§. 75. G. VII.

Heinrich v. Oertzen auf Clausdorf, späterhin zu Kahlenberg wohnhaft, hatte „Brüder", welche bei der Theilung von Clausdorf am 17. März 1415 erwähnt, aber nicht mit Namen genannt werden, auch ferner nicht vorkommen. Vgl. Heinrich §. 74.

## 13.
## Reimar, Geistlicher. (?)
1433—1446.

§. 76. G. VIII.

Um die Mitte des 15. Jahrhunderts lebten zwei Söhne Segebands v. Oertzen auf Clausdorf (vgl. §. 72), Namens Reimar und Hans. Der Besitz beider war nur beschränkt,

indem ihr väterliches Erbe nur aus dem schon beschränkten halben Hofe zu Clausdorf bestand, welchen sie wieder zu theilen hatten. Dazu waren sie veranlaßt, ihren kleinen Besitz noch durch Verpfändungen zu schwächen.

Am 24. Julii 1433 verpfändete „Reimar von Oertzen, Segebands Sohn," seinem Vetter Burchard v. Oertzen, welcher schon den größten Besitz in der Linie hatte, die Besserung an seinem Antheile an der Burgstätte und den Teichen zu Garwensdorf für 13½ lüb. Mark [CLXXXV]; dieser Antheil an dem Gute Garwensdorf war nach der Pfandsumme nur sehr klein. Am 22. Nov. 1446 verpfändete [CCVI] sein Bruder Hans seinen Vettern Burchard zu Clausdorf und Mathias zu Kl. Tessin 12 Scheffel Kornpacht aus einem Bauerhofe zu Clausdorf, und Reimar gab seine Zustimmung hiezu durch Anhängung seines Siegels. In dieser Urkunde, von welcher freilich nur Abschriften vorhanden sind, wird Reimar „Herr" genannt („her Reymer"). Nach diesem Titel mußte er entweder Ritter oder Priester geworden sein. Da nun aber Reimar v. Oertzen gar nicht weiter genannt wird und es nicht wahrscheinlich ist, daß sich ein Ritter nicht mehr Einfluß und Ansehen verschafft haben sollte, so ist es wahrscheinlich, daß er Geistlicher geworden war, um so mehr, da er sich bei der Verpfändung vom 24. Julii 1433 nicht „Knappe" nennt, wie sein Bruder, sondern nur einfach „Segebands Sohn". Ein Fingerzeig darauf, daß Reimar ein Priester geworden sei, scheint darin zu liegen, daß sein Bruder Hans im J. 1446 auf der Pfarre zu Alt-Bukow wohnte. Es dürfte also nicht unwahrscheinlich sein, daß Reimar Priester zu Alt-Bukow war.

Von Nachkommen Reimars ist keine Spur zu finden.

14.

## Hans IV., Knappe.

1446—1493.

§. 77. G. VIII.

Ein anderer Sohn Segebands v. Oertzen auf Clausdorf (§. 72) ist der „Knappe Hans", da er als Bruder Reimars und dieser als Segebands Sohn aufgeführt wird. Auch der Besitz dieses Sohnes Segebands war nicht bedeutender, als der seines Bruders Reimar. Er war daher veranlaßt, den Sitz seiner Väter zu verlassen und wohnte im J. 1446 auf der Pfarre („wedeme") zu Alt-Bukow, wo vielleicht sein Bruder Priester war. Am 22. Nov. 1446 verpfändete nämlich „Hans von Oertzen, Knappe, wohnhaft auf der Pfarre („wedeme") zu Alt-Bukow, mit Zustimmung seines Bruders „Herr Reimar", seinen Vettern Burchard zu Clausdorf und Mathias zu Kl. Tessin 6 Scheffel Hafer, 3 Scheffel Roggen und 3 Scheffel Gerste jährlicher Kornpacht aus einem Bauerhofe zu Clausdorf [CCVI]. Die v. Oertzen auf Clausdorf hatten auch Rechte an dem nahe gelegenen Gute Neuendorf im Kirchspiele Neuburg. Am 26. Nov. 1474 verpfändete Jaspar von Stralendorf auf Kl. Krankow dem Mindern Kaland zu Wismar 7 lüb. Mark Pacht aus zwei Höfen des Dorfes Neuendorf, und zwar 4 Mark aus dem Hofe des Bauern Curd Bernit und 3 Mark aus dem Hofe des Hans von Oertzen [CCLXXVIII]. Dieser Besitz war also nur sehr klein.

Hans v. Oertzen lebte sehr lange und erscheint noch sehr spät zu Neuendorf wohnend. Als am 21. Oct. 1493 Margarethe, die Wittwe des Friedrich Wessel zu Wismar, ihre testamentarischen Bestimmungen machte [CCCIX], erklärte sie auch, daß Hans von Oertzen zu Neuendorf im Kirchspiele zu Neuburg und nach dessen Tode seine Kinder ihre nächsten Erben seien. Es ist über dieses Verhältniß nichts zu ermitteln gewesen; möglich ist es, daß Margarethe Wessel dem Hans v. Oertzen verwandt war. Auch von der Frau und den Kindern des Hans v. Oertzen ist nichts bekannt geworden. Die Kinder werden Töchter gewesen oder jung und ohne

Leibeserben gestorben sein, da fortan keine Glieder des Hauses Clausdorf-Garwensdorf und die Güter desselben im Besitze der Linie Roggow erscheinen.

Möglich wäre es auch, daß dieser am 21. Oct. 1493 zu Neuendorf vorkommende Hans v. Oertzen der Sohn Siverts II. auf Roggow wäre; jedoch ist dies nicht wahrscheinlich.

## 15.

## Bernd, Knappe.

### 1460.

§. 78. G. VIII.

Ganz vereinzelt wird einmal, am 7. April 1460, der „Knappe Bernd v. Oertzen zu Clausdorf" genannt, als Johann Moltke auf Mulsow die dem Burchard v. Oertzen auf Clausdorf früher verpfändeten 16 Mark Pacht aus Hanshagen auf Sivert v. Oertzen auf Roggow übertrug [CCXXXIII]. Wahrscheinlich war dieser Bernd ein Sohn des Knappen Burchard (§. 73).

§. 79a.

Mit den Knappen Hans IV. (1446—1493) und Bernd v. Oertzen (1460) muß das Haus Clausdorf-Garwensdorf in männlicher Linie ausgestorben sein, da keine Spur von Gliedern desselben weiter zu entdecken ist und die Güter des Hauses sich gleich nach dem letzten Auftreten der genannten beiden Knappen im Eigenthum des Hauses Roggow befinden; nachdem sie schon vorher in den Besitz desselben übergegangen waren. Die v. Oertzen auf Roggow hatten schon früh Rechte an den Gütern dieser Linie; so besaßen sie schon im J. 1384 „die Freiheit und das höchste Gericht" in Garwensdorf [CXI]. Im J. 1464 verschrieb Sivert v. Oertzen seiner Frau Margarethe außer andern Hebungen zur Leibzucht auch seinen „Antheil an den Dörfern Garwensdorf und Clausdorf", welcher 37 Mark betrug [CCXLIII].

Nach dem Jahre 1474 waren aber die v. Oertzen auf Roggow allein im Besitze des Gutes Clausdorf m. Z., welches von jetzt an gewöhnlich allein genannt wird, während Gar-

wensdorf immer mehr zur Pertinenz herabsinkt und sehr selten vorkommt. Es ist ohne Zweifel, daß die v. Oertzen auf Roggow die nächsten Vettern der v. Oertzen auf Clausdorf waren und daher diesen auch im Güterbesitze folgten. Das Haus Clausdorf-Garwensdorf ward durch Zersplitterung des Güterbesitzes schon früh unbedeutend und verlor schon vor seinem Aussterben seine Güter. Der letzte des Hauses, Hans, behielt nur einen Bauerhof zu Neuendorf und trat schon bei seinem Leben seine Hauptlehen an die Linie Roggow ab. Schon am 26. Dec. 1477 wird der „junge Sivert v. Oertzen" von der Linie Roggow als „zu Clausdorf" wohnhaft genannt [CCLXXXVI] und erscheint ganz in denselben Ausdrücken noch am 24. Junii 1482 [CCXCIII]. Nach dieser Zeit erscheint er aber im Besitze von Berenshagen und Zibühl, ehe er zum Mitbesitze von Roggow kommt. Er wird noch einmal, jedoch ohne Datum, als Bürge für Heinrich v. Stralendorf zu Crivitz genannt („Syuert van Oertzen to Clastorp"). Hans v. Oertzen lebte noch lange und wohnte noch am 21. Oct. 1493 mit seinen Kindern, von denen nichts bekannt geworden ist, auf dem Hofe zu Neuendorf [CCCIX]. Er wird aber bald darauf gestorben und sein Lehnrecht an die v. Oertzen auf Roggow gefallen sein. Die Succession der v. Oertzen auf Roggow wird in der Folge nicht allein durch den Güterbesitz selbst, sondern auch durch eine ausdrückliche Nachricht bestätigt, nach welcher im J. 1515 Jaspar und Lippold v. Oertzen auf Roggow als Schuldner einer an die großen Marienzeiten zu Wismar cedirten Verschreibung des Segeband v. Oertzen auf Clausdorf (1407—1415) folgten, indem sie Besitzer der Güter der Clausdorfer Linie waren:

„To Klastorpe. XII mark vor IIC vorsegelt Seghe-
„bant van Ortzen. Nu hebben dat gud Jaspar
„vnd Lippolt van Ortzen, vnd Segebant vnde Cla-
„wes Hane to Kuchelmisse scholen ander vorseghelinge
„don vnde mach villichte nicht gheschen syn."

Fortan erscheint die Linie Roggow im Besitze der Güter der Linie Clausdorf-Garwensdorf.

# Nachtrag
zum
# Hauſe Clausdorf-Garwensdorf
über
# das Gut Ravensberg.

## 6.
## Detwig III., Knappe.
1386–1392.

§. 79b, zu §. 22. G. VI.

Es hat bisher (oben S. 8–10) nicht ermittelt werden können, um welche Zeit die v. Oertzen in den Beſitz des Gutes Ravensberg gekommen ſind. Während des Druckes dieſes Bogens wird eine Nachricht entdeckt, aus welcher hervorgeht, daß die v. Oertzen ſchon am Ende des 14. Jahrh. Ravensberg beſaßen. Zugleich wird durch dieſe Entdeckung meine Vermuthung gerechtfertigt, daß in alten Zeiten dieſes Gut der Linie v. Oertzen auf Clausdorf-Garwensdorf gehörte. Die neu entdeckte Nachricht iſt folgende Urkunden-Regeſte der Kirche zu Mulſow im ſchweriner Archive:

„Ein pergamenen verſiegelter brieff durch Dedewich von „Ortzen zum Ravensberge einem Burger zur Wismar „Heinrich Mulſow genandt in Geruenſtorff in den Er„ben, daruf Thewes gewohnet, diſer gibt eine marck, Bruſow „gibt 24 ßl. und Clauß Pardow gibt 8 ßl., alle Jahr „auf Michaelis einzunhemen, verſchrieben. Actum Anno „1392. Medelouere ſeien Lippoldt vnd Herman von „Ortzen, Knapen."

Da nun (vgl. S. 9) im J. 1369 Vicke Berckhahn mit Ravensberg belehnt ward und nach der vorſtehenden Regeſte Dedewig v. Oertzen im J. 1392 im Beſitze von Ravensberg war, ſo müſſen die v. Oertzen auf Garwensdorf zwiſchen 1369 und 1392 das Gut erworben haben.

Dieſer Detwig v. Oertzen iſt auch wohl derſelbe welcher am 6. Jan. 1389 in der neu entdeckten Urkunde II. B. S. 16., Nr. CXXX, genannt wird, und nicht Detwig I. von Roggow (I, A, S. 73, Nr. 10, §. 15).

## II. Die stargardische Linie.

Die stargardische Linie des Geschlechts v. Oertzen ist auch während des 15. Jahrhunderts nicht klarer zu verfolgen, als in den frühern Zeiten. Zwar fehlt es nicht an einzelnen und bestimmten Namen und an einem sichern Ueberblicke über den Güterbesitz; jedoch ist es unmöglich, bei dem großen Mangel an Urkunden die Abstammung vieler Glieder der Familie urkundlich zu beweisen, wenn sich auch der Stammbaum der Hauptlinie mit Zuverlässigkeit darstellen läßt.

Die stargardische Linie theilt sich in zwei Häuser: in das Haus Stargard und in das Haus Feldberg.

Das Haus Stargard erscheint nur noch im ersten Drittheil des 15. Jahrhunderts in einigen Mitgliedern und ist ohne Zweifel in der ersten Hälfte dieses Jahrhunderts ausgestorben, da nach dieser Zeit nie wieder ein Mitglied dieses Hauses genannt wird und die letzten Reste der Güter desselben zu Bargenstorf und Quaden-Schönfeld, als „alte Stammlehen" im gewiß ererbten Besitze des Hauses Feldberg erscheinen, welches um das Jahr 1560 auf einen einzigen Stammhalter, Jacob v. Oertzen, beschränkt war.

Das Haus Feldberg, oder die jetzt noch in zahlreichen Gliedern blühende und weit verbreitete sogenannte „Helpter Linie", aus dem Hause Grammertin abstammend, läßt sich vom Anfange des 15. Jahrhunderts an bis in das 16. Jahrhundert hinein mit allen seinen Besitzungen ziemlich klar verfolgen und nachweisen bis zu Jacob v. Oertzen auf Grammertin und Helpte, welcher um das J. 1560 der einzige Stammhalter der ganzen stargardischen Linie und der sichere Gründer der „Helpter Linie" war.

## A. Das stargardische Haus.

Das stargardische Haus der stargardischen Linie erscheint nur noch bis in das zweite Viertheil des 15. Jahrhunderts und wird ohne Zweifel in der ersten Hälfte dieses Jahrhunderts ausgestorben sein, indem die Güter desselben in der Folge im Besitze des feldbergischen Hauses erscheinen. Dies ist um so sicherer, als um das Jahr 1560 die ganze stargardische Linie auf ein einziges Glied, Jacob v. Oertzen, beschränkt war.

**Die Güter des stargardischen Hauses** waren aber folgende:

Die Glieder dieses Hauses waren meisten Theils auf der Burg **Stargard** als Burgmänner oder in der Stadt Stargard angesessen und hatten ihre Güter in der Nähe dieser Stadt.

Dieses Haus hatte im 14. Jahrh. Besitzungen in **Godenswege** (I, S. 94), **Holtdorf** und **Quastenberg** (I, S. 96), alle in der Nähe der Stadt Stargard belegen, welche aber alle früh veräußert wurden.

Zu **Quaden-Schönfeld** besaß das Haus einen „erblichen Hof", welchen noch Jacob v. Oertzen aus dem feldberger Hause am 24. April 1522 verpfändete [CCCLXVIII]; jedoch besaßen die v. Oertzen die Besitzung in Quaden-Schönfeld noch im J. 1572 „als altes Stammlehn".

Die Hauptbesitzung des Hauses Stargard war jedoch das Gut **Pargensdorf** bei Stargard. Dieses Gut erscheint schon im J. 1382 als Hauptgut des Hauses. Es ward aber durch fortwährende Verpfändungen so sehr zersplittert, daß am Ende nichts übrig blieb; namentlich schadeten dem Hause die Verpfändungen an die Geistlichkeit, welche nur schwer etwas zurückgab. Am 1. Nov. 1382 verpfändete z. B. Claus II. 24 Mark Pacht an das Kloster Wanzka (I, S. 95), am

2. Febr. 1409 Claus IV. das Schulzengericht zu Bargensdorf an die Johanniter-Comthurei Nemerow und am 19. Nov. 1434 derselbe 5 Mark Pacht aus Bargensdorf an die Kirche zu Friedland. Nachdem alle im Lande Stargard belegenen Besitzungen der Familie v. Oertzen in den Händen Jacobs v. Oertzen vereinigt waren, bekannten freilich dessen Söhne Hans und Mathias, daß sie „alle ihre von ihrem Vater er„erbten Lehn- und Erbgüter in Helpte, Grammertin, Quaden„Schönfeld, Bargensdorf und Libbehe" ihren Brüdern Heinrich, Caspar und Lippold verkauft hätten. Aber die „Erbgüter" in Bargensdorf bestanden damals nur in Prätensionen. Denn in einem Amtsregister aus der Zeit um das Jahr 1570 heißt es:

„XXIIII Mk. vff Ortzen hoffe zu Bernstorff hat man „nicht; aber beide furſten haben itzt das gantze „dorff."

Auch werden in den Lehn-, Roßdienst- und Bede-Registern aus der ersten Hälfte des 16. Jahrhunderts die v. örtzenschen Besitzungen des Hauses Stargard nicht mehr aufgeführt.

So kann man mit Sicherheit annehmen, daß von dem ganzen ehemaligen Besitze des Hauses Stargard nichts auf die Familie vererbte.

## 6.

## Otto, Knappe.

### 1415.

§. 80. G. VII.

Otto v. Oertzen wird nur ein Mal, am 5. Junii 1415 zu Neu-Brandenburg, genannt, als der Herzog Ulrich von Meklenburg-Stargard ihn mit dem Kloster Broda wegen eines Kampes vor der Hopfenburg verglich, an welchen er Anspruch gemacht hatte und den er dem Kloster abtrat [CXLI]. Die Hopfenburg wird in der Nähe der Stadt Neu-Branden-

burg gelegen haben, da das Kloſter Broda vor den Thoren der Stadt lag. Otto v. Oertzen gehörte hiernach ohne Zweifel dem Hauſe Stargard an. Er war zwar vermählt, da er die Entſagung „mit ſeinen Erben von ſeines Weibes wegen" ausſtellt; er wird aber keine Kinder hinterlaſſen haben, da fernerhin keine v. Oertzen genannt werden, die dafür gelten könnten, er auch in der Urkunde vom 5. Junii 1415 keiner Kinder erwähnt, obwohl er ſeiner Frau gedenkt.

## 7.
## Nicolaus IV., Knappe.
### 1411—1434.

§. 81. G. VII.

Des Knappen Claus v. Oertzen des „alten" zu Alt-Stargard Sohn war ohne Zweifel Claus v. Oertzen „der junge", welcher am 5. Julii 1411 zu Neu-Brandenburg ſeine Zuſtimmung gab, als Claus der ältere 24 Mark aus einem Hofe zu Quaſtenberg verpfändete (CXXXVI] (vgl. I, S. 96). Er war es auch wohl, der am 2. Febr. 1409 mit ſeinen Söhnen Hermann, Andreas und Vicke das Schulzengericht zu Bargensdorf an die Johanniter-Comthurei Nemerow verpfändete [CXXXV] (vgl. §. 82). Claus IV. erſcheint noch am 19. Nov. 1434 zu Stargard wohnhaft, als er dem S. Mauritius-Altare in der Pfarrkirche zu Friedland 5 Mark jährlicher Pacht aus dem Dorfe Bargensdorf verpfändete [CLXXXVI]. Mehr iſt von ihm nicht bekannt geworden.

Wahrſcheinlich waren ſeine Söhne

VIII. 8. Hermann III. 9. Andreas II. Vicke I.

## 8.

## Hermann III., Knappe.

### 1409–1413.

§. 82. G. VIII.

Im J. 1409 hatten Claus v. Oertzen und Hermann, Drewes und Vicke v. Oertzen das Schulzengericht zu Bargensdorf mit vier Hufen und aller Gerechtigkeit an die Johanniter-Comthurei Nemerow pfandweise veräußert, um dafür eine Lampe und ein Licht vor dem Sacramente zu halten, und am 2. Febr. 1409 bestätigte der Herzog Ulrich von Meklenburg-Stargard diese Veräußerung. In dieser Urkunde [CXXXV] ist nun nicht klar und bestimmt zu lesen, daß Hermann, Drewes und Vicke Söhne oder Vettern von Claus v. Oertzen gewesen sein, d. h. es ist nicht gut mit Bestimmtheit zu entscheiden, ob in der Urkunde: „sîne sôns“ oder: „sîne vedderen“ steht. Es hat jedoch viel Wahrscheinlichkeit für sich, daß sie „Söhne“ („sîne sôns“) des Claus v. Oertzen gewesen seien, und daß der Vater Claus v. Oertzen der Claus „der junge“ war, der 1411—1434 zu Stargard wohnte und Bargensdorf besaß. Wahrscheinlich waren Hermann, Andreas und Vicke v. Oertzen die letzten Sprößlinge des Hauses Stargard, da dieses und dessen Güterbesitz nicht wieder erwähnt wird. Hermann v. Oertzen wird noch einmal am 1. Dec. 1413 als Zeuge bei einer Verschreibung der Brüder v. Warburg genannt [CXXXIX]; vielleicht war diese Urkunde nicht im J. 1413, sondern im J. 1430 ausgestellt. Andreas und Vicke v. Oertzen werden nicht weiter genannt. Und hiemit scheint das Haus Stargard erloschen zu sein.

9.

## Andreas II., Knappe.

1409.

§. 83. G. VIII.

Andreas II. v. Oertzen wird nur ein Mal am 2. Febr. 1409 neben Hermann und Vicke v. Oertzen bei einer Veräußerung aus Bargensdorf genannt; vgl. 8. Hermann III. §. 82 [CXXXV].

---

10.

## Vicke I., Knappe.

1409.

§. 84. G. VIII.

Vicke I. v. Oertzen wird nur ein Mal am 2. Febr. 1409 neben Hermann und Andreas v. Oertzen bei einer Veräußerung aus Bargensdorf genannt; vgl. 8. Hermann III. §. 82 [CXXXV].

---

## B. Das feldbergische Haus.

Das feldbergische Haus der stargardischen Linie des Geschlechts v. Oertzen, von welchem die jetzt noch blühende sogenannte „helpter Linie" stammt, ist während des ganzen 15. Jahrhunderts und bis in das 16. Jahrhundert hinein, bis zu dem Zeitpunkte, wo alle Güter dieser Linie in den Händen des Einen Stammhalters Jacob v. Oertzen auf Grammertin und Helpte vereinigt werden, äußerst schwer zu verfolgen und die Geschichte desselben nur lückenhaft darzustellen. In der zweiten Hälfte des 14. Jahrhunderts erscheinen fünf Brüder: Zabel, Hermann, Lippold, Nicolaus und Andreas, von denen sich Nicolaus auf Kantenitz und Andreas auf Rosenberg wohnend mit Sicherheit dem feldbergischen Hause zuweisen lassen (I, S. 102 flgd.). Von diesen Brüdern stammen über ein Jahrhundert hindurch viele v. Oertzen und die noch blühende helpter Linie; von welchem der Brüder aber die einzelnen Glieder stammen, läßt sich nicht beweisen, wenn sich auch die Geschlechtsfolgen mit ziemlicher Sicherheit aufklären lassen.

Es lassen sich zwei Zweige dieses Hauses nachweisen, von denen der eine, wahrscheinlich der ältere, im Anfange des 16. Jahrhunderts ausstirbt, der andere, wahrscheinlich der jüngere, den Stamm hält und die jetzige helpter Linie hervorbringt.

### Die Güter des feldbergischen Hauses.

Es ist zur Einsicht in die Geschichte dieses Hauses nothwendig, einen vorläufigen klaren Ueberblick über die Hauptgüter dieses Hauses zu gewinnen. Der ältere Zweig erscheint

zuletzt auf Hinrichshagen, welches aber mit dem Absterben des Zweiges aus der Familie kommt. Der jüngere, noch blühende Zweig besaß aber als Hauptgüter Feldberg, Grammertin und Helpte mit Zubehörungen, und die Geschichte dieser Güter vorläufig zu überblicken, ist von großer Bedeutung für die Geschichte der Familie.

**Feldberg.** Das Schloß Feldberg war einer der ältesten Sitze der stargardischen Linie der v. Oertzen und ist gewiß das älteste bekannte Stammhaus der jetzt noch stark blühenden sogenannten „helpter Linie" des Geschlechts. Dem Anscheine nach war Feldberg ursprünglich eine fürstliche Burg, welche mit den dazu gehörenden Gütern zu Burglehn ausgegeben war. Ein sehr alter Besitz läßt sich für die v. Oertzen freilich nicht beweisen, aber doch sehr wahrscheinlich machen. In der Ahnentafel auf dem Kirchenstuhle zu Helpte wird gesagt, daß der älteste, dort aufgeführte Stammhalter Bernd v. Oertzen, der um das Jahr 1400 gelebt haben muß, „aus dem Hause Feldberg" seine Herkunft gehabt habe, und in der Urkunde vom 1. Nov. 1382 werden die Brüder: Nicolaus als zu Kantenitz, in der Nähe von Feldberg, und Andreas zu Rosenberg, als zu Feldberg gehörig, wohnend aufgeführt (vgl. I, S. 103 flgd.) Aus diesen Angaben läßt sich sicher schließen, daß diese v. örtzensche Linie schon früh Besitzungen in Feldberg und Umgegend gehabt habe. Der urkundliche Beweis dieses Besitzes läßt sich jedoch nur aus der Zeit führen, als die v. Oertzen denselben veräußerten. Die alte adelige Familie von Feldberg, welche wahrscheinlich von der Burg gleiches Namens ihren Namen hatte, besaß noch spät Antheile in Feldberg. Die Hauptmasse der feldbergschen Güter war aber in der zweiten Hälfte des 15. Jahrh. in zwei Theile getheilt, deren einen die auch in der Mark angesessene mächtige Familie v. Kerckow, den andern die Familie v. Oertzen besaß. Beide verkauften zu gleicher Zeit ihren Besitz an die Riben auf Galenbek, ungefähr zu derselben Zeit, als diese den Besitz des Gutes Helpte auf Hermann v. Oertzen übertrugen.

Im J. 1471 verließen die v. Kerckow dem Herzoge Heinrich v. Meklenburg-Stargard „das Schloß Feldberg mit der Feldmark Rosenberg" und der Herzog verpfändete ihnen für die Abtretungssumme von 400 Mark die nach dem Aussterben des Geschlechtes v. Tripkendorf heimgefallenen Güter desselben in Tripkendorf, von welchen auch Burgdienst nach Feldberg geleistet ward. Im J. 1473 verkaufte der Herzog dem Vicke Riben zu Galenbek auch das Lehngut, welches ihm durch das Aussterben des Geschlechts v. Tripkendorf in den Dörfern Tripkendorf und Hanow heimgefallen war. Im J. 1472 verkaufte der Herzog Heinrich dem Heinrich Riben auf Galenbeck das Schloß Feldberg mit der Feldmark Rosenberg, dem Burgdienst zu Rosenberg und dem Gute, welches früher Henning v. Feldberg in Feldberg gehabt hatte. Unter diesen Besitzungen ist ohne Zweifel nur die Hälfte von Feldberg und die Hauptwohnung auf dem Schlosse daselbst zu verstehen.

Im J. 1482 verkauften die v. Kerckow dem Heinrich Riben noch die ihnen zugehörende „Hälfte" der zu dem Schlosse Feldberg gehörenden Dörfer Karwitz, Tripkendorf, Läwen und Weitendorf [CCXCII]. Gegen diese Verkäufe mochte Jaspar v. Kerckow, zu Karwitz wohnhaft, Einrede erhoben haben; denn im J. 1473 verkaufte er dem Heinrich Riben auf Galenbek seinen Antheil an der Wohnung zu Feldberg mit den dazu gehörenden Aeckern für einen Hof in Gr. Milzow [CCLXXIII] und im J. 1483 ferner seinen Antheil an Feldberg und den Dörfern Karwitz, Tripkendorf, Läwen, Weitendorf, Dolgen und Conow, und im J. 1499 verkaufte er demselben noch einmal seinen Antheil an Feldberg.

Die andere Hälfte von Feldberg besaß damals Hermann v. Oertzen auf Helpte. Am 21. Oct. 1476 verkaufte auch Hermann v. Oertzen dem Heinrich Riben auf Galenbek seine Hälfte von Feldberg mit Zubehörungen und den Antheil, den weiland Henning v. Feldberg daran gehabt hatte [CCLXXXIV].

Am 1. Julii 1475 hatte Jaspar v. Kerckow zu Löwen dem Hermann v. Oertzen einen Bauerhof mit einem Katen

zu Tripkendorf und einen Bauerhof zu Karwitz verpfändet [CCLXXX]; auch diese Güter cedirte Hermann v. Oertzen am 13. Dec. 1477 dem Heinrich Riben auf Galenbek [CCLXXXV].

So kamen die Riben auf Galenbek in den Besitz von Feldberg m. Z. und die v. Oertzen verloren ihre Besitzung daselbst.

Rosenberg war Pertinenz des Schlosses Feldberg. Von Karwitz, Tripkendorf, Läwen, Weitendorf, Kantenitz und andern nahe liegenden Dörfern gehörten Theile und Leistungen nach Feldberg.

In der Gegend von Feldberg und Lichen liegen noch viele Trümmer, welche den kriegerischen Verheerungen, denen diese Gegenden zu vielen Zeiten, namentlich 1440 und 1631, ausgesetzt gewesen sind, ein trauriges Denkmal gesetzt haben (vgl. F. Boll Geschichte des Landes Stargard, II, S. 137). Bei Schlicht neben Feldberg steht noch eine Ruine, welche den Namen „Maldie" führt, auch wohl Burg Schlee genannt wird, und nach der Sage alten „Raubrittern" gehört haben soll; auf derselben Feldmark liegt auch noch der sogenannte Schloßberg. Ob aber diese und andere Ruinen in der Gegend aus der Zeit der v. Oertzen herstammen, läßt sich nicht mehr bestimmen, um so weniger, als der gewiß merkwürdige südöstliche Theil des Landes Stargard noch gar nicht erforscht ist.

**Helpte** war in alten Zeiten eine bedeutende Burg, welche wahrscheinlich den Landesfürsten gehörte, wenn sie auch gewöhnlich von Lehnleuten besetzt war; wenigstens besaßen die Landesherren wohl ein unbeschränktes Oeffnungsrecht an derselben. Einen so bedeutenden Rang nun auch die Burg neben den andern an der Ostgrenze des Landes Stargard liegenden großen Burgen, wie Feldberg, Woldeck und Galenbek, einnahm, so wird sie doch erst spät in bestimmtem Besitze genannt. Seit der ersten Hälfte des 15. Jahrh. erscheint das Gut im Besitze des Geschlechts Riben, welches noch nicht lange im Lande Stargard angesessen war, aber bald, als auf Galenbek gesessen, zu den mächtigsten Geschlechtern des

Landes gezählt ward. Im J. 1438, Freitag vor Pfingsten wird „Wedeghe Ryben nu wonaftich to Helpede“ genannt. Das Gut Helpte war sehr groß. Nach dem Verkaufe vom 11. Nov. 1554 gehörten zu der Burg und dem Wohnhofe 10 Hufen, ferner 18 Bauern mit 36 Hufen und 10 Kossaten im Dorfe Helpte und 5 Hufen auf dem Felde von Milzow; außer diesem zur Burg gehörenden Grundbesitze besaß die alte Familie von Helpte noch 12 Hufen auf dem Felde von Helpte; nach einem Lehnbriefe vom 5. Aug. 1455 gehörten zu dem Gute im Ganzen 60 Hufen. Die Familie v. Helpte war eine alte Familie des Landes Stargard, welche sicher dieses alte Lehn in dem Dorfe Helpte hatte, aber ihren Namen vielleicht von dem Dorfe Helpte in der Grafschaft Mansfeld bei Eisleben führte und ihren Namen wohl wieder dem stargardischen Dorfe gegeben hatte, wie Aehnliches im Lande Stargard nicht selten vorkommt. Das Hauptlehn der Familie v. Helpte im Lande Stargard war das Gut Pragstorf.

Die Riben erscheinen noch gegen die Mitte des 15. Jahrh. im Besitze des Haupttheils von Helpte. Als nach dem Tode des Herzogs Johann III. von Mecklenburg-Stargard sein kriegerisch gesinnter Vetter Heinrich d. ä. die Zügel der Regierung allein führte, machten die Brandenburger Anstalten zur Besitznahme des nach ihrer Ansicht eröffneten Landesantheils, oder beabsichtigten auch, den Fehdegeist des Herzogs Heinrich zu zügeln. Genug, es kam, aus noch nicht bekannt gewordenen Ursachen, im J. 1440 zum heftigen Kriege gegen das Land Stargard, nachdem sich der Markgraf Friedrich von Brandenburg mit den Herzogen von Pommern verbündet hatte. Der vereinten Macht so vieler überlegener Fürsten konnte Heinrich nicht widerstehen. Am Sonntage nach Johannis-Tag (30. Junii) 1440 um Mittag zu gleicher Zeit eroberten die Brandenburger und Pommeraner nach Verabredung die Schlösser und Städte Woldeck und Lichen; dann eroberten sie auch die Schlösser Helpte und Galenbek, welche damals beide den Riben gehörten. Durch den Vertrag, der am 5. Julii geschlossen ward, mußte der Herzog Heinrich die vier Schlösser und das Kloster Himmelpfort abtreten. Lichen und Himmelpfort be-

hielt der Markgraf für sich; Woldeck und Helpte wurden von den Brandenburgern und den Pommern je zur Hälfte besetzt. Durch den am 12. April 1442 zu Witstock geschlossenen Frieden wurden Woldeck und Helpte wieder an Meklenburg zurückgegeben; aber Lichen und Himmelpfort blieben an Brandenburg verloren, welches sich auch zugleich die Nachfolge in die Herrschaft der meklenburgischen Lande nach dem etwanigen gänzlichen Aussterben des meklenburgischen Fürstenhauses versichern ließ. Galenbek (vgl. Jahrb. XIX, S. 340) war wahrscheinlich schon vorher wieder an Meklenburg zurückgegeben. (Ueber alle diese Vorgänge vgl. man F. Boll Gesch. des Landes Stargard, II, S. 133 flgd. und S. 421 flgd.)

Bis dahin werden die Riben auf Galenbek, welche in alle kriegerischen Begebenheiten jener Zeit im Lande Stargard verwickelt sind, auch Besitzer des Gutes Helpte gewesen sein. Am 5. Aug. 1455 scheinen die v. Bredow das Gut Helpte inne gehabt zu haben, indem der Herzog Heinrich an diesem Tage den Hans v. Bredow und seine Brüder mit den landesherrlichen Gerechtsamen aus Helpte und dem Vorkaufsrechte belehnte [CCXXII]. Bald darauf erscheint aber Hermann v. Oertzen auf Helpte (vgl. unten); im J. 1466 wird „Herman Ortze to Helpte wonhaftich knape" zum ersten Male genannt. Wann und wie Hermann v. Oertzen zum Besitze des Gutes gekommen sei, ist nicht bekannt, jedoch ist es sicher, daß er erst um die Mitte des 15. Jahrh. das Gut an die Familie v. Oertzen brachte. Nachdem dieser am Ende des 15. Jahrh. ohne männliche Leibeslehnserben gestorben war, kam Burchard v. Oertzen aus dem Hause Wustrow aus unbekannten Veranlassungen in den Besitz des Gutes (vgl. unten), welches er seinen Söhnen Bernd und Marcus hinterließ. Von diesen starb mit Bernd auch dieses v. örtzensche Haus um die Mitte des 16. Jahrh wieder aus. Bevor es jedoch ausstarb, mußte Bernd v. Oertzen seinem Vetter Jacob v. Oertzen aus dem Hause Grammertin das Gut am 6. Dec. 1545 verpfänden und am 11. Nov. 1554 verkaufen [CCCXCIX, CCCCIV]. Auf diese Weise ward Jacob v. Oertzen auf Grammertin der Stifter der noch blühenden

stargardischen Linie v. Oertzen, welche noch heute die „Helpter Linie" genannt wird, obgleich die Familie nicht mehr im Besitze des Gutes ist. Bei dem jetzigen Hofe zu Helpte liegt noch der alte Burgwall, welcher jedoch nicht hoch und von großer Ausdehnung ist. Die Gräben, welche noch zu erkennen sind, sind ausgetrocknet und die alten Gebäude spurlos verschwunden. Jetzt steht ein großes Kellergebäude auf dem Burgplatze.

Von dem Besitze des Gutes Helpte waren aber die 12 Hufen ausgeschlossen, welche die Familie v. Helpte als altes Lehnstück in dem Gute besaß. Zu der Zeit aber, als Jacob v. Oertzen das Gut von seinem Vetter Bernd v. Oertzen erwarb, geschah es, daß die Familie v. Helpte ausstarb. Nach v. Gamms Nachrichten soll diese Familie im J. 1535 mit Jürgen v. Helpte auf Pragstorf ausgestorben sein; in einem Zeugenverhöre aus der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. wird gesagt, daß „Hans v. Helpte ohne einige Leibeserben „Anno ꝛc. 45 um die Fastnacht in Gott intestatus verschieden „sei und allein vier Schwestern hinterlassen" habe, welche alle vier verheirathet waren. Beide Angaben können aber nicht richtig sein, da nach der Urkunde vom 6. Dec. 1545 Hans v. Helpte noch am Leben und im Besitze des alten v. helpter Antheils des Gutes war. Im J. 1547 war aber das Geschlecht mit Hans v. Helpte bestimmt ausgestorben, da ein „Verzeichniß seliger Achim von Barneflies und Hansen von „Helpten nachgelassener Lehngüter XLVII" aufgenommen ward. Die Familie v. Helpte wird also im J. 1546 ausgestorben sein. Nach dem Tode dieses letzten Lehnträgers zogen die Herzoge die 12 Hufen als heimgefallenes Lehn ein und werden dieselben noch lange als Gnadenlehen verliehen haben. Zuletzt besaß sie als solches Jürgen v. Mecklenburg, Hauptmann zu Feldberg, der sie am 28. Febr. 1665 an Henning v. Oertzen auf Helpte verpfändete, worauf wiederum Henning v. Oertzen am 24. Febr. 1694 das ganze Gut an den Lieutenant Curd Adam v. Holzendorf verpfändete.

Grammertin war wahrscheinlich das älteste Hauptlehn der „helpter Linie" der Familie v. Oertzen. Aber auch dieses Gut wird erst ziemlich spät genannt, und zwar erst um die Mitte des 15. Jahrh., als die Familie v. Oertzen das Gut Helpte erwarb und bald darauf ihren Antheil an Feldberg verkaufte. Zuerst wird Grammertin in der Ahnentafel auf dem Kirchenstuhle zu Helpte genannt, indem hier Mathias v. Oertzen, einer der Stammhalter der „helpter Linie", welcher um das J. 1450 gelebt haben muß, als „vom Hause Grammertin" bezeichnet wird. Erst mit des Mathias Urenkel Jacob v. Oertzen, welcher zugleich der urkundlich nachweisbare Stammhalter der helpter Linie ist, läßt sich seit dem J. 1522 das Gut Grammertin als Stammgut der helpter Linie auf längere Zeit nachweisen.

In älteren Zeiten gehörte den v. Oertzen nur eine Hälfte des Gutes Grammertin. Die andere Hälfte gehörte einer Linie der Familie v. Feldberg und war zum Theil Pertinenz des an Grammertin grenzenden Gutes Goldenbow. Diese Linie war im J. 1474 im Mannesstamme ausgestorben: am 20. Mai 1474 belehnte der Herzog Heinrich den Heinrich Heidebreke mit dem Dorfe Goldenbow, welches er „mit Gercken v. Feldbergs Tochter Gertrud" (nicht Margarethe) zu erheirathen im Begriffe war, so wie der „alte Hermann v. Feldberg" das Gut besessen hatte. Zu Goldenbow gehörte nach einem alten Verzeichnisse: ein Hof zu Grammertin, ein Hof zu Bergfeld, ein Hof zu Quastenberg, fünf (Bauer-) Höfe und ein Katen zu Ballin. Als Güter der v. Feldberg werden auch nur Goldenbow, Grammertin und Antheil an Feldberg genannt.

Nach dem Aussterben dieser Linie v. Heidebreke schenkte der Herzog Johann Albrecht I., unter Zustimmung seiner Brüder Christoph und Carl, am 30. April 1558 seinem Hauptmann Stellan Wakenitz, auf Passow und Kiesow in Pommern erbgesessen, für seine treuen Dienste die eine Hälfte des heimgefallenen Gutes Goldenbow; die andere Hälfte kaufte Stellan Wakenitz am 19. Octbr. 1558 von Hans Buch d. ä. auf Tornow und Boddow, welcher diese Hälfte von dem Herzoge

Ulrich geschenkt erhalten hatte. Nach diesem Verkaufscontracte gehörte zu dem halben Gute Goldenbow die Hälfte der seit Menschengedenken dazu gehörenden Höfe und Hufen zu Ballin, Bergfeld, Quastenberg und Grammertin. Am 1. Mai 1565 aber verkaufte Stellan Wakenitz das Gut Goldenbow wieder an den Herzog Johann Albrecht: nach diesem Verkaufscontracte hatte das Gut Goldenbow einen Wohnhof mit 6 Hufen, 9 Bauerhufen und 1 Katenstätte und als Pertinenzen 1 Bauerhof zu Grammertin, 1 Bauerhof zu Bergfeld, und 4 Baulente und 1 Kossaten zu Ballin.

Der Haupttheil der einen Hälfte von Grammertin hielt sich jedoch noch eine Zeit lang im Besitze der letzten Linie des Geschlechts von Feldberg. Im J. 1562 wird aber amtlich berichtet: „Henning v. Feldberg ist der letzte vom Geschlecht, ihm gehört halb Grammertin."

Die andere Hälfte des Gutes Grammertin gehörte seit alter Zeit der helpter Linie der Familie v. Oertzen aus dem Hause Feldberg. In dem Contracte des Stellan Wakenitz vom 1. Mai 1565 wird ausdrücklich das „Dorf Grammertin, da die Oertzen und Feldberge wohnen", genannt. Im J. 1506 hatten „Henning Feldberg und Dietrich Oertzen zu Grammertin zwei Pferde" nach dem Roßdienstregister zu stellen.

Nachdem Henning v. Feldberg zu Grammertin im J. 1576 wegen großer Verschuldung seinen „Antheil des halben Lehns und Gutes zu Grammertin" dem Joachim Glöde auf Roggenhagen auf 10 Jahre für 2000 Gulden verpfändet hatte, verkaufte er im J. 1598 sein Gut Grammertin erblich für 6000 Gulden an Hans, Lippold, Mathias, Jacob, Detwig Gebrüder und Vettern v. Oertzen. So kam das ganze Gut Grammertin an die Familie v. Oertzen. Mit Henning v. Feldberg starb aber diese Familie im ersten Viertheil des 17. Jahrhunderts völlig aus. Zu Latomus Zeiten um das J. 1614 lebte Henning v. Feldberg noch; Latomus sagt, daß „die Feldberge in Abnehmen gerathen, alle ihre Güter „in fremde Hände gekommen und zugleich ihr ganz Geschlecht „bis auf einen, so noch lebt, ausgestorben" sei.

Zu Grammertin gehörte als Pertinenz noch eine wüste Feldmark Lübbehe (Labee), an welche die v. Oertzen Ansprüche machten, obgleich sie streitig war, so lange in alten Zeiten davon die Rede ist. Die Feldmark „Lubehe" lag nach einer Nachricht vom J. 1635 „zwischen Gröhnow und der Goldebowschen Mühlen und ist eine wüste Veltmargh;" nach dem Contracte vom 1. Mai 1565 grenzte „Goldenbow bei dem Mühlenteich mit Lubbene." Lübbehe lag also zwischen Grammertin, Tripkendorf und Grünow. Im J. 1572 wird berichtet, daß die „Bauern des Johanniter-Dorfes Gnewitz eine „wüste Feldmark die Lebbe genannt haben, darauf sie ihre „Hütung haben, und nach Strelitz gehöre". Dagegen wird zu derselben Zeit berichtet: „Die Oertzen von Grammertin, „weil sie zwei Hufen auf der Feldmark Lebbehe haben, „maßen sich auch die Hölzung an, aber der Hölzung ist man „ihnen nicht geständig". Von einer andern Seite verkauften am 6. Septbr. 1568 die Vorsteher der Kirche zu Fürstenberg dem Herzoge Johann Albrecht die Feldmark Lübbehe im Amte Strelitz, wovon ihre Vorfahren zwei Theile gekauft und dem Pastor zu seiner Unterhaltung vermacht haben, weil die Feldmark zu weit von Fürstenberg gelegen sei und von den Benachbarten vom Adel und Andern durch Eindringen geschmälert werde. Die Besitzverhältnisse dieser wüsten Feldmark, „welche nur Roggen und Buchweizen trug", scheinen im 16. Jahrhundert also durchaus verwirrt und dunkel gewesen zu sein; jedoch hatten die v. Oertzen sicher Antheil an der Feldmark, wie es scheint ursprünglich 2 Hufen. Daher verkauften Hans und Mathias v. Oertzen auf Helpte und Grammertin am 28. Mai 1572 ihren Brüdern all ihr Lehn- und Erbgut in den Dörfern Helpte, Grammertin, Quaden-Schönfeld, Bargenstorf und „auf dem Felde zu Libbehe." Nach einer amtlichen Nachricht gehörten im J. 1635 zwei Theile der Feldmark Lubbehe der Landesherrschaft und ein Theil den Thomstorfen von Bergfeld und waren vormals den Bauern zu Tripkendorf verheuert gewesen, lagen aber im J. 1635 wieder wüste. Am 3. Junii 1635 bat Heinrich Thomstorf den Herzog Johann Albrecht II., ihm die 300 Gulden,

welche der Herzog wegen der Feldmark Lebehe ungetheilter Aecker ihm und seinen Brüdern auszahlen lassen wollte, in der betrübten Zeit entrichten zu lassen.

Die v. Oertzen blieben nicht lange im Besitze des Gutes Grammertin m. Z. Im J. 1611 verkaufte Jacob v. Oertzen erblich sein Lehngut Grammertin an Dethlof v. Staffeld für 13000 Gulden und im J. 1653 erbte Sigismund August v. Thomstorf das Gut von seiner Mutter Lucia, geb. v. Staffeld; Sigismund August v. Thomstorf aber verkaufte es im J. 1688 an den Herzog Adolph Friedrich II.

## Des feldbergischen Hauses
## älterer Zweig.

### 9.
### Michael I., Knappe.
1416.

§. 85. G. VII.

In der ersten Hälfte erscheint an diesem Zweige nur ein einziger des Geschlechts, Namens „Michel von Urtze", welcher am 9. October 1416 als Zeuge bei dem Herzoge Johann von Meklenburg-Stargard zu Strelitz war, als dieser dem Kloster Himmelpfort die Walkmühle auf dem Stadtgraben zu Lichen schenkte [CXLIII]. Von seiner Lebensgeschichte und von seinen Nachkommen ist nichts bekannt geworden.

### 10.
### Anna v. Oertzen
Nonne zu Wanzka.
1474.

§. 86. G. VIII.

Ohne Zweifel gehört dem stargardischen Hause auch die Klosterjungfrau Anna v. Oertzen an, welche im J. 1474 in dem stargardischen Cistercienser-Nonnenkloster zu Wanzka lebte. Als der päpstliche Abgesandte Marinus von Fregeno dem Kloster Wanzka am 2. Aug. 1474 auch die Befugniß ertheilte,

zur Verleihung eines vollkommenen Ablasses einen eigenen Beichtvater zu halten, zählte er in der Verleihungsurkunde [CCLXXVII] alle Klosterjungfrauen namentlich auf, welche meistentheils aus den bekannten adeligen Geschlechtern des Landes Stargard stammten; unter diesen steht ungefähr in der Mitte Anna v. Oertzen, welche damals also noch nicht sehr alt sein mochte.

---

## 11.

## Hermann IV., Knappe.

1466—1488.

§. 87. G. VIII.

In der nächstfolgenden Generation erscheint ein Mann, welcher für die Familiengeschichte von ungewöhnlicher Wichtigkeit ist, Hermann v. Oertzen auf Feldberg und Helpte, von dessen Aeltern und nächsten Seitenverwandten aber keine Kunde auf uns gekommen ist. Er erscheint zuerst, als „Herman Ortze zu Helpte", am 22. Junii 1466 als Mitbürge für den Herzog Heinrich von Meklenburg-Stargard für eine Schuld von 100 Mark [CCXLVIII]. Er hatte sicher Antheil an dem alten Stammlehn des feldbergischen Hauses, an dem Schlosse Feldberg mit Zubehörungen, da er seine Gerechtigkeiten am 21. Oct. 1476 an Heinrich Riben auf Galenbek verkaufte [CCLXXXIV] (vgl. oben S. 134); er gehörte daher sicher zu dem feldbergischen Hause. Wichtiger ist aber Hermann v. Oertzen dadurch, daß er das Gut Helpte an die Familie v. Oertzen brachte. Sicher bis zum Jahre 1440 gehörte das große Gut und Schloß Helpte der im Mittelalter im Lande Stargard mächtigen Familie Riben, bis diese es durch den Krieg der Brandenburger gegen das Land Stargard verlor (vgl. oben S. 133). Gleich darauf, am 22. Junii 1466, erscheint Hermann v. Oertzen im Besitze des Gutes Helpte, mit Ausnahme von 12 Hufen, welche der Familie v. Helpte als altes

Lehnstück in dem Gute gehörten und erst im J. 1665 an die Familie v. Oertzen kamen und mit der Hauptmasse des Gutes wieder vereinigt wurden. Wie Hermann v. Oertzen das Gut Helpte an sich gebracht hat, läßt sich weder nachweisen, noch errathen.

Hermann v. Oertzen auf Helpte wird aber ein wohlhabender und umsichtiger Mann gewesen sein. Schon am 22. Junii 1466 bürgte er für seinen Landesherrn für eine Anleihe von 100 Mark [CCXLVIII] und am 27. Febr. 1467 lieh derselbe Herzog Heinrich von ihm die Summe von 220 lüb. Mark [CCLII].

Wenn auch die Riben auf der festen Burg Galenbek durch den Verlust der großen Burg Helpte, die sie wahrscheinlich nothgedrungen hatten abtreten müssen, einen empfindlichen Verlust erlitten hatten, so suchten sie sich doch dadurch wieder zu stärken, daß sie nach und nach die Burg Feldberg wieder ankauften. Und bei diesen Verhandlungen wird Hermann v. Oertzen wiederholt genannt, da er bei denselben betheiligt war. Am 4. Dec. 1473 verkaufte Jaspar v. Kerckow zu Karwitz dem Heinrich Riben auf Galenbek seinen Antheil an Feldberg und Rosenberg und einen Hof zu Karwitz, und Hermann v. Oertzen war Zeuge dieses Verkaufes [CCLXXIII], und am 21. Oct. 1476 verkaufte Hermann v. Oertzen, „wohnhaft zu Helpte", demselben seine Hälfte von Feldberg [CCLXXXIV]. Am 13. Dec. 1477 trat Hermann v. Oertzen, „wohnhaft zu Helpte", demselben das Gut zu Tripkendorf und Karwitz ab [CCLXXXV], welches er am 1. Julii 1475 von Jaspar v. Kerckow zu Pfande genommen hatte [CCLXXX]. Endlich verkauften am 28. April 1482 die Brüder des Jaspar v. Kerckow dem Heinrich Riben zu Galenbek ihren Antheil an den zu dem Schlosse Feldberg gehörenden Dörfern Karwitz, Tripkendorf, Läwen und Weitendorf, wobei auch Hermann v. Oertzen als Zeuge gegenwärtig war [CCXCII].

Hermann v. Oertzen war jedenfalls ein angesehener Mann. Hiefür zeugt schon, daß er am 17. Sept. 1475 in der Eheberedung für die Prinzessin Magdalene von Meklenburg-Stargard mit dem Herzoge Wartislav von Pommern [CCLXXXI] und am 5. Junii 1478 in der Leibgedingsverschreibung des

Herzogs Magnus von Meklenburg-Schwerin für seine Gemahlin Sophie von Pommern [CCLXXXVIII] unter den Bürgen mit aufgeführt wird.

Hermann v. Oertzen wird am 11. Junii 1488 zuletzt genannt und zugleich seine Gemahlin. Seine Gemahlin war eine Tochter des Balthasar v. Genzkow, welcher zwei Töchter hinterlassen hatte, von denen die eine an Hermann v. Oertzen, die andere an Henning v. Kosboth vermählt war. Diese waren mit ihren Vettern Heinrich und Eggert v. Genzkow, Vickes v. Genzkow Söhnen, wegen väterlichen Erbes des letztern in einen Streit gerathen, zu dessen Beilegung die Herzoge Magnus und Balthasar von Meklenburg am 11. Junii 1488 zwei Commissarien zur Untersuchung und Entscheidung bestellten [CCXCVII]. Hermann v. Oertzen wird um das Ende des 15. Jahrhunderts gestorben sein. Um das Jahr 1515 lebte noch seine Wittwe, indem sie damals durch das herzogliche Hofgericht von den Ansprüchen freigesprochen ward, welche Achim v. Blankenburg und Marquard Behr an sie wegen einiger für ihren verstorbenen Mann von ihnen angeblich bezahlten Schulden erhoben hatten [CCCLVI]. Kinder wird Hermann v. Oertzen nicht hinterlassen haben, da theils keine Kinder von ihm genannt werden, theils seine Wittwe wegen seiner hinterlassenen Schulden in Anspruch genommen wird, auch sein Lehngut bald nach seinem Tode in andern Händen erscheint.

Hermanns v. Oertzen Lehngut Helpte ging nach seinem Tode um das Ende des 15. Jahrh. zunächst an Burchard v. Oertzen aus der Linie Gammelin-Wustrow über (vgl. unten); Burchard v. Oertzen erscheint sicher schon 1521 und 1522 im Besitze von Helpte. Nach dessen Tode erbten es seine Söhne Bernd und Marcus v. Oertzen, welche es jedoch an Jacob v. Oertzen auf Grammertin, den Stammhalter des stargardischen Hauses, am 6. Dec. 1545 verpfändeten und am 11. Novbr. 1554 verkauften. Erst zu dieser Zeit kam also das Gut Helpte wieder an die stargardische Linie. Auf welche Weise es nach Hermanns Tode auf die gammeliner Linie gekommen sei, läßt sich nicht bestimmen; vielleicht geschah es auf dem Wege der Erbschaftsregulirung durch Tausch, indem gegen das

Ende des 15. und um den Anfang des 16. Jahrhunderts mehrere Häuser des Geschlechts v. Oertzen ausstarben und alle v. Oertzen sich als Lehnsvettern Eines Stammes betrachteten.

---

## 12.

## Zacharias, Knappe.

1491—1501.

§. 88. G. IX.

In der nächsten Generation erscheinen in dieser Linie viele Glieder der Familie v. Oertzen, welche alle als auf Hinrichshagen gesessen bezeichnet werden. Wer die Väter und Großväter gewesen seien, ist nicht mehr zu ermitteln, eben so wenig, wie sie zu dem Gute Hinrichshagen gekommen sind. Die meisten von ihnen veräußern im Anfange des 16. Jahrh. nach und nach ihre Rechte an dem Gute Hinrichshagen, so daß späterhin nur noch um das Jahr 1570 der fünfte Theil von Alt-Hinrichshagen mit dem Wohnhofe im Besitze der helpter Linie erscheint. Mit der Veräußerung des größten Theiles des Gutes verschwinden die alten v. Oertzen alle aus der Geschichte, ohne männliche Erben zu hinterlassen, und gleich darauf erscheint der ganze v. örtzensche Stamm auf den Einen Stammhalter Jacob v. Oertzen auf Grammertin beschränkt, welcher seinen Söhnen noch den fünften Theil von Alt-Hinrichshagen hinterließ. Mit diesen v. Oertzen auf Hinrichshagen starb der ältere Zweig des feldbergischen Hauses ab. Der Besitz wird nicht bedeutend gewesen sein, da von demselben nur ein Roßdienst geleistet ward, und im Anfange des 16. Jahrh. war derselbe sehr zersplittert, da er unter 7 Vettern getheilt war. In einem Roßdienstregister vom J. 1506 werden im Allgemeinen nur „die Oertzen tho Hinrichshagen I“ aufgeführt.

Als der älteste von diesen v. Oertzen auf Hinrichshagen erscheint Zacharias v. Oertzen, als er am 5. Nov. 1491 dem Marquard Behr auf Camin ein Drittheil des Gutes

Hinrichshagen verpfändete und demselben das Vorkaufsrecht einräumte [CCCI]. Wahrscheinlich war schon bei seinen Lebezeiten das Gut in drei Theile getheilt, da in der folgenden Generation die v. Oertzen auf Hinrichshagen in drei Stränge getheilt erscheinen. Am 25. Febr. 1492 erscheint Zacharias als Zeuge in einer Verkaufs-Urkunde des Haus v. Warburg auf Quaden-Schönfeld [CCCIV]. Er wohnte am 5. Oct. 1501 zu Straßburg, als er dem Marquard Behr sein Drittheil von Hinrichshagen wirklich verkaufte, wozu seine drei Söhne: Burchard, Vicke und Hans ihre Zustimmung gaben [CCCXX]. Die Söhne des Zacharias waren also

X. 13. Burchard. 14. Vicke II. 15. Hans.

## 13.

## Burchard, Knappe.

1501.

§. 89. G. X.

Burchard v. Oertzen, der älteste Sohn des Zacharias v. Oertzen auf Hinrichshagen, erscheint nur ein Mal, als sein Vater am 5. Oct. 1501 seinen Antheil an Hinrichshagen verkaufte [CCCXX], vgl. §. 88.

14.

## Vicke II., Knappe.

1501.

§. 90. G. X.

Vicke II. v. Oertzen, der zweite Sohn des Zacharias v. Oertzen auf Hinrichshagen, erſcheint ebenfalls nur ein Mal am 5. Oct. 1501, beim Verkaufe des väterlichen Antheils an dem Gute Hinrichshagen [CCCXX], vgl. §. 88.

15.

## Hans, Knappe.

1501—1506.

§. 91. G. X.

Hans II. v. Oertzen, der dritte Sohn des Zacharias v. Oertzen auf Hinrichshagen, erſcheint zuerſt, als ſein Vater am 5. Oct. 1501 ſeinen Antheil an Hinrichshagen verkaufte [CCCXX], vgl. §. 88.

Sein Vater und ſeine Brüder, auch einige von ſeinen nächſten Vettern werden bald darauf geſtorben ſein und ihm wieder einen Antheil an dem Gute hinterlaſſen haben, da in dem Roßdienſtregiſter vom J. 1506 „Hans vnd Paschen gevettern die Ortzen tom Hinrikeshagen“ mit einem Roßdienſt aufgeführt werden. Hans v. Oertzen war vermählt; im Roßdienſtregiſter vom J. 1521 wird ſeine Wittwe: „Hans Ortzen nagelatene wedewe thom Hinrikeshagen“ aufgeführt.

16.

## Mathias, Knappe.

1514.

§. 92. G. X.

Ungefähr zu gleicher Zeit mit den drei Söhnen des Zacharias v. Oertzen (vgl. §. 88) erscheinen drei andere Brüder v. Oertzen im Besitze eines Antheils in Hinrichshagen: Mathias, Joachim und Michael. Auch diese verkauften am 16. Junii 1514 ihren „fünften Theil" von Hinrichshagen an die Herzoge Heinrich und Albrecht von Meklenburg [CCCLIII] und verschwinden damit aus der Geschichte.

---

17.

## Joachim, Knappe.

1514.

§. 93. G. X.

Joachim v. Oertzen verkauft mit seinen Brüdern Mathias und Michael am 16. Junii 1514 seinen Antheil an Hinrichshagen und wird nicht weiter genannt; vgl. §. 92.

---

18.

## Michael, Knappe.

1514.

§. 94. G. X.

Nachdem Michael v. Oertzen mit seinen Brüdern Mathias und Joachim am 16. Junii 1514 seinen Antheil an Hinrichshagen verkauft hatte (vgl. §. 92), wird auch er nicht weiter genannt.

---

19.

## Paſchen, Knappe.

1494—1506.

§. 95. G. X.

Paſchen v. Oertzen wird einige Male und zwar als zu Hinrichshagen wohnend genannt. In den Klagen über die räuberiſchen Einfälle in die Mark Brandenburg brachte der brandenburgiſche Rath Henning v. Arnim unter vielen andern Klagen auch folgende vor: „Zum funfften, eine genant Manndifel thum Ribbeke vnd Paschken Ortz die sollen in einem dorff Neuengartten genannt ainem einen ochsen vnpillicher weys genhomen haben.“ In dem Roßdienſtregiſter v. J. 1506 werden „Hans und Paschen gevettern die Ortzen tom Hinrikeshagen“ mit einem Roßdienſtregiſter aufgeführt. Hans und Paſchen ſcheinen die letzten von Oertzen auf Hinrichshagen geweſen zu ſein; mit ihnen ſtarb der ältere Zweig des feldbergiſchen Hauſes ab; im J. 1521 lebte nur noch die Wittwe des Hans v. Oertzen auf Hinrichshagen, §. 91.

## Des feldbergischen Hauses jüngerer Zweig.

Der jüngere Zweig des Hauses Feldberg ist derjenige, welcher allein von dem ganzen stargardischen Hause den Stamm gehalten hat und von welchem die jetzt noch zahlreich blühende stargardische oder sogenannte „helpter Linie" ihren Ursprung herschreibt. Es ist eine sehr merkwürdige Erscheinung in der Geschichte, daß über dieses ganze Haus während des ganzen 15. Jahrhunderts bis in das 16. Jahrhundert hinein nicht eine einzige Urkunde erhalten ist, so daß die urkundliche Geschichte des Hauses eigentlich erst um die Mitte des 16. Jahrh. beginnt und lebendig wird. Dieser beispiellose Mangel an Nachrichten über ein altes, bedeutendes Geschlecht ist sehr zu beklagen; aber er ist nicht wegzuleugnen und hat gewiß seinen Grund darin, daß im Lande Stargard so viele Urkunden untergegangen sind.

Dennoch läßt sich die Entwickelung dieses Hauses mit der größten Wahrscheinlichkeit, ja Gewißheit darstellen, und mit noch größerer Vollständigkeit, als die Geschichte der übrigen stargardischen Häuser, obgleich über diese doch noch von Zeit zu Zeit einige Urkunden reden. Es ist nämlich ein merkwürdiges Denkmal vorhanden, welches über die Fortpflanzung des Geschlechts vollständigen Aufschluß giebt und den Mangel an Urkunden zu ersetzen im Stande ist. Dieses Denkmal ist eine Ahnentafel, welche auf den Kirchenstuhl des jüngern Hauses der feldbergischen Linie v. Oertzen in der Kirche zu Helpte gemalt ist. Diese Ahnentafel ist in der zweiten Hälfte des 17. Jahrhunderts unter Henning v. Oertzen

auf Helpte und seiner aus demselben Hause stammenden zweiten (?) Gemahlin Katharina Maria v. Oertzen gemalt und geht von der Mitte des 17. Jahrhunderts rückwärts bis in den Anfang des 15. Jahrhunderts. Man könnte Bedenken tragen, diese Ueberlieferung in allen Theilen als richtig anzunehmen; jedoch ist nach vieljähriger Forschung und Aufmerksamkeit eine wichtige Entdeckung gemacht, durch welche nicht allein die Richtigkeit der Angabe der Ahnentafel über die mittlere Person der in derselben aufgeführten Stammhalter, nämlich über Hans v. Oertzen (ungefähr 1470—1500), in das hellste Licht gesetzt, sondern auch die vorübergehende Erwerbung eines Güterbesitzes dieser Linie aufgeklärt wird. Man darf daher schließen, daß wenn sich die Angabe für eine Generation als richtig und vollständig beweisen läßt, es auch mit den übrigen Angaben der Ahnentafeln seine Richtigkeit habe. Rechnet man dazu, daß sich die eigenthümlichen Vornamen der in der Ahnentafel aufgeführten Stammväter in den folgenden Generationen wiederholen und sich auch die in derselben angegebenen Güterverhältnisse als richtig nachweisen lassen, so wird man nicht Anstand nehmen können, den in der helpter Ahnentafel gegebenen Stammbaum für richtig anzuerkennen.

Die Ahnentafeln sind folgende.

# Ahnen-Tafeln

des

## Henning von Oertzen

auf Helpte

und

seiner Gemahlin

## Katharina Maria geb. von Oertzen

auf

dem Kirchenstuhle

in der Kirche zu Helpte.

## Vor dem Kirchenstuhle.

**Herrn Henning von Ortzen erbgesessen auf Helpte.**

| | |
|---|---|
| Der Vater<br>von des Vaters wegen<br>heist Sievert von Ortzen<br>aus dem Hause Helpte. | Die Mutter<br>von des Vaters wegen<br>heist Anna von Seplin<br>aus dem Hause Gnewitz. |
| Der Gros Vater<br>von des Vaters wegen<br>heist Leopoldt von Ortzen<br>aus dem Hause Helpte. | Die Gros Mutter<br>von des Vaters wegen<br>heist Maria von Platen<br>aus dem Hause Pancko. |
| Der Elter Vater<br>von des Vaters wegen<br>heist Jacob von Ortzen<br>aus dem Hause Helpte. | Die Elter Mutter<br>von des Vaters wegen<br>heist Anna von Behren<br>aus dem Hause Blumino. |
| Der Uber Elter Vater<br>von des Vaters wegen<br>heist Casper von Ortzen<br>aus dem Hause Helpte. | Die Uber Elter Mutter<br>von des Vaters wegen<br>heist Anna von Manteuffel<br>aus dem Hause Neukirchen. |
| Der Gros Vater<br>von der Mutter wegen<br>heißt Bernd von Seplin<br>aus dem Hause Gnewitz | Die Gros Mutter<br>von der Mutter wegen<br>heist Margarethe von Bohten<br>aus dem Hause Nethzo. |
| Der Elter Vater<br>von der Mutter wegen<br>heist Joachim von Seplin<br>aus dem Hause Gnewitz. | Die Elter Mutter<br>von der Mutter wegen<br>heist Catharina von Dewitz<br>aus dem Hause Colpin. |
| Der Uber Elter Vater<br>von der Mutter wegen<br>heist Johann von Seplin<br>aus dem Hause Gnewitz. | Die Uber Elter Mutter<br>von der Mutter wegen<br>heist Margareta von Behren<br>aus dem Hause Blumino. |

## In dem Kirchenstuhle.

Der Uhr Elter Vatter ist gewesen von Erbherrn Henning von Ortzen Linia: Hans von Ortzen.
Die Uhr Elter Mutter heist
Margareta von Hageln vom Hause Glockstn.

Der Uhr Elter Vater heist
Mathias von Ortzen vom Hause Grammentin.
Die Uhr Elter Mutter heist
Catharina von Raven vom Hause Hagen.

Der Uhr Elter Vater heist
Bernd von Ortzen vom Hause Veldtberge.
Die Uhr Elter Mutter heist
Catharina von Barsdorffen.

Der Uhr Elter Vater von der Mutter wegen heist
Seplin vom Hause Gnewitz.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
von Hoben.

Der Uhr Elter Vater von der Mutter wegen heist
Seplin vom Hause Gnewitz.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
von Moltken.

Der Uhr Elter Vater von der Mutter wegen heist
Seplin vom Hause Gnewitz.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
von Warnsteden.

## Vor dem Kirchenstuhle.

**Frauw Catharina Maria von Ortzen,**
Hern Henning von Ortzen Eheliebste.

| | |
|---|---|
| Der Vatter heist Leopoldt von Ortzen aus dem Hause Helpte. | Die Mutter heist Anna Catharina v. Wulffen aus dem Hause Grabo. |
| Der Gros Vatter von des Vatters wegen heist Hans von Ortzen aus dem Hause Helpte. | Die Gros Mutter von des Vatters wegen heist Maria von Horns aus dem Hause Roxin. |
| Der Elter Vatter von des Vatters wegen heist Jacob von Ortzen aus dem Hause Helpte. | Die Elter Mutter von des Vatters wegen heist Anna von Behren aus dem Hause Blumino. |
| Der Uber Elter Vatter von des Vatters wegen heist Caspar von Ortzen aus dem Hause Helpte. | Die Uber Elter Mutter von des Vatters wegen heist Anna von Manteuffeln aus dem Hause Neuenkirchen. |
| Der Gros Vatter von der Mutter wegen heist Ernst von Wulffen aus dem Hause Grabo. | Die Gros Mutter von der Mutter wegen heist Maria von Bredowen. |
| Der Elter Vatter von der Mutter wegen heist Wigman von Wulffen a. d. Hause Grabo v. Pribepul | Die Elter Mutter von der Mutter wegen heist Catharina Elise von Platen aus dem Hause Parey. |
| Der Uber Elter Vatter von der Mutter wegen heist Otto von Wulffen a. d. Hause Grabo u. Pritzepul. | Die Uber Elter Mutter von der Mutter wegen heist Marosina von Bomstorff. |

## In dem Kirchenstuhle.

Die Ubrigen von der Frauwen Lienia.

Der Uhr Elter Vater heist
Hans von Ortzen.
Die Uhr Elter Mutter heist
Margareta von Hagen vom Hause Glocksin.

Der Uhr Elter Vatter heist
Mathias von Ortzen vom Hause Gramentin.
Die Uhr Elter Mutter heist
Catharina von Raven vom Hause Hagen.

Der Uhr Elter Vatter heist
Bernd von Ortzen vom Hause Veltbergen.
Die Uhr Elter Mutter heist
Catharina von Barstorff.

Der Uhr Elter Vatter von der Mutter wegen heist
Otto von Wulffen.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
Margareta von Bosey.

Der Uhr Elter Vatter von der Mutter wegen heist
Sievert von Wulffen vom Hause Grabo u. Pritzepul.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
Elisabeth von Schulenburg.

Der Uhr Elter Vatter von der Mutter wegen heist
Warner von Wulff vom Hause Parey.
Die Uhr Elter Mutter von der Mutter wegen heist
Anna von Knesebeken.

Der in diesen Ahnentafeln enthaltene Stammbaum gestaltet sich daher also:

Bernd von Oertzen
aus dem Hause Feldberg.
Gem. Katharina von Barsdorf.

Mathias von Oertzen
aus dem Hause Grammertin.
Gem. Katharina von Raven
aus dem Hause Hagen.

Hans von Oertzen.
Gem. Margaretha von Havel
aus dem Hause Klockſin.

Caſpar von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Anna von Manteuffel
aus dem Hause Neuenkirchen.

Jacob von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Anna von Behr
aus dem Hause Blumenow.

Hans von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Maria von Horn
aus dem Hause Roxin.

Leopold von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Maria von Platen
aus dem Hause Pankow.

Leopold von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Anna Katharina v. Wulffen
aus dem Hause Grabow.

Sivert von Oertzen
aus dem Hause Helpte.
Gem. Anna von Zepelin
aus dem Hause Gnewitz.

Katharina Maria von Oertzen = Henning von Oertzen
auf Helpte.

20.

## Bernd.

(1400—1425).

§. 96. G. VII.

In der zweiten Hälfte des 14. Jahrhunderts erscheinen in der feldbergischen Linie fünf Brüder: Zabel, Hermann, Lippold, Nicolaus auf Kantenitz und Andreas auf Rosenberg, von deren einem ohne Zweifel das Haus Grammertin-Helpte fortgepflanzt wird. Welcher dieser Brüder aber der Stammhalter gewesen sei, läßt sich nicht nachweisen. Wahrscheinlich ist es, daß einer der jüngern Brüder das Geschlecht fortpflanzte.

Als der nächste Stammhalter wird in der helpter Ahnentafel Bernd v. Oertzen angegeben. Die Ahnentafel läßt ihn, gewiß sehr richtig, noch „aus dem Hause Feldberg" stammen. Er wird um die Zeit 1400—1425 gelebt haben, also zu der Zeit, als das Haus Stargard erlosch.

Seine Gemahlin wird auf der helpter Ahnentafel Katharina von Barsdorf genannt. Die v. Barsdorf wohnten seit alter Zeit auf Barsdorf im Amte Fürstenberg.

Sein Sohn war

21. Mathias I.

21.

## Mathias I.,

(1425—1470).

§. 97. G. VIII.

Als den Sohn des Bernd v. Oertzen aus dem Hause Feldberg führt die helpter Ahnentafel den Mathias v. Oertzen auf, welcher ungefähr 1425—1470 gelebt haben muß. Dieser Mathias v. Oertzen wird in der helpter Ahnentafel als „vom

Hause Grammertin" stammend aufgeführt. Grammertin war ein altes Hauptlehn des feldbergischen Hauses; es ist möglich, daß die v. Oertzen dieses Gut schon seit früher Zeit besaßen, es ist aber wahrscheinlicher, daß die v. Oertzen es erst um die Mitte des 15. Jahrhunderts erwarben; ja es ist wahrscheinlich, daß erst Mathias v. Oertzen das Gut erwarb. Zuerst besaßen die v. Oertzen nur eine Hälfte des Gutes; erst am Ende des 16. Jahrhunderts gelangte die Familie v. Oertzen zum Besitze des ganzen Gutes. Zur Zeit des Mathias v. Oertzen geschah überhaupt eine sehr große Veränderung in den Besitzungen dieser Linie: nicht allein, daß das stargardische Haus ausstarb und dessen, wenn auch nur geringe Güter, an das feldbergische Haus fielen; nicht allein, daß das feldbergische Haus das Gut Grammertin erwarb: die Linie erwarb auch durch Hermann IV., sicher seit 1466 (vgl. oben S. 141), das Gut Helpte, von welchem sie mit der Zeit ihren Beinamen erhielt, und veräußerte auch seit dem J. 1476 ihre Besitzungen in Feldberg (vgl. oben S. 131 und 142). Man kann also bestimmt sagen, daß die sogenannte Helpter Linie in der zweiten Hälfte des 15. Jahrhunderts ihre eigentliche Gestaltung empfing. Die Besitzung in Feldberg verschwindet aber seit dieser Zeit ganz bestimmt aus der Familie v. Oertzen.

Die Gemahlin des Mathias I. v. Oertzen auf Grammertin wird in der helpter Ahnentafel „Katharina v. Raven aus dem Hause Hagen" genannt. Die v. Raven, mit einem aufsteigenden Löwen im Schilde und drei Straußfedern auf dem Helme, waren seit alter Zeit in der Ukermark und im Lande Stargard angesessen und besaßen im Lande Stargard die Güter Krekow, Holzendorf, Rehberg und Lukow. Wo Hagen, das Stammhaus der Katharina v. Raven, gelegen habe, läßt sich noch nicht bestimmen. Nach den nachgewiesenen anderen Wohnsitzen der Familie v. Raven ist aber die in der Ahnentafel aufgeführte Vermählung nicht unwahrscheinlich.

Als stammhaltender Sohn des Mathias I. v. Oertzen wird Hans aufgeführt Da aber zu dessen Zeiten auch noch

ein Dietrich v. Oertzen vorkommt, so mag dieser des erstgenannten Bruder gewesen sein.

22. Hans I. 23. Dietrich.

## 22.

## Hans I.

(1470—1500).

§. 98. G. IX.

Als stammhaltender Sohn des Mathias I. v. Oertzen auf Grammertin wird Hans v. Oertzen genannt, welcher am Ende des 15. Jahrh. gelebt und das Gut Grammertin besessen haben muß. Die Nachricht über diesen Hans v. Oertzen war die dunkelste in der Ahnentafel, ist aber gerade die sicherste geworden; die glückliche Entdeckung, welche diese Dunkelheit aufklärt, ist zugleich ein vollgültiger Beweis, daß die helpter Ahnentafel auch in den übrigen Angaben richtig sein muß. In den helpter Ahnentafeln wird des Hans v. Oertzen Gemahlin einmal: „Margarethe von Hageln vom Hause Glockfin," das andere Mal: „Margarethe von Hagen vom Hause Glockfin" genannt. Die Familie von Hageln ist bis jetzt unbekannt und des Familien-Namens Hagen gab es in allen deutschen Ländern viele; im Lande Stargard ist aber noch keine Familie dieses Namens bekannt geworden. Dennoch führt eine andere Forschung auf die rechte Spur.

Es gab im Lande Stargard allerdings eine Vasallenfamilie ähnlichen Namens, welche sich aber Havel[1]) schrieb; dieser Name ist in der Ahnentafel in Hagel und Hagen verschlechtert. Diese Familie Havel trug seit alter Zeit im An-

[1]) Das Siegel, mit welchem Joachim Havel d. j. im J. 1604 siegelt, hat einen quer getheilten Schild, oben mit einem halben aufgerichteten Löwen, unten mit einem Widderkopfe (?), über dem Schilde die Buchstaben I. C. oder I. O., sicher nicht I. H. Dies ist also wohl kein havelsches Siegel.

fange des 16. Jahrh. einen Theil des Gutes Klockſin bei Neu-Brandenburg zu Lehn: dieſer Beſitz beſtand aus ſieben Lehnhufen. Vielleicht war der Stammſitz der Familie Havel das an Klockſin grenzende Gut Trollenhagen. Dieſes Gut hieß in früheren Zeiten Hunhaven, d. i. Hohenhagen, da im J. 1308 ein Prieſter Heinrich von Hogenhaven genannt wird (vgl. Boll Geſch. II, S. 455), und darauf noch im 15. Jahrh. Trunhaven oder Tronhagen (d. i. zuſammengezogen aus = tôr hôn hagen = zu der hohen hagen), woraus in neuern Zeiten Trollenhagen geworden iſt (vgl. Liſch Hahn Geſch. III, A, S. 401, Not. 3., und Maltzan Urk. III, S. 207).

Das Gut Trollenhagen war im 15. Jahrh. ein Lehn der Familie von Zechelin. Von dieſem Gute Trunhaven ſcheint die Familie Havel im 15. Jahrh. mitunter auch die Form ihres Namens geführt zu haben. Im J. 1465, „am Freitage nach dem brandenburgiſchen Jahrmarkte", gab Otto v. Ilenfeld auf Ilenfeld dem Henning von Hunhavel, wahrſcheinlich aus Verſchwägerung, die Hälfte des Schulzenamtes zu Brunn, unter der Bedingung, daß die Frau des Henning von Hunhavel zum Leibgedinge erhalte, was ſein Antheil an Klockſin ſei. Es geht hieraus klar hervor, daß Henning von Hunhavel zu der Familie gehörte, welche ſich im 16. Jahrh. Havel nannte. Daher giebt auch v. Gamm, der die Familie Havel nicht kennt, folgende unkritiſche, jetzt aber erklärliche Nachricht über die Familie: „Hohnhävel. „Der älteſte Stammſitz dieſes am Ende des 15. Jahrh. er„loſchenen Geſchlechts war das in der Herrſchaft Stargard be„legene Gut Trollenhagen, welches bis im 15. Jahrh. „Hohnhävel geheißen hat" (vgl. Jahrb. XI, S. 445). Es ergiebt ſich aus der Geſchichte der Folgezeit auch, daß die Havel noch ſpät eine Beſitzung in Brunn hatten.

Die urkundliche Geſchichte ſagt nun Folgendes über die Gemahlin des Hans von Oertzen auf Grammertin [CCCCXVII]. Henning Havel, ohne Zweifel der oben im J. 1465 genannte, habe ſeine Tochter einem Oertzen zu Grammertin gegeben, aber wegen Armuth demſelben den

Brautschatz nicht erlegen können. Deshalb nahm Oertzen nach dem Absterben des Henning Havel dessen Güter ein und verpfändete sie den Oertzen zu Helpte, welche dieselben auch einige Jahre besessen. — Daher wohnte auch Heinrich v. Oertzen von Grammertin noch 1506—1535 auf Klockfin und leistete von diesem Gute Roßdienste. — Darnach löste Joachim Havel, des Herzogs Heinrich Hauptmann zu Boizenburg und später Rathsverwandter zu Neu-Brandenburg, mit etlichem Gelde, das er im dänischen Kriege erworben, also nicht lange nach 1535, die Güter wieder ein. Bei der Verpfändung des Gutes Helpte durch Bernd v. Oertzen an Jacob v. Oertzen auf Grammertin ist „Joachim Havell, erbgesessen zu Klockfin", ohne Zweifel als ein Verwandter der Familie v. Oertzen am 6. Decbr. 1545 Zeuge. Am 11. Nov. 1554 waren Jacob, Heine und Achim v. Havell „alle ratmanne vnd wanhafftig tho Nienbrandenborch" Zeugen bei dem Verkaufe von Helpte durch Berend an Jacob v. Oertzen. Jener Joachim Havel d. ä. auf Klockfin verpfändete mit seinem Vetter Paschen Havel im J. 1564 sein Erbgut Klockfin wieder an Mathias Manteuffel zu Neuenkirchen, bis sie Paschens Bruder Joachim Havel d. j. wieder einlösete und im J. 1587 an Balthasar Ilenfeld auf Ilenfeld auf 30 Jahre wieder verpfändete. Die genannten Joachim d. j. und Paschen Havel, welche in die Stadt, nach Neu-Brandenburg und Stargard, gezogen waren und dort theils bürgerliche Gewerbe getrieben, theils auch „in verschiedenen Kriegszügen sich als Kriegsleute" hatten gebrauchen lassen, um den Vorwurf der bürgerlichen Handthierung von sich abzuwenden, waren die letzten ihres Geschlechts, nachdem Joachim Havel d. ä. ohne Erben gestorben und Paschen Havels Sohn um das J. 1597 im ungarischen Kriege geblieben war. Daher hatte der Herzog Ulrich auf Fürbitte seiner Tochter, der Königin Sophie von Dänemark, dem Rath Henning von Staffeldt auf Gantzkow für den Fall des bevorstehenden Aussterbens des Geschlechts der Havel die Eventual-Belehnung in Havels Lehngüter, nämlich 7 Hufen zu Klockfin und 2 Hufen zu

Brunn, geschenkt, welche Belehnung der Herzog Carl im J. 1604 wiederholte und schriftlich gab.

Es leidet also keinen Zweifel, daß des Hans I. v. Oertzen Gemahlin Margarethe v. Havel war und daß die helpter Ahnentafel richtig, wenn auch in der Form des Zunamens mißverstanden ist. Aus den angeführten Verhältnissen war daher auch noch in der nächsten Generation das Gut Klockſin im Besitze der Familie v. Oertzen.

Zur Zeit des Hans v. Oertzen starb auch Hermann IV. v. Oertzen auf Helpte und hinterließ dieses Gut der Familie v. Oertzen. Es gelangte aber das Haus Feldberg oder Grammertin noch nicht gleich zum Besitze, sondern das Gut ging einstweilen aus bisher unbekannten Gründen auf Burchard v. Oertzen von der gammeliner Linie und dessen Söhne Bernd und Marcus über, bis es von diesen an des Hans v. Oertzen Enkel Jacob auf Grammertin kam.

Hans v. Oertzen wird vor dem J. 1506 gestorben sein, da in diesem Jahre Dietrich v. Oertzen als Besitzer von Grammertin genannt wird. Als stammhaltender Sohn des Hans v. Oertzen wird in der helpter Ahnentafel Caspar v. Oertzen aufgeführt, neben welchem jedoch noch ein Heinrich v. Oertzen erscheint, welcher vermuthlich dessen Bruder gewesen ist.

? ?

24. Caspar I. 25. Heinrich I.

---

## 23.
## Dietrich.
### 1506.

§. 99. G. IX.

Dietrich v. Oertzen wird, nach dem wahrscheinlich vor dem J. 1506 erfolgten Tode seines muthmaßlichen Bruders Hans, in dem Roßdienstregister von 1506, jedoch nicht öfter genannt: „1506 Henning Feldberg und Dietrich Oertzen to Gram-„mertin 2 Perde.“ Weiter ist von ihm nichts bekannt.

---

24.

## Caspar I.

(1510).

§. 100. G. X.

Caspar v. Oertzen „aus dem Hause Helpte" wird nur in der helpter Ahnentafel genannt und kommt in keiner Urkunde vor. Da zwischen seinem Vater Hans und seinem Sohne Jacob nur ein kurzer Zeitraum liegt, so wird er früh gestorben sein. Als seine Gemahlin wird in der helpter Ahnentafel „Anna von Manteuffel aus dem Hause Neuenkirchen" genannt. Als sein stammhaltender Sohn wird Jacob v. Oertzen auf Grammertin und Helpte aufgeführt, welcher für die ganze stargardische Linie von der größten Bedeutung ist, da er der einzige Stammhalter derselben war.

26. Jacob.

25.

## Heinrich I.

1506—1535.

§. 101. G. X.

Neben Caspar I. v. Oertzen wird Heinrich v. Oertzen genannt, welcher wahrscheinlich Caspars Bruder gewesen ist. Er war im Besitze des Gutes Klockſin, welches durch seine Mutter von der Familie v. Havel auf einige Zeit pfandweise an die Familie v. Oertzen gekommen war (vgl. §. 98). Daher wird es auch völlig klar, daß noch Heinrich v. Oertzen im Besitze dieses Gutes Klockſin erscheint. Heinrich v. Oertzen wird vorherrschend nur in den Roßdienstregistern genannt: 1506 „Hinrick Oertz to Kloxsin 2 perde"; 1521 „Hinrick Ortze to Grammertin" und daneben Hans Ilenfeld tho Klocksyn; 1535 „Hinrich Ortze zu Klocksin". Außerdem wird er nur noch in der Urkunde vom 10. Jan. 1512 [CCCXLVI] als Bürge für Henning v. Osterwold genannt. Mit dem J. 1535 verschwindet Heinrich v. Oertzen aus der Geschichte und bald darauf löseten die v. Havel das Gut Klockſin wieder ein (vgl.

§. 161). In dem Register der Türkensteuer vom J. 1545 wird Achim Ilenfeld auf Klockfin aufgeführt.

---

## 26.

## Jacob I.

1522† 1572.

§. 102. G. XI.

Jacob v. Oertzen, welcher nach der helpter Ahnentafel ein Sohn Caspars auf Grammertin war, ist für die Geschichte der feldberger Linie einer der wichtigsten Männer, indem er nicht allein den ersten festen Grund zu dieser Linie legt, sondern auch die im Lande Stargard gelegenen Güter des Geschlechts in Eine Hand bringt und dadurch wahrhaft der Gründer der Linie wird, welche nach der Vereinigung aller Güter der verschiedenen Linien und Häuser in jüngern Zeiten die „helpter Linie" genannt wird. Nachdem das stargardische Haus schon seit längerer Zeit ausgestorben, Jacobs Vettern aus dem feldbergischen Hause ohne Hinterlassung männlicher Erben mit Tode abgegangen waren und die Besitzer des Gutes Helpte nach Veräußerung desselben das Zeitliche gesegnet hatten, war er eine Zeit lang der einzige männliche Sproß der ganzen stargardischen Linie und der Stammhalter aller aus dieser entsprießenden, noch blühenden Linien. Mit ihm beginnt daher die sichere, urkundliche Geschichte der stargardischen oder helpter Linie.

Jacob v. Oertzen war um das Jahr 1502 geboren, da angegeben wird, daß er im J. 1562 im Alter von 60 Jahren war. Er erscheint schon früh handelnd, und es läßt sich daraus vermuthen, daß sein Vater schon früh gestorben sei. Da er schon im J. 1522 selbstständig auftrat, so läßt sich schließen, daß er mit dem vollendeten 18. Jahre volljährig geworden war, eben so wie der gleichzeitige Ritter Mathias II. v. Oertzen auf Wustrow (vgl. das Haus Gammelin). Schon am 24. April 1522 verpfändete Jacob v. Oertzen, wohnhaft zu Grammertin, dem Priester Bertram Bere zu Neu-Brandenburg 6 Mark jährlicher Hebung aus seinem erblichen Hofe in

Quaden-Schönfeld für 100 Mark, welche er zur Abbürdung seiner „schweren Schulden" verwandt hatte [CCCLXVIII]. Seine Verhältnisse waren also beim Antritt seiner Erbgüter wohl nicht glänzend. Den v. Oertzen gehörte damals nur erst die Hälfte des Gutes Grammertin mit unbedeutenden Zubehörungen (vgl. oben S. 136). Die nachgelassenen Güter des stargardischen Hauses, welche bis zu Jacob herab vererbt waren, waren auch nur unbedeutend. Wenn sie davon auch Bargenstorff und Quaden-Schönfeld besaßen und Jacobs Söhne Hans und Mathias diese Güter am 28. Mai 1572 mit verkauften, so bestanden diese Besitzungen in nicht viel mehr als in Ansprüchen. Um das Jahr 1570 sollten die v. Oertzen noch Rechte an einem Hofe in Bargensdorf haben; aber es wird gesagt, daß die Fürsten damals das „ganze Dorf" hatten [CCCCVIII]. In Quaden-Schönfeld besaßen die v. Oertzen auch nur einen Hof, den jedoch Jacob v. Oertzen im J. 1522 verpfändete.

Dennoch stand Jacob v. Oertzen fest in seinen Gütern und vermehrte sie bald auf eine ansehnliche Weise. Am 1. Aug. 1523 besiegelte er mit die Union; von den im Lande Stargard wohnhaften v. Oertzen besiegelte sie nur noch der der gammeliner Linie angehörende Bernd v. Oertzen auf Helpte. In den Roßdienst- und Landregistern vom Jahre 1535 wird Jacob v. Oertzen auf Grammertin mit 2 Lehnpferden und Bernd v. Oertzen auf Helpte mit 3 Lehnpferden aufgeführt; es werden freilich auch noch Heinrich v. Oertzen zu Klockstn und Hans und Paschen v. Oertzen zu Hinrichshagen aufgeführt; aber es läßt sich hiedurch nicht beweisen, daß diese damals noch lebten, da diese Register zum Gebrauche für 1535 wahrscheinlich von älteren Registern abgeschrieben sind. In einem Musterzettel der meklenburgischen Reuter zu dem dänischen Zuge des Herzogs Albrecht vom J. 1535 werden „Bernd Oertzen zu Helpte, Jacob Oertzen zu Grammertin „und Otto v. Feldberg zu Grammertin" mit einem Pferde und „Joachim v. Thomstorf mit einem Schweinespieß" zusammen aufgeführt. Im J. 1545 werden nur Bernd v. Oertzen zu Helpte und Jacob v. Oertzen zu Grammertin aufgezählt,

neben Otto v. Feldberg und Hennings v. Feldberg Erben zu Grammertin.

Wenn in dem „Landregister des Adels" vom J. 1543 „alle Oertzen zum Albrechtshagen im Lande zu Stargard" genannt werden, so ist dies eine Erscheinung, welche nach den Personen und dem Gute ganz vereinzelt dasteht und jeder urkundlichen Begründung entbehrt, wenn, was viel Wahrscheinlichkeit für sich hat, unter Albrechtshagen nicht Alt-Hinrichshagen zu verstehen ist, wovon die v. Oertzen im J. 1575 noch den fünften Theil besaßen.

Mit dem J. 1545 begann aber für die stargardische Linie die Zeit einer größeren Blüthe und Sicherheit durch den Erwerb des Gutes Helpte. Am Ende des 15. Jahrhunderts war Burchard v. Oertzen von der gammeliner Linie in den Besitz des Gutes Helpte gekommen, welches die v. Oertzen um die Mitte des 15. Jahrh. erworben hatten (vgl. oben S. 134). Burchard v. Oertzen war ungefähr bei dem Auftreten Jacobs gestorben und von seinen Söhnen Bernd und Marcus war ihm der jüngere Marcus bald in die Ewigkeit gefolgt. Bernd v. Oertzen, welcher keine männlichen Erben hinterließ, kam aber in seinen Vermögensverhältnissen immer mehr zurück, veräußerte seine Güter und zog sich in ein Wohnhaus zurück, das er in der Stadt Woldeck besaß, welches aber abbrannte. Daher sah sich denn Bernd v. Oertzen zu Woldeck am 6. Dec. 1545 „seiner bedränglichen Schulden halber" genöthigt, seinem Vetter Jacob v. Oertzen zu Grammertin das Gut Helpte, mit Ausnahme von 12 Hufen, welche die v. Feldberg noch besaßen, mit 5 Hufen auf der wüsten Feldmark zu Milzow auf 28 Jahre für 4400 Gulden zu verpfänden [CCCXCIX], und am 12. Dec. 1545 bestätigte der Herzog Heinrich diese Verpfändung [CCCC]. Ehe jedoch die 28 Jahre um waren, mußte Bernd v. Oertzen am 11. Nov. 1554 zur Kehrung seiner „schweren Schulden und anliegenden Noth" das Gut Helpte mit den Hufen in Milzow seinem Vetter Jacob v. Oertzen, als „rechtem Lehnserben," da die Güter von der stargardischen Linie erworben waren und mit Bernd v. Oertzen das gammeliner Haus auf Helpte ausstarb, zu einem ewigen

Erbkaufe für 7900 Gulden verkaufen [CCCCIV]. Auf diese Weise kam Helpte auf lange Zeit an die stargardische Linie. In der Folge machten aber die v. Oertzen von der gammeliner Linie Ansprüche an das Gut Helpte und geriethen deshalb in einen langen Streit mit der helpter Linie, welche jedoch in dem rechtmäßigen Besitze des Gutes blieb.

Durch eine so bedeutende Vermehrung des Besitzes und einer ohne Zweifel daraus erfolgten großen Sicherung seines Hauses ward Jacob v. Oertzen ein angesehener und reicher Mann und trat als solcher wiederholt für die Landesherren in Bürgschaft, z. B. am 8. Sept. 1559 für den Herzog Johann Albrecht I. [CCCCVI].

Gegen das Ende seines Lebens zog sich Jacob v. Oertzen von den Geschäften zurück. In einer Zeugenkundschaft vom 19. Oct. 1562 sagt er selbst, daß er damals 60 Jahre alt war (vgl. den folgenden §.). Im J. 1572 wird er in Proceßacten zuletzt als lebend, in demselben Jahre aber schon als gestorben aufgeführt; er starb also im J. 1572, in einem Alter von 70 Jahren. Er starb zu Helpte, welches er zu seinem Wohnsitze erwählt hatte, und ward auch daselbst, ohne Zweifel in der Kirche, begraben.

Jacobs v. Oertzen Gemahlin war nach der helpter Ahnentafel und anderen urkundlichen Nachrichten, Anna Behr aus dem Hause Blumenow, eine Tochter des Henning Behr auf Blumenow und der Gertrud v. Buggenhagen.

Jacob v. Oertzen hinterließ ein wohl geordnetes und gesichertes Haus mit den Gütern Helpte, Grammertin, Libbehe, dem fünften Theile von Alt-Hinrichshagen, Bargenstorf, Quaden-Schönfeld, so viel von den letztern den v. Oertzen noch übrig geblieben war, und fünf Söhne, welche die Familie in zahlreichen und angesehenen Gliedern bis auf heute fortpflanzten. Kurz vor seinem Tode trat nach actenmäßigen Nachrichten Jacob v. Oertzen seinen Söhnen seine Güter ab; diese setzten sich noch bei des Vaters Lebzeiten und mit dessen Bewilligung am 28. Mai 1572 über die Güter so auseinander, daß Hans und Mathias ihren Brüdern Heinrich, Caspar und Lippold all ihr Lehn- und Erbgut für 4000 Gulden verkauften.

Die fünf Söhne Jacobs v. Oertzen: Heinrich, Caspar, Hans, Lippold und Mathias, baten im J. 1575 um Belehnung nicht allein mit den von ihrem verstorbenen Vater hinterlassenen Lehngütern Grammertin, Helpte und Antheil an Alt-Hinrichshagen, sondern auch mit den Lehngütern ihrer „Vettern im Lande Meklenburg, mit denen sie in ge„sammter Hand und Lehn saßen", nämlich mit den Lehngütern des Sivert auf Roggow und Clausdorf, des Vicke auf Gorow und Gerdeshagen und der Brüder Joachim und Vicke auf Wustrow und Gammelin; hierauf ward ihnen am 19. April 1575 der herzogliche Bescheid, daß ihrer Lehnssuchung gebührlich gedacht werden solle [CCCCXI].

Die fünf Söhne Jacobs v. Oertzen, von denen in dem folgenden Theile dieser Geschichte gehandelt werden wird, waren:

Heinrich. Caspar. Hans. Lippold. Mathias.

## 27.

## Tochter Caspars I.

Gem. Heinrich v. Tepling.

§. 103. G. XI.

Jacob I. v. Oertzen hatte eine dem Vornamen nach unbekannte Schwester, welche im J. 1526 dem Heinrich v. Tepling auf Kreckow vermählt worden war. In einem Processe, den die v. Tepling auf Kreckow mit den v. Blankenburg auf Wulfshagen über mehrere Gerechtsame in Daberkow führten, ward auch Jacob v. Oertzen auf Helpte von Heinrich und Georg Tepling, des „alten Heinrich Tepling" Söhnen, am 19. Oct. 1562 als Zeuge producirt; „Jacob v. Oertzen zu „Helpte erbgesessen sagt, er Zeuge sei 60 Jahre alt und gutes „Vermögens und sei der Producenten (Heinrich und Georg v. „Tepling) Mutter Bruder", und „habe vor 36 Jahren dem alten „Heinrich Tepling Zeugens Schwester gegeben." Die Söhne des alten Heinrich v. Tepling auf Kreckow und der N. N. v. Oertzen waren Heinrich, Eggert und Georg v. Tepling.

# III. Die schwerinsche Linie.

## A. Das Haus Gammelin.

### Die Güter des Hauses Gammelin.

Das Haus Gammelin hatte einen so bedeutenden alten Güterbesitz, daß es zu Zeiten, wenn es nicht zu vielfach getheilt war, eine große Kraftentwickelung entfalten konnte. Wenn auch die meisten alten Adelsfamilien in Meklenburg ihre alten Hauptgüter erst in der ersten Hälfte oder um die Mitte des 14. Jahrhunderts erwarben, so erscheinen die v. Oertzen auf Gammelin erst etwas später in dem Besitze ihres Hauptgutes, und ihre übrigen Güter werden erst nach und nach, und zwar selten, im 15. Jahrhundert genannt. Im 14. Jahrhundert werden die v. Oertzen nur ein Mal, im J. 1386, als auf Gammelin wohnhaft aufgeführt.

Der **alte Güterbesitz** der gammeliner Linie besteht aus **drei Gruppen**, nach den Hauptsitzen:

1) **Gammelin** m. Z. im Lande Wittenburg, südwestlich nahe bei Schwerin,

2) **Cramonshagen** m. Z. im Lande Schwerin, nordwestlich nahe bei Schwerin,

3) **Wustrow**, oder das Ländchen Wustrow, eine Halbinsel in der Ostsee, im Lande Bukow.

## I. Die Gruppe Gammelin.

**Gammelin** war nicht das einzige Gut, welches den Besitz ausmachte, sondern es gehörten zu dem Rittersitze Gammelin seit alter Zeit noch die angrenzenden Dörfer und Güter Schoffin, Mühlenbek, Radelübbe, die Rothe Mühle und der Rothe Krug. Die Güter werden in alter Zeit nur sehr selten zusammen genannt, und dazu nicht einmal alle, z. B. im J. 1492, als Reimar v. Blücher sie zu Pfande hatte („Gemmelyn, Schertzyn, Molenbeke, de Rodemolen mit „dem Rodenkroge"). Zur Zeit des ratzeburger Zehntenregisters, um das J. 1230, gehörten diese Güter („Chemelin, „Scarsin, Molenbeke, Radelubbe"), neben Dümmer und Pogreß, zur Pfarre Parum. Später (vor 1335)[1]) ist Gammelin zu einer eigenen Pfarre erhoben, zu welcher nebst Radelübbe einige Dörfer aus dem Kirchspiele Hagenow gelegt sind. Die Güter waren in alter Zeit im Besitze verschiedener, anderer rittermäßiger Familien.

**Gammelin** (früher Chemelin und Gemmelin) und **Radelübbe** waren nach dem Verzeichniß der Lehnleute des Bisthums Ratzeburg im J. 1335[2]) im Besitze der Familie v. Dorne, welche im 14. Jahrh. nach v. Gamm ausgestorben sein soll, („Gerardus de Dorne miles et decima in Gemelin et Rade-„lubbe et de aliis bonis suis"). Im J. 1386 wird zuerst Bicke v. Oertzen zu Gammelin genannt (I, S. 111). Das Gut Radelübbe gehörte zwar zu Gammelin, jedoch hatten zu verschiedenen Zeiten auch andere Familien einige Besitzungen in demselben. Die „Mühle zu Radelübbe" erscheint zuerst im J. 1407 im Besitze der v. Oertzen. Die **Rothe-Mühle** und der **Rothe-Krug** gehörten ursprünglich wohl zu Radelübbe, und die „Rothe-Mühle" ist wohl die Mühle, welche 1305 „molendinum Radelubbe" und 1407 „Mühle zu Radelübbe" genannt wurde. Die Besitzungen Radelübbe, Rothe-Mühle und Rothe-

[1]) Vgl. Masch Gesch. des Bisthums Ratzeburg, S. 237, und Schröder Pap. Meckl. I, S. 1164.

[2]) Vgl. Schröder Pap. Meckl. I, S. 1153.

Krug haben alle drei ihren Namen wohl von dem Worte: „roden, raden, ausroden“, daher „radeland.“

**Schoſſin** (früher Scarsin, Scarzin, Schartsin) war in den älteſten Zeiten ein Lehn der rittermäßigen Familie v. Schartzin. Schon im J. 1252 wird ein Ritter Friedrich v. Scharcyn genannt. In den Jahren 1326, 27 und 38 erſcheint ein Ritter Wipert v. Scartſin, welcher mit der Familie v. Lützow verſchwägert war und ohne Zweifel von dieſer den Vornamen Wipert hatte, und im J. 1335 ein Ritter Friedrich v. Schartſin. Mit dieſer Familie v. Schartzin war ſtammverwandt die alte Familie v. Boddin, deren Lehn das nahe bei Schoſſin im Lande Wittenburg gelegene Gut Boddin war. In den Jahren 1320 und 1335 erſcheint ein Ritter Marquard v. Boddin, welcher 1320 ein Oheim Wipert's v. Lützow („avunculus Wiperti Lutzowen“) und 1335 ein Bruder Friedrichs v. Schartzin genannt wird; beide werden in der Lehnrolle der Lehnleute des Bisthums Ratzeburg als Beſitzer der Güter Schoſſin und Boddin aufgeführt, indem es in dieſer Lehnrolle heißt:

„Fredericus de Scharzin et Marquardus de Bod-
„din, milites, fratres, de decima VII manso-
„rum ante ciuitatem Wittenborch et de decima
„villarum de Scharzin et Boddin“.

Als am 19. Junii 1327 der Ritter Wipert v. Scartſin und der Knappe Lüder v. Boddin eine Mark Geldes Hebung aus dem Dorfe Wöltzow bei Wittenburg zu einer Vikarei in dem Kloſter Eldena verkauften, beſiegelten ſie die Urkunde mit ihren Siegeln, welche beide daſſelbe Schildzeichen, nämlich 4 Querbalken, im Schilde haben. Wir haben hier alſo das merkwürdige Beiſpiel, daß noch ſehr ſpät, im J. 1335, zwei Brüder mit demſelben Wappen zwei Geſchlechter verſchiedenen Namens ſtifteten. Uebrigens hatte zu jener Zeit auch die rittermäßige Familie Marſow (im Kirchſpiele Vellahn) Antheil in Schoſſin, indem 1335 Hermann von Marſow des ratzeburgiſchen Bisthums Lehnmann war von Zehnten aus den Dörfern Dümmer, Molenteke (jetzt Neuhof im Kirchſpiele Neukirchen), Tramm (in der Pfarre Vellahn, untergegangen) und Scharzin.

Die Familie v. Schartzin muß im 14. Jahrhundert ausgestorben sein, da nach den genannten Gliedern derselben keine mehr erwähnt werden und der Name ganz verschwindet.

Die Familie v. Boddin ist erst im Anfange des 16. Jahrhunderts ausgestorben.

Es leidet daher keinen Zweifel, daß die Familie v. Oertzen im 14. Jahrhundert durch das Aussterben der Familien v. Dorne und v. Schartzin in den Besitz der Hauptgüter Gammelin und Schoffin m. Z. gelangte. Die Familie Preen besaß jedoch seit alter Zeit einen Hof in dem Gute Schoffin, welchen zwar der Ritter Mathias v. Oertzen am 13. Jan. 1530 zu Pfande nahm, aber am 17. Jan. 1535 die Herzoge kauften, von denen ihn die v. Oertzen erst im J. 1677 durch Kauf an sich brachten.

Ueber das Dorf **Mühlenbek** ist keine alte Nachricht vorhanden; es ist wahrscheinlich, daß es Pertinenz des Gutes Schoffin oder auch ein altes, selbstständiges Lehngut der v. Oertzen war. Am 26. April 1446 wird das Gut als eine Besitzung der Linie v. Oertzen auf Gammelin aufgeführt.

Außer diesen Besitzungen hatte im 15. Jahrhundert Ulrich v. Oertzen auch eine Besitzung in Melkhof im Kirchspiele Vellahn (vgl. Urk. vom 27. Aug. 1471).

## 2. Die Gruppe Cramonshagen.

**Cramonshagen** war der Hauptlehnhof dieser Gütergruppe und oft der Hauptsitz des Lehnträgers aus dem Hause Gammelin. Das Gut erscheint seit dem J. 1422 im Besitze der v. Oertzen, mag aber schon früher denselben gehört haben, wenn es nicht durch das Aussterben der Familie v. Knop im Anfange des 15. Jahrhunderts in ihren Besitz gekommen ist. Von der früheren Geschichte dieses Gutes ist gar nichts bekannt.

Zu diesem Haupthofe Cramonshagen gehörte seit alter Zeit das Dorf **Cramon**, von welchem auch nicht viel mehr bekannt ist, als von Cramonshagen. Jedoch läßt sich so viel sagen, daß das Bisthum Schwerin schon früh viele Besitzungen

in Cramon hatte und die Familie v. Driberg hier einen Hof besaß, für die v. Oertzen also wohl nicht viel mehr übrig blieb, als einige untergeordnete Rechte, Dienste und Hebungen.

Einen wichtigen Theil dieser Gruppe bildete der Besitz in **Gr. Eiren.** Das Dorf Gr. Eixen war in zwei ganz verschiedene Theile zersplittert. Im J. 1200 erhielt der Johanniter-Orden von den Grafen von Schwerin das Pfarrgut (also 4 Hufen) zu Eixen geschenkt, auf welchem späterhin die selbstständige Johanniter-Priorei Eixen entstand[1]). In der Zeit 1219—1222 erhielt das Bisthum Ratzeburg von denselben Grafen 2 Hufen in Eixen mit mehreren Zubehörungen geschenkt[2]). Dies war der geistliche Besitz in Eixen. Außerdem bestand in Gr. Eixen ein weltliches Lehngut, welches nach der Urkunde vom 24. Nov. 1508[3]) aus einem freien Hofe, mit 7 freien Hufen, 3 Kossaten, 5 Pflugdiensten, Fischereien und Gerichten bestand und nach den Urkunden vom 2. Febr. 1530 und 21. Junii 1531 das halbe Dorf Gr. Eixen ausmachte. Ueber die alte Geschichte dieses weltlichen Lehns in Gr. Eixen ist sehr wenig bekannt: nach der bischöflich ratzeburgischen Lehnrolle vom J. 1335 trug der Ritter Bolte v. Hasenkop den halben Zehnten von Rüting, Steinfort, Schadendorf und Eixen vom Bisthume zu Lehn und noch im J. 1391 wohnten „Heinrich „Knop zu Eixen, Claus Knop zu Brüsewitz und Claus „Knop zu Stük"[4]). Die Familie v. Oertzen erscheint seit dem J. 1424 in dem Besitze der Hälfte von Gr. Eixen; wahrscheinlich erhielt Claus I. v. Oertzen auf Gammelin und Cramonshagen diesen Besitz zu Lehn nach dem Aussterben der Familie Knop, im ersten Viertheil des 15. Jahrhunderts, da er mit Margarethe Knop vermählt und mit dieser eine Zeit lang auch im Besitze des knopschen Gutes Stük war.

Zu dem Besitze in Gr. Eixen gehörten wahrscheinlich auch die Antheile in **Gr. Brütz** (nach den Urkunden von 1438 und 1442) und in dem im Mittelalter vielfach zerstückelten Dorfe **Warnitz** (nach den Urkunden von 1429 und 1446), welche Be-

[1]) Vgl. Jahrbücher I, S. 4, 47 und 200.
[2]) Vgl. Masch Geschichte des Bisthums Ratzeburg, S. 118 und 188
[3]) Vgl. Jahrb. I, S. 53 und 215; vgl. S. 228 und 221.
[4]) Vgl. Jahrb. V, S. 128.

sitzungen einzeln als von den v. Oertzen verpfändete Güter genannt werden. Das Dorf Gr. Brütz oder Brüsewitz gehörte zwar zu den alten Lehen der Familie v. Halberstadt; jedoch wird im J. 1391 auch „Claus Knop zu Brüsewitz" genannt.

### 3. Die Gruppe Wustrow.

Das große, eine Halbinsel in der Ostsee bildende und eine fast abgeschlossene Landschaft bildende Gut **Wustrow** (auf deutsch: Halbinsel) im Lande Bukow ist ein altes Hauptlehn der Familie v. Oertzen und oft der Sitz eines abgetrennten Zweiges der Linie Gammelin. Wegen der Abgeschlossenheit der Halbinsel, zu welcher nur eine schmale Landenge führt, wird der Güterbesitz auch oft das „Ländchen Wustrow" genannt, z. B. am 2. Febr. 1530 [CCCLXXXI]. Von der alten Geschichte des Gutes ist wenig bekannt. Im Anfange des 14. Jahrhunderts scheint es im Besitze der damals auch in jenen Gegenden, z. B. auf Westenbrügge, angesessenen Familie v. Moltke gewesen zu sein, indem der Ritter Eberhard v. Moltke im J. 1316 dem Kloster Doberan 20 Mark Hebungen aus Russow und Wustrow verpfändete. Das Gut erscheint erst in der zweiten Hälfte des 14. Jahrhunderts im Besitze der Familie v. Oertzen, und zwar im Besitze der Linie Roggow, von der es auch am wahrscheinlichsten ist und am nächsten liegt, daß sie das an Roggow grenzende Gut erwarb. Im J. 1387 wurden nach den wismarschen Stadtbüchern „Hermann und „Lippold, Brüder, geheißen v. Oertzen, zu Wustrow", wegen Gewaltthätigkeiten in Wismar verfestet [CCXXIX]. Dies ist aber auch alles, was wir aus dem 14. Jahrhundert wissen. Im 15. Jahrhundert erscheint das Gut in ununterbrochenem Zusammenhange im Besitze der Familie v. Oertzen, und zwar des Hauses Gammelin. Wann und auf welche Weise diese Linie zu dem von Gammelin entfernt und nahe bei Roggow liegenden Gute gekommen ist, ist durchaus dunkel.

Von Pertinenzen des Gutes ist keine Nachricht vorhanden; es scheinen auch keine dazu gehört zu haben, da das Gut

mehr, als irgend ein anderes im Lande, ein in sich abgeschlossenes Ganzes bildet.

Im Laufe der Zeit erwarb die gammeliner Linie noch andere Güter.

1) **Scharfstorf** mit **Zeidendorf** zur Hälfte. Dieses Gut war das alte Lehn der alten adeligen Familie v. Lohe, nach deren Aussterben im Mannesstamme der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow die eine Hälfte von dem Herzoge Albrecht zu Lehn erhielt. Diese Belehnung war aber nur eine Anwartschaft, da die beiden v. loheschen Erbtöchter bis zum J. 1595 lebten, Mathias v. Oertzen also nicht zum Besitze kam. Nach dem Tode der beiden Erbtöchter verkauften des Ritters Mathias v. Oertzen Söhne ihre Hälfte der Güter an Paul v. Bülow aus dem Hause Plüskow, dessen Vater Cord die andere Hälfte erhalten und an sich gebracht hatte; dieser Verkauf wird zwischen 1595 und 1602 geschehen sein.

2) **Kl. Tessin.** Dieses Gut war ein altes Lehn eines eigenen Hauses des Geschlechts v. Oertzen. Nachdem dieses Haus um das J. 1515 im Mannesstamme und um das J. 1540 in weiblicher Linie ausgestorben war, erhielt der Ritter Mathias v. Oertzen gegen das Ende seines Lebens das Gut und vererbte es auf seinen Sohn Vicke v. Oertzen auf Gammelin, von welchem es auf kurze Zeit an die Linie Roggow überging, bis es Sivert v. Oertzen auf Gerdshagen im J. 1619 an Otto Preen auf Wehnendorf verkaufte und es aus der v. örtzenschen Familie brachte.

## 6.
## Nicolaus I., Knappe.
1407—1438.

§. 104. G. VII.

Der Knappe Vicke II. (1383—1386) ist der erste, welcher als Besitzer des Hauptgutes dieser Linie aufgeführt wird, indem er in einer Urkunde vom 4. Dec. 1386 ausdrücklich „Vicke van Ortze tho Gemmelin“ genannt wird (vgl. I. A., S. 111). Nachkommen von ihm werden nicht genannt, aber es ist mehr als wahrscheinlich, daß die Brüder Claus und Mathias seine Söhne waren, da sie ihm in dem Güterbesitze folgten. Vicke II. wird zuletzt im J. 1386, Claus zuerst im J. 1407 genannt.

Claus I. von Oertzen ist einer der bedeutendsten Männer seines Hauses und überhaupt seines Geschlechts. Er erscheint zuerst in dem vollen Besitze der Güter seiner Linie und in einer reichen Wirksamkeit und Thätigkeit während eines vollen Menschenalters.

Er ist nicht allein nach dem Inhalte der von ihm ausgestellten Urkunden, sondern auch durch sein Siegel, welches noch in acht Exemplaren aus der Zeit 1422—1438 vorhanden ist, bestimmt zu erkennen; er führt in einem runden Siegel einen stehenden Schild mit dem v. örtzenschen Wappen und der Umschrift:

✠ S CLAVAS : VAN ❀ ORTZA :·

Claus v. Oertzen erscheint zuerst am 3. April 1407 und zwar im Besitze der Mühle zu Radelübbe oder der Rothen-Mühle. Am 21. Dec. 1305 hatte der Graf Nicolaus I. von Schwerin dem Altare des Kalandes zu Wittenburg eine bestimmte Kornhebung aus dieser Mühle geschenkt. Als unter Claus v. Oertzen die Mühle abgebrannt war und er dieselbe wieder aufbauen wollte, verglich der Herzog Albrecht, König von Schweden, für die Zukunft die Sache dahin, daß der Kalandspriester aus der Mühle jährlich seine Hebung von 40 Scheffeln Roggen oder 10 Mark lüb. Pf. fortbeziehen, Claus v. Oertzen aber die Besserung der Mahlmetze genießen, dafür aber in Zukunft die Mühle in baulichem Stande erhalten solle [CCCXXXIV].

Am 17. Febr. 1418 erscheint Claus v. Oertzen, als Bürge für den Herzog Albrecht von Meklenburg, zu Stük bei Schwerin wohnhaft [CXLV]. Das Gut Stük gehörte nicht zum Besitze der v. örtzenschen Familie, sondern war das Lehn der wahrscheinlich aus Holstein eingewanderten gräflich schwerinschen Vasallenfamilie Knop und daher nur im vorübergehenden Besitze des Claus v. Oertzen. Dieser Besitz gönnt jedoch einen tiefen Blick in das Leben desselben.

Claus v. Oertzen war nämlich in erster Ehe mit Margarethe Knop, einer Tochter des Heinrich Knop und dessen Frau Beke, vermählt. Am 15. April 1424 war Margarethe schon gestorben. Claus v. Oertzen verkaufte nämlich an diesem Tage dem Kloster Rehna eine Mark jährlicher Hebung aus dem Dorfe Gr. Eixen unter der Bedingung, daß die Klosterversammlung für „Frau Beke, Heinrich Knops Hausfrau, und für Frau Margarethe v. Oertzen, deren „Tochter, seligen Andenkens," jährlich eine Seelenmesse mit Vigilie halten solle [CLVII].

Es wird auch in einer freilich unvollständigen Nachricht vom 23. Febr. 1418 gradezu und ausdrücklich gesagt, daß „Margarethe Knop, des Claus v. Oertzen Hausfrau" sei [CXLVI]. Es ist also mehr als wahrscheinlich, daß Claus v. Oertzen das Gut Stük vorübergehend mit seiner Frau besaß. Aller Wahrscheinlichkeit nach war Margarethe Knop eine Erbtochter und die letzte ihres Geschlechts. Es wird gewöhnlich angenommen, daß die Familie Knop im J. 1353 zuletzt genannt werde und noch im 14. Jahrhundert ausgestorben sei (vgl. Jahrb. XI, S. 450); dies ist aber nach der hier mitgetheilten Urkunde nicht richtig, da die letzten Glieder des Geschlechts sicher erst kurz vor oder in dem J. 1424 gestorben waren. Claus v. Oertzen erscheint fernerhin auch nicht weiter im Besitze des Gutes Stük, und die Raben werden zu jener Zeit nach dem frühen Aussterben des Mannesstammes der Knop damit belehnt worden sein, da sie schon im J. 1400 im Besitze des Gutes erscheinen. Dagegen scheint Claus v. Oertzen durch diesen Sterbefall auch zu den Besitzungen in Gr. Eixen und Brüsewitz gekommen zu sein.

Nach dem Tode seiner ersten Gemahlin bezog Claus v. Oertzen sein Gut Cramonshagen, wo er sicher vom Jahre 1422 bis zum Jahre 1428 wohnte. Als der Herzog Albrecht am 5. Januar 1422 von dem Knappen Claus Sperling auf Schlagsdorf 110 lüb. Mark lieh, war unter den Bürgen auch „Claus von Oertzen wohnhaft zum Cramonshagen" [CL]. Dies ist das erste Mal, daß Cramonshagen im v. örtzenschen Besitze genannt wird, und es ist nicht unwahrscheinlich, daß erst Claus v. Oertzen dieses Gut, welches ganz nahe bei Stük liegt, erwarb.

Während dieser Zeit und fernerhin trat Claus v. Oertzen häufig als Bürge für die Landesherren bei deren Schuldverschreibungen oft über bedeutende Summen ein, zuerst namentlich wiederholt für den Herzog Albrecht V., den Sohn des Schwedenkönigs Albrecht [CLI bis CLVI].

Bald traten aber in dem landesherrlichen Hause plötzlich sehr bedeutende Veränderungen ein, welche an die Kräfte des Claus v. Oertzen noch größere Ansprüche machten. Der Herzog Johann IV. starb am 16. Oct. 1422 und hinterließ, nach einer kurzen zweiten Ehe, eine Wittwe Katharine, geborne Herzogin von Sachsen-Lauenburg, und zwei minderjährige Prinzen Heinrich IV. und Johann V. Zuerst setzte der Herzog Albrecht V. die Regierung für sich und als Vormund seiner beiden Neffen fort; allein auch ihn raffte der Tod im Herbste des J. 1423 unerwartet hinweg, nachdem er sich erst im Frühling desselben Jahres mit der Princessin Margarethe von Brandenburg vermählt hatte. So stand die verwittwete Herzogin Katharine als Vormünderin ihrer beiden jungen Söhne und als Landesregentin in einer aufgeregten, schwierigen Zeit zwölf Jahre allein und mußte Hülfe in der Treue der Ritterschaft und der Städte suchen. Im Anfange führte die Herzogin die Regierung unter dem Beistande des Ritters Mathias v. Axekow auf Neuhof bei Doberan und des Knappen Otto Bieregge auf Wokrent; der ausgezeichnete Ritter Mathias v. Axekow, einer der bekanntesten Männer in der ältern Geschichte Meklenburgs, war der vieljährige erste Rath oder Minister der Landesherren, Otto Bieregge Kammermeister oder

Finanzminister. Am 6. Mai 1424 gab aber die Herzogin der Landesregierung eine festere Gestaltung (vgl. Gerdes Samml. Stück VIII, S. 687, und Rudloff M. G. II, S. 594 und 628) und setzte zum Besten des Landes aus ihren Räthen, Haupt- und Amtleuten elf Haupt- und Amtleute ein und ordnete einem jeden einen bestimmten Theil des Landes unter, um in demselben das Land und die Einwohner zu befrieden, beschützen und beschirmen, ordnete denselben auch zwei Burgemeister und zwei Rathmänner der Städte Rostock und Wismar bei. Die Räthe aus dem Adel waren: die Ritter: Mathias v. Axekow auf Neuhof, erster Rath der Landesherrschaft und bald auch (1428) Vogt zu Schwerin, Bernd v. Plessen auf Arpshagen und Heinrich v. Stralendorf zu Criwitz, und die Knappen: Wiprecht v. Lützow zu Grabow, Marschall, Christian („Karsten") v. Halberstadt, Vogt zu Boizenburg, Claus Sperling d. ä. auf Schlagsdorf, Vicke v. Stralendorf zu Criwitz, Heinrichs Bruder, Otto Vieregge auf Wokrent, Kammermeister, Henning v. Kardorf auf Vietow, Radeke v. Kardorf auf Gevezin zu Gnoyen und Heinrich Moltke auf Strietfeld. Kanzler während der Vormundschaft war der schweriner Domherr Nicolaus v. Reventlow, welcher die Pfarrer Johann Kremer zu Wittenburg und Johann Achim zu Boizenburg und den Priester Gerhard v. Brüsewitz als Secretaire unter sich hatte. Bald nach der Einsetzung dieses Vormundschaftsrathes zog die Herzogin aber auch den Claus v. Oertzen in ihren Rath, und er erscheint seit dem J. 1425 die ganze Zeit der Vormundschaft hindurch als herzoglicher Rath. Es werden während dieser Zeit hin und wieder auch noch andere Personen als herzogliche Räthe aufgeführt; keiner aber so bestimmt, als Claus v. Oertzen, und mehrere derselben werden wohl Landräthe gewesen sein. Alle diese standen der Herzogin nicht allein als Räthe zur Seite, sondern mußten auch für die Vormundschaft häufig als Bürgen eintreten. Zu denen, die außer den genannten am häufigsten mit Claus v. Oertzen zusammen genannt werden, gehören z. B. Henning v. Halberstadt auf Camin, Untermarschall, Hans v. Bülow auf Hundorf, Vogt seit 1422 zu Schwerin, seit 1428 zu Dömitz, seit 1435 zu

Wittenburg, Johann Vieregge auf Wokrent, Ottos Bruder, und andere. Claus v. Oertzen wird schon am 25. Mai 1424 Richter im herzoglichen Hofgerichte [CLVIII] und seit dem 7. Nov. 1425 ausdrücklich und bestimmt [CLXI] und im Verlaufe der Zeit mehrere Male eben so klar, z. B. am 7. Nov. 1428 und 13. Febr. 1430 [CLXIX, CLXXIV], herzoglicher Rath genannt, und tritt erst mit dem Aufhören der Vormundschaft im J. 1436 von seinem Wirkungskreise zurück. Er erscheint zuletzt als herzoglicher Rath am 27. Sept. 1436, als die jungen Herzoge Heinrich und Johann mit Rath, Wissen und Zustimmung ihrer treuen Räthe ihrer Mutter aus Dankbarkeit für die vielen Dienste und Arbeiten, welche sie ihnen und dem Lande gethan, das Leibgedinge verbesserten. Seit dieser Zeit zog Claus v. Oertzen sich zurück und vollendete nach einigen Jahren seine Lebensbahn.

Claus v. Oertzen betrachtete die zu Cramonshagen gehörenden Besitzungen als minder wichtig für den Gesammtbesitz und verpfändete hin und wieder einzelne Stücke davon. Am 15. April 1424 hatte er dem Kloster Rehna eine Mark Hebung aus dem Dorfe Gr. Eixen verkauft [CLVII]; am 27. Oct. 1428 verpfändete er dem Priester Hermann Gammelin 4 Mark Hebung aus demselben Dorfe [CLXVIII]. Am 10. Nov. 1429 verpfändete er an den Priester Johann Möller zu Wismar 8 Mark Hebungen aus dem Dorfe Warnitz [CLXXXIII] und am 13. Oct. 1438 dem Kloster Marienwolde 7 Mark Hebungen aus dem Dorfe Gr. Brüsewitz [CXCII].

So reizend das Gut Cramonshagen auch liegt, so verlegte Claus v. Oertzen doch im J. 1428 seinen Wohnsitz nach dem Hauptgute Gammelin [CLXVII und CLXVIII], in dessen Besitz er seit dieser Zeit häufig erscheint. Die Veranlassung ist wahrscheinlich, daß er sich mit Beke v. Züle, aus einem angesehenen und mächtigen Geschlechte, zum zweiten Male vermählt hatte und der Hauptsitz der Linie, aus welcher seine zweite Gemahlin stammte, der feste Rittersitz Walsmühlen mit Stralendorf u. s. w., an die alten gammelinschen Güter grenzte.

Die Herzogin Katharine war eine ungewöhnlich kräftige und einsichtsvolle Fürstin. So schwer und unruhig auch die Zeiten waren, so lenkte sie doch im Verein mit ihren Räthen und Hauptleuten das Staatsruder kräftig und geschickt. Zunächst hatte sie für die Zurückzahlung der Ehegelder der jungen herzoglichen Wittwe Margarethe zu sorgen. In den zu Perleberg gepflogenen Verhandlungen über diese wichtige Angelegenheit trat Claus v. Oertzen am 7. Nov 1425 [CLXI] und am 4. Mai 1427 [CLXII] mit den angesehensten Männern als Bürge ein. Aus diesen Verhandlungen entspann sich schon damals die künftige Vermählung des nachmaligen regierenden Herzogs Heinrich, des älteren Sohnes der Herzogin, mit der brandenburgischen Prinzessin Dorothea.

Schwieriger war die ganze Bewegung der Zeit zu beherrschen. Die Städte, wie die Vasallen, waren in einer kaum zu bändigenden Unruhe. Die demokratischen Revolutionen der gewerbetreibenden Bürger gegen die Rathsfamilien brachen in den Hansestädten plötzlich zu einer zügellosen Wuth aus. Schon seit 1408 hatte sich dieser Geist der Auflösung der alten Ordnung von Lübeck aus über Wismar und Rostock verbreitet. Im J. 1427 brachen aber in diesen und andern Hansestädten die Unruhen bis zur blutigen Empörung aus, und die Revolution schritt in Wismar sogar bis zur Enthauptung des Burgemeisters Johann Bantschow und des Rathsherrn Heinrich v. Haren vor. Erst am 21. März 1430 gelang es der Herzogin, die Gemüther zu besänftigen, Strafe zu üben und den Frieden wieder einzuführen. Die Herzogin war persönlich in Wismar gegenwärtig (vgl. Jahrb. XI, S. 226) und erreichte die Aussöhnung durch die Vermittelung der beiden Prälaten, des Bischofs von Schwerin und des Abtes von Doberan, ihrer zwölf Räthe und der Rathssendeboten von Lübeck, Hamburg, Stralsund und Lüneburg; unter den herzoglichen Räthen war auch Claus v. Oertzen auf Gammelin. Rostock folgte bald dem Beispiele Wismars.

Auch die unaufhörlichen Fehden des einheimischen und angrenzenden Adels suchte die Herzogin durch Abschluß von Landfrieden mit den benachbarten Fürsten im J. 1431 zu

mäßigen und zu stillen, z. B. durch die brandenburgischen und lauenburgischen Landfrieden, bei welcher Gelegenheit die Herzogin auch die Eventual-Succession der meklenburgischen Herzoge in das Herzogthum Sachsen-Lauenburg versichert erhielt.

Durch so wichtige und lebhafte Bestrebungen ward die Kraft der herzoglichen Räthe vielfach und bedeutend in Anspruch genommen.

Mit dem Regierungsantritt der beiden jungen Herzoge Heinrich und Johann im J. 1436 zog sich Claus v. Oertzen von den Staatsgeschäften zurück. Er tritt zuletzt als Staatsmann am 27. Sept. 1436 auf, als die Herzoge ihrer Mutter aus Dankbarkeit für die lange Vormundschaftsführung das Leibgedinge verbesserten [CXC]. Mit dem Regierungsantritte der beiden jungen Herzoge trat auch das wichtige Ereigniß ein, daß am 7. Sept. 1436 das Fürstenhaus Werle ausstarb, wodurch für die nächste Zeit die Staatsgeschäfte ungemein vermehrt wurden. Claus v. Oertzen erscheint hiernach nur noch drei Male und zwar in Beziehung zu den v. Züle, den Verwandten seiner Frau, zuletzt am 15. Nov. 1438, als die Brüder v. Züle dem Kloster Marienwolde, wo die Familie v. Züle zwei Vikareien hatte, 7 Mark Renten aus dem Dorfe Stralendorf verpfändeten [CXCIII], nachdem auch Claus v. Oertzen am 13. Oct. 1438 demselben Kloster 7 Mark Renten aus dem Dorfe Gr. Brütz verpfändet hatte [CXCII].

Claus v. Oertzen starb nicht lange darnach; am 5. Junii 1442 war er schon todt. Er wird kein sehr hohes Alter erreicht haben, da er einen minderjährigen Sohn und andere unmündige Kinder hinterließ und seine Wittwe sicher noch 16 Jahre nach seinem Tode lebte.

Claus v. Oertzen war zwei Male vermählt.

Die erste Frau war Margarethe Knop, eine Tochter des gräflich-schwerinschen Vasallen Heinrich Knop auf Stük bei Schwerin und dessen Frau Beke (vgl. oben S. 177); sie war ihm schon am 23. Febr. 1418 vermählt, aber schon am 15. April 1424 gestorben. Wahrscheinlich hatte sie ihm als die letzte ihres Geschlechts für ihre Lebenszeit das Gut

Stük zugebracht, wo er in der ersten Zeit dieser ersten Ehe wohnte. Von Kindern dieser Ehe ist nirgends die Rede.

Die zweite Frau war Beke (Elisabeth) v. Züle, eine Tochter des Gottschalk v. Züle auf Walsmühlen, aus dem alten, mächtigen Geschlechte der v. Züle, welche in der Gegend der Stadt Wittenburg und im Lauenburgischen alte Familiengüter besaßen. Daß diese Frau dem Geschlechte der v. Züle angehört habe, erhellt nicht allein aus mehreren Urkunden, in denen ihre väterliche Verwandtschaft bestimmt angedeutet ist, sondern auch aus ihrem Siegel, welches das v. züleſche Wappen mit dem geschachten Stral und die Umschrift: **s. vor. beke. van. sule.** zeigt [CCV und CCXVI]. Claus v. Oertzen wird sich nicht lange nach dem Tode seiner ersten Frau wieder vermählt haben, wahrscheinlich vor dem J. 1428, da er in diesem Jahre seinen Wohnsitz nach Gammelin verlegt hatte und nach den Urkunden in Verbindung mit der Familie v. Züle stand. Hiemit mag denn auch übereinstimmen, daß nach dem Tode ihres Mannes ihre Kinder im J. 1446 noch minderjährig waren, ihr Sohn Claus im J. 1454 aber schon sicher seine Volljährigkeit erreicht hatte [CCV]. Es reden über diese Frau als Wittwe noch 7 Urkunden. Am 5. Junii 1442 cedirte der schweriner Dompropst Johann Brun der Wittwe des Claus Sperling von Schlagsdorf die Hebungen aus dem Dorfe Gr. Brütz und dem großen Hofe zu Cramonshagen, welche er von Claus v. Oertzens Wittwe Beke, deren Sohne Claus und dessen Vettern Burchard (auf Clausdorf) und Sivert (auf Roggow) für 250 Mark lüb. gekauft hatte [CC]. Ob die Wittwe des Claus Sperling nach dieser Urkunde der Familie v. Oertzen angehört habe, läßt sich nicht bestimmen, jedoch ist es wahrscheinlich, da die Familie Sperling der v. örtzenschen Familie damals nahe stand (§. 107). Frau Beke war noch am 26. April 1446 „Vormünderin ihrer Kinder", als sie dem Priester Johann Möller die 12 Mark Hebungen, die ihm aus den Gütern Cramonshagen und Warnitz verpfändet gewesen waren, aufs neue in den Gütern Cramonshagen und Mühlenbek anwies [CCV]. Die Wittwe wohnte damals mit ihren Kindern zu Gammelin. Im

J. 1453 verpfändete ihr Henning v. Stralendorf zu Crivitz 2 Mk. 24 Sch. Hebungen aus dem Dorfe Goldenbow [CCXIII]. Nachdem ihr Sohn Claus volljährig und selbstständig geworden war und wahrscheinlich die gammelinschen Güter übernommen hatte, wohnte Frau Beke zu Walsmühlen; wahrscheinlich war sie nach dem Tode ihrer Brüder und dem hiedurch erfolgten Aussterben des Mannesstammes dieser Linie v. Züle Erbtochter des Gutes Walsmühlen, welches bald darauf in den Besitz der Landesherren kam. Am 12. Januar 1454 verpfändete Frau Beke, des Claus v. Oertzen nachgelassene Wittwe, wohnhaft zu Walsmühlen, mit ihrem Sohne Claus und mit Zustimmung ihrer Vettern v. Züle, dem Birgittenkloster Marienwolde bei Möllu, in dessen Kirche die Familie v. Züle zwei Vikareien hatte, 22½ Mark lüb. Pf. Hebungen aus dem v. züleschen Dorfe Stralendorf für eine Anleihe von 400 lüb. Mark [CCXVI] und an demselben Tage bestätigte der Herzog Heinrich von Meklenburg nicht nur diese Verpfändung, sondern auch eine am 15. Nov. 1438 demselben Kloster durch die v. Züle geschehene Verpfändung von 7 Mark aus demselben Dorfe [CXCIII]. Zuletzt wird Frau Beke im J. 1458 genannt. Sie hatte ihr Leibgedinge in den Dörfern Seedorf und Wangern auf der Insel Pöel. Wie und wann die v. Oertzen in diesen Besitz gekommen und wie lange sie darin geblieben sind, ist völlig dunkel, da dieses Besitzes nur im J. 1458 gedacht wird; möglich und wahrscheinlich ist es, daß die v. Oertzen durch die v. Stralendorf zum vorübergehenden Besitze gelangten, da der Familie v. Stralendorf seit 1318 Poel verpfändet war. Jedenfalls scheint der Name des jetzt bei Seedorf liegenden Hofes Oertzenhof nicht mit diesem alten Besitze zusammenzuhangen, da dieser Hof erst unter der schwedischen Herrschaft im 18. Jahrh. durch den Landrath v. Oertzen auf Roggow aus mehreren erkauften Bauerstellen und Hufen gebildet und Oerzenhof benannt ward; im J. 1788 war Oerzenhof die „Amts-Meierei" (vgl. Monatsschrift von und für Meklenburg, 1788, Oct., Stück 4, S. 303). Als aber Herzog Heinrich von Meklenburg am 13. Febr. 1458 dem Bürger Peter v. Eixen zu Wismar 14 lüb. Mark He-

bungen aus der Bede des Dorfes Seedorf auf Poel und am 10. April 1458 der Nicolai-Kirche zu Wismar 11 lüb. Mark Hebungen aus der Bede des Dorfes Wangern auf Poel verpfändete, ward dabei jedesmal bestimmt die Einwilligung der Frau Beke v. Oertzen, „deren Leibgedinge es sei", ausgedrückt [CCXXIV und CCXXVI]. Nach dieser Zeit wird Frau Beke nicht wieder genannt.

Claus v. Oertzen hinterließ von seiner zweiten Frau Beke „Kinder", welche im J. 1446 noch unmündig waren und unter der Vormundschaft ihrer Mutter standen; von diesen „Kindern" ist als sein Sohn sicher nur Claus genannt, welcher ohne Zweifel das älteste Kind war, da er bald nach seines Vaters Tode mit seiner Mutter handelnd auftritt. Zu den übrigen Kindern wird Ulrich v. Oertzen gehört haben, welcher im J. 1471 ein Erbe zu Melkhof besaß. Es lassen sich daher als Kinder des Claus I. aufführen:

VIII. 10. Nicolaus II. 11. Kinder N.N. 12. Ulrich?

## 7.

## Mathias I., Knappe.

1412—1424.

§. 105. G. VII.

Ein zweiter Sohn des Knappen Vicke II. v. Oertzen auf Gammelin war Mathias I. v. Oertzen auf Wustrow. Er führte den Vornamen Mathias in die Familie ein und dieser Vorname läßt vielleicht einen Schluß auf die Familie seiner Mutter wagen. Wahrscheinlich war diese, Vickes II. Gemahlin, aus der Familie v. Penz, welche bekanntlich in der Nähe von Gammelin, in der Gegend von Hagenow, große Besitzungen hatte. In der Familie v. Penz kommen in der zweiten Hälfte des 14. Jahrh. die Vornamen Mathias und Ulrich vor. Diese

Annahme wird dadurch noch mehr bestärkt, daß im J. 1471 ein Ulrich v. Oertzen (vgl. S. 191) ein Erbe in dem v. penzschen Gute Melkhof besaß und mehr als wahrscheinlich den Vornamen Ulrich aus der v. penzschen Familie herleitete, in welcher der Vorname Ulrich vorherrschend geworden war; auch waren die v. Penz im Anfange des 16. Jahrh. im Pfandbesitze des Gutes Gammelin. — Mit den v. Schönfeld, welche die an Eixen und Cramonshagen grenzenden Güter Schönfeld und Seefeld besaßen, waren Mathias v. Oertzen und seine Geschwister von mütterlicher Seite sicher verwandt, da auch in der Familie v. Schönfeld der Vorname Mathias vorkommt und die v. Oertzen von der Linie Gammelin wiederholt für die v. Schönfeld in Bürgschaft gingen (vgl. Urk. vom 26. März 1458 und 18. Januar 1474 ꝛc.) (Vgl. unten Burchard v. Oertzen).

Da Mathias v. Oertzen nur zwei Male genannt wird, so ist von ihm wenig zu berichten. Er besaß das zu dem Hause Gammelin gehörende Gut Wustrow, welches unter ihm zum ersten Male als ein dieser Linie gehörendes v. örtzensches Gut erwähnt wird; es scheint in den ältesten Zeiten ein Gut der Familie Moltke gewesen und erst in der zweiten Hälfte des 14. Jahrh. durch die v. Oertzen erworben zu sein. Vor Mathias I. ist aber von keinem der gammeliner Linie angehörenden v. Oertzen auf Wustrow die Rede. Jedoch liegt in der Pfarrkirche zu Alt-Gaarz ein fast ganz abgetretener und unkenntlich gewordener Leichenstein, wie es scheint, aus dem Ende des 14. Jahrh. stammend, auf welchem neben einigen unwichtigen Worten auch noch die Namen **lubse** und **tidericus . orde . . . .** zu erkennen sind, woraus hervorzugehen scheint, daß schon vor Mathias I. andere jetzt unbekannte v. Oertzen auf Wustrow gewohnt haben, wenn nicht ein v. Oertzen aus der Linie Roggow hier begraben ist.

Mathias I. v. Oertzen wird nur zwei Male genannt. Am 6. Mai 1412 verpfändete er dem „Herrn" (wahrscheinlich einem Priester) Ludolph Wischur 11 Mark Hebungen aus zwei Bauerhöfen zu Wustrow [CXXXVIII]; es wird hier zwar nicht geradezu gesagt, daß er zu Wustrow wohnte, war aber

augenscheinlich im Besitze des Gutes. Am 15. April 1424 gab er durch Anhängung seines Siegels Zeugniß und Zustimmung zu dem Verkaufe von einer Mark jährlicher Hebung durch seinen Bruder Claus I. auf Gammelin ꝛc. [CLVII].

Hiemit verschwindet Mathias I. v. Oertzen aus der Geschichte. Von Frau und Kindern ist nirgends die Rede. Soll man aber nach dem Güterbesitze und den Vornamen schließen, so waren Vicke III. und Burchard, welche auf Wustrow angesessen erscheinen, seine Söhne, da sein muthmaßlicher, auf Wustrow wohnender Enkel auch Mathias hieß und dessen Vater Vicke wahrscheinlich von seinem Großvater diesen Vornamen trug, nach der im Mittelalter herrschenden Sitte, daß der älteste Enkel gewöhnlich den Vornamen seines väterlichen Großvaters erhielt. Da Vicke und Burchard der gammeliner Linie angehörten und auf Wustrow wohnten, so wird man wohl ziemlich sicher gehen, wenn man als Söhne des Mathias I. auf Wustrow annimmt:

VIII. 14. Vicke III. 15. Burchard. 16. Leneke.

---

8.

## Adelheid.

Gem. N.N. v. Cordshagen.

1444.

§. 106. G. VII.

Wahrscheinlich eine Schwester der Brüder Claus I. und Mathias I. von der Linie Gammelin war Adelheid v. Oertzen, welche an einen v. Cordshagen vermählt war. Die adelige Familie v. Cordshagen, welche ein Hifthorn im Schilde führte, besaß im Mittelalter das Lehngut Vietlübbe bei Gadebusch, ganz nahe bei Cramonshagen und Eixen belegen, und starb um das Ende des 16. Jahrh. aus; im J. 1611 gehörte Vietlübbe

der Familie v. Halberstadt. Aus der Nachbarschaft der Güter Cramonshagen und Vietlübbe mag geschlossen werden können, daß Adelheid aus der gammeliner Linie stammte. Adelheid v. Oertzen wird nur ein Mal genannt: als am 29. Septbr. 1444 Hans Cordshagen zu Vietlübbe dem Vikar Heinrich Balk zu Gadebusch 1 lüb. Mark jährlicher Pacht aus dem Dorfe Vietlübbe verpfändete, gaben sein Bruder Hans und ihre Mutter Adelheid („Hans unde Hermen Curdeshaghen unde Alheyt ere moder") durch Anhängung ihrer Siegel ihre Zustimmung [CCII]. Daß Adelheid eine geborne v. Oertzen war, geht aus ihrem freilich nicht mehr vollständigen, aber doch noch klaren Siegel hervor, welches im runden Felde die zwei Ring haltenden Arme des v. örtzenschen Wappens und die noch lesbare Umschrift führt:

**alheit : dan : or ....**

Wenn aber Adelheid v. Oertzen aus der gammeliner Linie stammte, so kann sie nach ihrem Alter nur eine Schwester der Brüder Nicolaus I. und Mathias I. gewesen sein, da sie im J. 1444 nach dem Tode ihres Gemahls schon selbstständige Söhne hatte und schon im J. 1480 ihr Enkel Joachim mit seinem Vater Hermann in einer Urkunde auftritt.

---

9.

## Gisela,

zuletzt Wittwe des Claus Sperling auf Schlagsdorf.

1437—1442.

§. 107. G. VII.

Claus I. und Mathias I. v. Oertzen von der Linie Gammelin scheinen eine zweite Schwester gehabt zu haben, welche ein sehr bewegtes Leben führte. Sie war drei Male vermählt gewesen: mit Wipert v. Lützow Ritter, Joachim v. Bülow auf Zibühl und Claus Sperling auf Schlagsdorf („der se alle

nalatene wedewe is"), und hatte alle drei Männer schon vor dem 5. Sept. 1437 verloren. An diesem Tage schenkte sie nämlich („vrowe Ghiczele Clawes Sperlinges zeliger dechtnisse nalaten wedewe") dem Kloster Neukloster 100 lüb. Mark zu ihrem und ihrer verstorbenen Männer Seelenheil (vgl. Lisch Mekl. Urk. II, S. 210). Ihr letzter Mann Claus Sperling auf Schlagsdorf, der „alte" genannt, war seit 1423 herzoglicher Vogt zu Grevismühlen, zog sich aber gegen das Ende seines Lebens (1431, 1435) „auf die Schelfe zu Schwerin" zurück, wo die Sperling in der Gegend des jetzigen großherzoglichen Palais einen Wohnhof besaßen.

Gisela Sperling war wahrscheinlich eine geborne v. Oertzen von der Linie Gammelin. Am 5. Junii 1442 bekannte der schweriner Dompropst Johann Brun, daß die durch ihn von Claus I. v. Oertzens Wittwe Beke und deren Sohn Claus II. und dessen Vettern gekauften Pächte aus Gr. Brütz und dem großen Hofe zu Kramonshagen nicht ihm, sondern des Claus Sperling Wittwe gehörig seien [CC]. Hieraus scheint hervorzugehen, daß sie von der gammeliner Linie der v. Oertzen stammte, da diese Cramonshagen und Antheil an Gr. Brütz besaß.

---

## 10.

## Nicolaus II., Knappe.

1442—1454.

§. 108. G. VIII.

Claus II. war ein Sohn des herzoglichen Rathes Claus I. auf Gammelin m. Z. und Cramonshagen m. Z. aus dessen zweiter Ehe mit Beke v. Züle aus dem Hause Walsmühlen. Bei dem Tode seines Vaters, zwischen 1438 und 1442, war er noch nicht volljährig, wenn er auch wohl schon mündig sein mochte. Er wird nur einige Male neben seiner Mutter genannt. Am 5. Junii 1442 erscheint er zum ersten Male,

neben seiner Mutter Beke [CC]. Als am 26. April 1446 Frau Beke einige Hebungen aus Warnitz auf das Gut Mühlenbek übertrug, nannte sie sich noch „Vormünderin ihrer Kinder", jedoch besiegelte schon „ihr Sohn Claus" die Urkunde [CCV] mit dem Siegel seines Vaters neben seiner Mutter, woraus hervorgeht, daß er um diese Zeit schon mündig war. Bis dahin hatte die Mutter mit ihren Kindern zu Gammelin gewohnt. Im J. 1454 wohnte sie aber auf ihrem väterlichen Gute Walsmühlen, nachdem ihre Brüder gestorben waren. Wahrscheinlich hatte Claus II. die gammelinschen Güter angetreten. Am 12. Januar 1454 wird Claus II. zuletzt neben seiner Mutter genannt, als diese dem Kloster Marienwolde 22½ Mark lüb. Pf. aus dem Dorfe Stralendorf verpfändete [CCXVI]; er führte bei dieser Gelegenheit schon ein eigenes Siegel, welches von dem seines Vaters verschieden ist.

Claus II. v. Oertzen wird früh gestorben sein, da er nicht lange lebend erscheint und von seinem Güterbesitze und Wirken nirgends die Rede ist. Wahrscheinlich starb er, ohne männliche Erben zu hinterlassen, wie sein muthmaßlicher Bruder Ulrich (vgl. unten §. 110), da die Familiengüter bald an einen anderen Zweig der Linie fallen. Durch frühen Tod und Schwäche scheint das v. örtzensche Haus Gammelin in der zweiten Hälfte des 15. Jahrh. nach und nach heruntergekommen zu sein, da sich die gammeliner Güter am Ende dieses Jahrhunderts im Pfandbesitze anderer Familien befanden.

## 11.

## Des Claus I. Kinder N.N.

1446.

§. 109. G. VIII.

Claus I. v. Oertzen auf Gammelin hatte aus seiner zweiten Ehe mit Beke v. Züle noch mehr Kinder, als Claus II., da Beke in der Urkunde vom 26. April 1446, welche schon ihr

Sohn Claus mit besiegelt, ausdrücklich sagt, daß sie als „Vormünderin ihrer Kinder" handle [CCV]. Weiter ist über diese aber auch nichts bekannt, als etwa der folgende Ulrich v. Oertzen.

## 12.
## Ulrich, Knappe.
### 1471.

§. 110. G. VIII.

Ulrich v. Oertzen, zu Wittenburg wohnhaft, wird nur ein Mal genannt, als er am 27. Aug. 1471 dem Arnd Beneke sein Erbe zu Melkhof, auf welchem er früher gewohnt hatte, verkaufte [CCLXVI]. Wahrscheinlich war Ulrich ein Sohn des Nicolaus I. auf Gammelin und eines von dessen ungenannten „Kindern", welche nach seinem Tode unter der Vormundschaft ihrer Mutter standen (vgl. oben S. 185). Das Erbe zu Melkhof hatte er wahrscheinlich von seiner Großmutter her, welche wahrscheinlich aus der Familie v. Penz stammte, da dieser das Gut Melkhof gehörte und in derselben der Vorname Ulrich herrschend war (vgl. oben S. 185 flgd.). Daher wird auch Hans v. Penz auf Redefin am 26. April 1522 unter den nächsten Verwandten des Ritters Mathias auf Wustrow genannt. Ulrich, wie sein Bruder Claus II., scheinen ohne männliche Erben gestorben zu sein, da die Güter der Linie bald an einen andern Zweig fielen. Mit Ulrich stirbt das alte Haus Gammelin aus und das derselben Linie angehörende Haus Wustrow wird demnächst wieder kräftiger.

## 13.
## Elisabeth,
Priorin des Klosters Rehna.
1479—1489.

§. 111. G. VIII.

Es ist eine bemerkenswerthe Erscheinung in der Geschichte der Familie v. Oertzen, daß sie während des katholischen Mittelalters keine männlichen kirchlichen Würdenträger aufzuweisen hat. Dagegen lassen sich einige Regentinnen weiblicher Klöster aus dieser Familie nachweisen. Die früheste von diesen ist Elisabeth v. Oertzen, Priorin des Prämonstratenser-Nonnenklosters Rehna im Stifte Ratzeburg (vgl. Jahrb. XV, S. 287). Wenn auch in dem Kloster Rehna neben meklenburgischen adeligen Jungfrauen immer viele Töchter aus den Patriciergeschlechtern Lübecks lebten, welche sich große Verdienste um das Kloster erwarben, so gehörten doch die Priorinnen, so lange sich ihre Familiennamen erforschen lassen, bekannten adeligen Geschlechtern an, während die Pröpste gewöhnlich gelehrte Geistliche bürgerlicher Herkunft waren. Nachdem in den Urkunden Sophie v. Plessen 1474—1476 als Priorin des Klosters erschienen ist, wird Elisabeth v. Oertzen am 16. Nov. 1479 zuerst als Priorin aufgeführt [CCXC]. Sie regierte das Kloster zehn Jahre lang und hatte ausnahmsweise zwei adelige Pröpste zur Seite: Johann Borstell (1479—1481) und Johann Thun (1486). Johann Thun, vielleicht derselbe, welcher 1491 Propst des Klosters Dobbertin war, ist wahrscheinlich der nachmalige Bischof von Schwerin, 1504 † 1506, da auch sein Nachfolger in der rehnaer Propstei, Hermann Tegeler, seit 1489 Domherr zu Schwerin war, und das Kloster Rehna oft Domherren von Ratzeburg, Lübeck und Schwerin zu Pröpsten hatte (vgl. Jahrb. XV, S. 304 flgd.).

Daß Johann Thun zu der Zeit Propst war, wird eine besondere Veranlassung gehabt haben. Die Zeit, in welcher Elisabeth das Kloster Rehna regierte, war nemlich für das Kloster eine ungewöhnlich wichtige, indem nicht nur die Herzogin Elisabeth von Meklenburg-Stargard als Nonne in dem Kloster lebte, sondern auch die Herzogin Dorothea von Meklenburg-

Schwerin, Wittwe des regierenden Herzogs Heinrich IV. († 1477), Tochter des Kurfürsten Friedrich I. von Brandenburg, sich nach dem Tode ihres Gemahls in das Kloster Rehna zurückgezogen hatte. Im J. 1452 war Dorotheens erste Tochter Katharine, welche im Kloster Rehna erzogen ward, in dem Alter von sieben Jahren bei einem unglücklichen Falle von einer Treppe ums Leben gekommen und wahrscheinlich im Kloster begraben (vgl. Jahrb. XV, S. 299 flgd.). Da nun die Herzogin Dorothea theils eine Vorliebe für das Kloster, theils eine schmerzliche Erinnerung in demselben hatte, so zog sie sich einige Zeit nach dem Tode ihres Gemahls († 1477) in dem Alter von 57 Jahren in das Kloster zurück, um so mehr, da ihr Schloß, Stadt und Land Gadebusch, in der Nähe von Rehna, zum Leibgedinge verschrieben war, das Kloster also in oder doch an ihrem Leibgedingsgebiete lag. Zuerst wollte sie die Zeit ihres Lebens in Schwerin wohnen bleiben; aber im J. 1485 sagen ihre Söhne, daß sie sich „in ein einsam Leben begeben und in das Kloster zu Rehna bestätigt habe", und sie selbst nennt sich im J. 1487 „begebene Schwester im Kloster Rehna" (vgl. Jahrb. XX, S. 356). Die Herzogin starb am 19. Jan. 1491 im Kloster Rehna und ward in der Königskapelle zu Gadebusch begraben (vgl. Jahrb. III, S. 135, und XV, S. 299).

Die Priorin Elisabeth v. Oertzen erscheint zuletzt am 24. Nov. 1489 (CCXCVIII] und wird sehr bald darauf gestorben sein, da sicher schon am 14. Nov. 1490 ihre Nachfolgerin auftritt. Ihre Nachfolgerin war die Herzogin Elisabeth, des letzten Herzogs Ulrich II. von Meklenburg-Stargard Tochter, welche nach ihres Vaters Tode († 1471) in ihrem zehnten Lebensjahre in das Kloster gegeben war, also ungefähr in ihrem 22. Lebensjahre Priorin ward. Es läßt sich hieraus wohl schließen, daß sie von Elisabeth v. Oertzen gut erzogen war. Die Herzogin-Priorin starb erst im J. 1532, ungefähr im 72. Jahre ihres Lebens (vgl. Jahrb. XV, S. 300). Die Herzogin Elisabeth ist die einzige Priorin, und vielleicht die einzige Nonne dieses Klosters aus dem landesherrlichen Hause.

Die Zeit, in welcher Elisabeth v. Oertzen regierte, ist also eine der glanzvollsten Zeiten des Klosters Rehna, um so mehr da auch Kirche und Kloster nicht lange vorher vollständig ausgebauet und reich geschmückt waren (vgl. Jahrb. XV, S. 296).

Unter Elisabeth v. Oertzen lebte auch Leneke v. Oertzen als Nonne im Kloster Rehna, da sie um das J. 1500 dem Alter nach die dritte Nonne des Klosters war (vgl. Jahrb. XV, S. 302).

Welchem Hause der Familie v. Oertzen Elisabeth angehört, läßt sich nicht ermitteln. Wahrscheinlich ist es, daß sie von der gammeliner Linie aus dem Hause Cramonshagen, welches nicht weit von Rehna liegt, stammte und eine Tochter des herzoglichen Rathes Nicolaus I. auf Gammelin und Cramonshagen war.

---

## 14.

## Vicke III., Knappe.

1459 – 1465.

§. 112. G. VIII.

Bald nach der Mitte des 15. Jahrhunderts erscheinen zwei Glieder der Familie, Vicke und Burchard, von der gammeliner Linie, auf Wustrow gesessen, neben einander wirkend und in genauen Beziehungen stehend. Es wird nirgends ausdrücklich gesagt, wessen Söhne und wie sie verwandt seien; es ist jedoch mehr als wahrscheinlich, daß sie Söhne des Mathias I. auf Wustrow und Brüder waren, da sie diesem in dem Besitze von Wustrow folgen. Des Nicolaus I. Söhne können sie nicht sein, da dessen Kinder zu jung waren, um Brüder der hier genannten beiden v. Oertzen sein zu können. Daß Vicke III. ein Sohn des Mathias I. war, dürfte auch aus den Vornamen hervorgehen, da Vicke's Sohn wieder Ma-

thias hieß, so wie Vicke's III. Großvater dessen Vornamen trug. Ueber die Herstammung des Burchard v. Oertzen läßt sich weniger sagen; aber da er neben Vicke III. Besitzer von Wustrow und Vormund für dessen Sohn war, so kann man ihn nur für einen Bruder Vicke's halten, um so mehr, da kein anderer Platz für ihn zu finden ist.

Vicke III. erscheint zuerst, als auf Wustrow wohnend, am 5. Dec. 1459, als er dem Knappen Lüdeke v. Bassewitz auf Maslow 4 Mark lüb. Pacht aus dem Dorfe Neuendorf im Kirchspiele Neuburg verpfändete [CCXXXI]. Die Besitzung in Neuendorf gehörte wohl der alten v. örtzenschen Linie Clausdorf, welche in der zweiten Hälfte des 15. Jahrhunderts nach und nach ihre Güter verlor und ausstarb, da Neuendorf in der Nähe des dieser Linie gehörenden Gutes Garwensdorf liegt; Vicke III. scheint durch Pfand oder Abtretung in diesen vorübergehenden Besitz gekommen zu sein. Dies ist um so wahrscheinlicher, als Sivert von der Linie Roggow, welcher nach der Urkunde von 1464 „Antheile" in Garwensdorf und Clausdorf hatte, durch Anhängung seines Siegels zu dieser Verpfändung seine Zustimmung gab.

Vicke v. Oertzen wird ein begabter und Vertrauen genießender Mann gewesen sein, da er, neben Sivert II. v. Oertzen auf Roggow (1455—1475), schon am 15. März 1460 Landrath („unse rade unde leuen ghetruwen") war, als der Herzog Heinrich dem Karthäuserkloster Marienehe bei Rostock 9 Mark sund. Pf. Hebung aus der Königsbede des Dorfes Mönchhagen verpfändete [CCXXXII]. Hierauf wird er nur noch ein Mal genannt, am 7. April 1460, und zwar ausdrücklich als auf Wustrow wohnend. Die Brüder Waldemar und Johann Moltke auf Mulsow hatten am 22. Aug. 1444 dem Knappen Burchard v. Oertzen auf Clausdorf 16 lüb. Mark Pacht aus dem Gute Hanshagen bei Kröpelin verpfändet [CCI]. Am 7. April 1460 übertrug Johann Moltke diese Forderung auf Sivert v. Oertzen auf Roggow; zu dieser Uebertragung gaben Vicke v. Oertzen auf Wustrow, Heinrich Overberg auf Steinhagen und Bernd v. Oertzen auf Clausdorf ihre Zustimmung und bestätigten diese durch Anhängung

ihrer Siegel [CCXXXIII]: das Siegel des Vicke v. Oertzen hat einen rechts gelehnten Schild mit dem v. örtzenſchen Wappen und der Umſchrift: **s. vykke. van . orſen.** — In demſelben Jahre 1460 ward die noch vorhandene große Glocke in der Kirche zu Alt-Gaarz, in welcher Vicke's Gut Wuſtrow eingepfarrt iſt, ohne Zweifel durch ſeine Beförderung, gegoſſen (vgl. Jahrb. X, S. 312 flgd.); die Glocke trägt zum Schmuck die Bilder Johannis des Täufers und Johannis des Evangeliſten.

Vicke v. Oertzen ſegnete in frühen Jahren das Irdiſche; er ſtarb ſchon im J. 1465. Am 15. April 1465 war er ſchon todt, als ſeine Wittwe für ihren Sohn handelnd auftrat, er ſtarb alſo im erſten Viertheil des Jahres 1465. Er ward in der Kirche zu Alt-Gaarz begraben, in welcher vor dem Altare noch der in einer Abbildung hier beigegebene Leichenſtein auf ſeinem und ſeiner Gemahlin Grabe liegt. Der Stein enthält zwei in Linienmanier und guter Arbeit eingegrabene Figuren, rechts die Figur eines ganz geharniſchten ritterlichen Mannes, der die rechte Hand auf ein Schwert ſtützt und mit der linken Hand den Wappenſchild der v. Oertzen hält, links die Figur einer Frau, zu deren Füßen der Schild der v. Stralendorf ſteht; die Umſchrift lautet:

**Anno . domini . m . cccc . lxv . |**
**iar . done . ſtarf . de . edelgheboren . ☐**
**vicke . van . | oerſſen . un . alhept . ſyne . |**
**huſſrouwe . dat . en . got . gnedich . un .**
**barmhartich .**

**sz .**

(Vgl. Jahrb. X, S. 312). Vielleicht ward dieſer Leichenſtein ſchon bei Lebezeiten Vicke's angefertigt; die Lücke, welche ſich vor dem Namen **vicke** befindet, iſt wahrſcheinlich leer geblieben, um noch das Wort **her** einfügen zu können, falls Vicke noch Ritter geworden wäre, was jedoch nicht geſchah. Daher fehlt auch wohl der Sterbetag, da auch das Sterbejahr nach ſeinem Tode nachgetragen iſt. Ob auch ſeine Gemahlin noch in dem Jahre 1465 geſtorben ſei, läßt ſich nicht

Grab des Knappen Vicke III von Oertzen
auf Wustrow
und seiner Gemahlin Adelheid von Stralendorf
in der Kirche zu Alt-Gaarz.

†1465 †1465



Gez. v. C. Schumacher. J. H. Tredemann's Hof. Steindr. Berlin.

Zur Geschichte des Geschlechts von Oertzen Thl. II Taf. 2.

ermitteln; wahrscheinlich ist ihr Name auf dem Leichensteine nur genannt, um im Allgemeinen ihre Ruhestätte anzudeuten.

Die Gemahlin des Vicke III. v. Oertzen war Adelheid geborne v. Stralendorf. Dies geht nicht allein aus dem Leichensteine hervor, auf welchem ihr Name und Wappen angegeben ist, sondern auch aus einer Urkunde vom 15. April 1465, durch welche „Adelheid v. Oertzen, Vicke's v. Oertzen „nachgelassene Wittwe, für ihren Sohn Mathias auf Wustrow, „unter Bewilligung des Vormundes desselben, Burchards v. „Oertzen", wahrscheinlich seines Oheims, der Kirche zu Alt-Gaarz 3½ lüb. Mark Hebungen aus Wustrow verpfändete [CCXLVII]. Adelheid v. Stralendorf stammte aus der Linie Kl. Krankow. Noch im Anfange des 16. Jahrhunderts lag Mathias v. Oertzen (auf Wustrow) mit Jaspar v. Stralendorf (auf Kl. Krankow) im Streit über die Erbschaft von 100 Mark, welche seiner verstorbenen Mutter, einer Tante (hier im Allgemeinen „vedderke" genannt) Jaspars v. Stralendorf, und auch seinem Vater Vicke v. Oertzen aus den stralendorfschen Gütern verpfändet waren; am 20. Jan. 1509 verglichen die Herzoge Heinrich und Albrecht die Sache dahin, daß Mathias v. Oertzen von der streitigen Summe dem Jaspar v. Stralendorf die Hälfte überlassen sollte (vgl unten) [CCCXLI].

Vicke III. v. Oertzen auf Wustrow hinterließ nur einen Sohn Mathias II., den spätern viel genannten Ritter. Er war bei seines Vaters Tode noch unmündig und sehr jung und stand unter Vormundschaft seiner Mutter und seines muthmaßlichen Oheims Burchard (vgl. den folgenden §). Er wird im J. 1487 zuerst genannt, mag also bei seines Vaters Tode erst einige Jahre alt gewesen sein. Da er noch im J. 1545 aufgeführt wird, so wird er über 80 Jahre alt geworden sein.

## IX. 17. Mathias II.

## 15.
## Burchard, Knappe.
### 1458—1522.

§. 113. G. VIII.

Neben Vicke III. auf Wustrow wirkend und lebend und in nahen Beziehungen zu ihm stehend, erscheint Burchard v. Oertzen, welcher ein Sohn des Mathias I und ein Bruder des Vicke III. gewesen sein muß, obgleich er nirgends als solcher genannt wird; es wird dies um so wahrscheinlicher, als er neben Vicke III. auf Wustrow wohnte und demselben im Besitze dieses Gutes folgte, namentlich so lange bis Vicke's Sohn Mathias II., dessen Vormund er auch war, noch in der Minderjährigkeit lebte. Er darf übrigens nicht mit Burchard v. Oertzen auf Clausdorf (1411—1446) verwechselt werden, da dieser lange vor jenem lebte.

Burchard v. Oertzen scheint kein guter Haushalter gewesen zu sein; denn durch ihn ward sicher Wustrow verpfändet und unter ihm kommen auch die gammeliner Güter, nachdem das ältere Haus Gammelin ausgestorben war, durch Verpfändung auf längere Zeit in fremde Hände. Burchard ist daher für die Geschichte der Familie von großer Bedeutung.

Burchard v. Oertzen erscheint zuerst sicher am 26. März 1458 und läßt sich auf den Gütern der Linie Gammelin-Wustrow bis in das Jahr 1474 verfolgen; der bis zum J. 1446 vorkommende Burchard ist immer Burchard auf Clausdorf.

Als am 26 März 1458 Antonius v. Schönfeld auf Schönfeld mit Bewilligung seiner Brüder Mathias und Hans der Nicolai-Kirche zu Wismar 4 lüb. Mark Renten aus dem Dorfe Wischendorf verpfändete, bezeugte „Burchard v. Oertzen, „wohnhaft zu Wustrow", seine Mitwissenschaft durch Anhängung seines Siegels [CCXXV]. Dies ist dasselbe Siegel, welches er noch am 18. Januar 1474 und auch am 1. Januar 1464 führte, mit der Umschrift: **s. borchart van orssen.** Die v. Schönfeld, deren Besitzungen an Cramonshagen grenzten, waren sicher mit den v. Oertzen von der gammeliner Linie nahe verwandt (vgl. oben S. 186). Dies geht vorzüglich daraus hervor, daß Burchard v. Oertzen lange Zeit hindurch in

sehr verschiedenen Zeiträumen durch Anhängung seines Siegels seine Zustimmung gab, wenn die v. Schönfeld aus ihren Gütern Pächte verpfändeten. Als am 1. Januar 1464 die Brüder Mathias und Hans v. Schönfeld auf Schönfeld 7 lüb. Mark Pacht aus Moltena in dem Kirchspiele zu Mühlen-Eixen an den Mindern Kaland zu Wismar verpfändeten, gab Burchard v. Oertzen zum Zeugnisse seiner Mitwissenschaft seine Zustimmung durch Anhängung seines Siegels in derselben Formel, wie am 26. März 1458 [CCXLI], und als am 19. Januar 1474 Mathias v. Schönfeld den Domherren und Vikaren zu Schwerin 6 lüb. Mark Pacht aus dem Dorfe Seefeld im Kirchspiele Eixen verpfändete, leisteten Burchard v. Oertzen, Jürgen Raben auf Stük und Hans v. Schönfeld auf Schönfeld Bürgschaft unter Anhängung ihrer Siegel [CCLXXV].

Burchard v. Oertzen wohnte zuerst neben seinem muthmaßlichen Bruder Vicke III. auf dem Gute Wustrow. Bald aber traten für die gammeliner Linie höchst wichtige Ereignisse ein. Im ersten Viertheile des J. 1465 starb Vicke III. in jungen Jahren und hinterließ eine Wittwe und einen unmündigen, sehr jungen Sohn, den nachmaligen Ritter Mathias v. Oertzen. Burchard war Vormund für seinen jungen Neffen Mathias. Gleich nach Vicke's Tode verpfändeten am 15. April 1465 dessen Wittwe Adelheid, geb. v. Stralendorf, für ihren Sohn Mathias, und Burchard v. Oertzen, Vormund desselben, der Kirche zu Alt-Gaarz 3½ lüb. Mark Hebungen aus Wustrow [CCXLVII]. Da Vicke's Wittwe auch in demselben Jahre 1465 oder doch wohl nicht lange darnach starb, so war Burchard der einzige Verwalter des Gutes Wustrow. Nach einem Berichte des Pfarrers Johann Lüderstorf zu Alt-Gaarz vom J. 1516 hatte Burchard v. Oertzen sich veranlaßt gesehen, das Gut Wustrow zu verpfänden [CCCLIX]. Jedoch wußte sein Neffe Mathias es möglich zu machen, daß er mit Erlangung seiner Volljährigkeit das Gut in ganzer Vollständigkeit wieder in seinen Besitz brachte. Mathias erscheint sicher schon im J. 1492 als Besitzer des Gutes Wustrow.

Am 11. Nov. 1470 war Burchard v. Oertzen vielleicht ohne Güterbesitz, als er mit vielen Edelleuten, von denen ihm

gewiß mehrere verwandt waren, für den Herzog Heinrich von Meklenburg für eine Schuld von 1400 Mark in Bürgschaft ging [CCLXIII], woraus hervorgeht, daß er doch Vermögen besaß.

Bald gestalteten sich die Verhältnisse für Burchard günstiger, indem das ältere Haus Gammelin ausstarb, da die Kinder seines Vaterbruders Nicolaus I. ohne männliche Leibeserben mit Tode abgingen Der als Sohn des Nicolaus I. ausdrücklich bezeichnete Nicolaus II. v. Oertzen wird im J. 1454 zuletzt genannt und Ulrich v. Oertzen, der wahrscheinlich auch ein Sohn des Nicolaus I. war, kommt nur ein Mal vor, als er am 27. Aug. 1471 seinen Wohnsitz zu Melkhof verkaufte, nachdem er in die Stadt Wittenburg gezogen war. Nach dieser Zeit ist von Mitgliedern des Hauses Gammelin nirgends die Rede, sondern das Haus Wustrow erscheint in der ersten Hälfte des 16. Jahrhunderts im Besitze aller gammeliner Güter. Es muß daher das Haus Gammelin sehr bald nach dem Jahre 1471 ausgestorben sein, da Burchard v. Oertzen schon am 18. Januar 1474 als Besitzer von Gammelin erscheint.

Als nämlich am 18. Jan. 1474 Mathias v. Schönfeld den Domherren und Vikaren zu Schwerin 6 lüb. Mark Pacht aus dem Dorfe Seefeld verpfändete, war Burchard v. Oertzen Bürge dieser Verschreibung und bezeichnet sich dabei ausdrücklich als zu Gammelin wohnhaft. Dies ist zugleich das letzte Mal, daß Burchard v. Oertzen auf den gammeliner Gütern genannt wird.

Aber auch die gammeliner Güter wird Burchard v. Oertzen verpfändet haben, da sie bald nach ihm im Besitze verschiedener Pfandinhaber erscheinen Im J. 1492 nennt z. B. der Knappe Reimar v. Blücher auf Preten im Lauenburgischen die Güter Gammelin, Schoffin, Mühlenbek und die Rothe Mühle mit dem Rothen Kruge „seine Güter" [CCCVII]; im J. 1494 verpfändete „Reimar v. Blücher, wohn„haft zu Gammelin", dem Dom-Capitel zu Schwerin 9 lüb. Mark jährlicher Pacht aus „seinem Dorfe Mühlen„bek" und noch am 29. Junii 1500 nennt er sich „zu Gam„melin wohnhaft", als er für Ulrich v. Penz für eine Ver-

pfändung von 6 Mark aus Scharbow an die Kirche zu Wittenburg in Bürgschaft trat. Darauf werden die v Penz auf Quast und Raguth als Besitzer von Gammelin genannt. In den Roßdienstregistern von 1506 werden „die Pentzen zu Gam„melin" und von 1521 „Curd und Henneke Pentze zu Gam„melin" und unter den Schuldnern der lübeker Geistlichkeit ungefähr vom J. 1512 „alle Pentzen zu Gammelin, Quast „und Raguth" aufgeführt. In demselben Register wird „Deth„lof Preen (?) zu Schossin" genannt. Der Ritter Mathias II v. Oertzen löste jedoch diese Güter wieder ein, wie er Wustrow wieder in seinen Besitz brachte. In dem Erbvertrage vom 2. Febr. 1530 wird gradezu gesagt, daß noch Gelder schuldig seien, „womit Gammelin eingelöset" sei. Im J. 1530 nennt sich „Mathias v. Oertzen Ritter, wohn„haft zu Gammelin", und seitdem wird er in den Roßdienstregistern wiederholt als Besitzer von Gammelin aufgeführt.

Burchard v. Oertzen wird sehr alt geworden sein. Er erscheint nämlich in der Folge auf einem ganz andern Schauplatze: in dem Lande Stargard. Nachdem er die gammeliner Güter verpfändet und sein Neffe Mathias auf Wustrow Volljährigkeit und Selbstständigkeit erreicht hatte, ereignete es sich daß Hermann v. Oertzen auf Helpte, aus einem jüngern Hause im Lande Stargard, ohne männliche Leibeslehnserben starb. Alles dies wird in der Zeit von 1490 bis 1500, ungefähr um das Jahr 1496, geschehen sein. Durch jetzt unbekannte Familienverhältnisse wird nun Burchard v. Oertzen um diese Zeit in den Besitz des Gutes Helpte im Lande Stargard, welches noch nicht sehr lange der Familie v. Oertzen gehörte, gekommen sein. Vielleicht war dies auch die Veranlassung, daß Burchard die gammeliner Güter um jene Zeit verpfändete. Es kann wohl kein anderer Burchard gewesen sein, welcher im Anfange des 16. Jahrhunderts Besitzer von Helpte war, als der hier besprochene Burchard von Wustrow. Dies wird denn auch durch mehrere urkundliche Zeugnisse sehr wahrscheinlich gemacht. In einem Processe zwischen mehreren Gliedern der v. örtzenschen Familie über den Besitz des Gutes Helpte wird in den Zeu-

genverhören bezeugt, daß Burchards Sohn Bernd „aus dem „rostocker Orte gebürtig" sei:

„Sagt Zeuge, daß er von Oswald v. Dohren seligen „weitläuftig gehöret, daß Bernt von Oertzen von „den Oertzen aus dem rostocker Orte bürtig „sein solle [CCCLXVII].

Am 26. April 1522 verschrieb Mathias v. Oertzen auf Wustrow der S. Annen-Brüderschaft zu Alt-Gaarz 100 Mark Capital aus Wustrow mit Bewilligung

„seiner nächsten Erben: Burchards v. Oertzen „auf Helpte mit sammt seinen Söhnen Bernd „und Marcus" [CCCLXIX],

und als Burchard v. Oertzen mit seinen Söhnen Bernd und Marcus, auf Helpte, am 14. Nov. 1521 den Kirchen zu Neu-Brandenburg 42 Gulden Pacht aus Helpte verpfändete, nannte er

„den Mathias von Oertzen zu Wustrow und die „von Oertzen auf Roggow seine nächsten Vettern „[CCCLXVI],

und nicht die v. Oertzen im Lande Stargard. Als die Vettern Mathias v. Oertzen, Ritter, auf Wustrow, Lippold und seines Bruders Jaspar Kinder auf Roggow und Burchards Söhne Bernd und Marcus auf Helpte am 2. Febr 1530 eine Erbverbrüderung schlossen, ward bestimmt, daß, wenn der Ritter Mathias v. Oertzen ohne Leibeslehnserben sterben würde, die Brüder Bernd und Marcus v. Oertzen auf Helpte von seinen Gütern den Cramonshagen und das halbe Dorf Gr. Eixen erben sollten [CCCLXXXI]. Dies ist also ein sicherer Beweis, daß Burchard und seine Söhne den v. Oertzen in den meklenburg-schwerinschen Landen sehr nahe standen und viel näher als die Glieder der stargardischen Linie, von denen in dem Vertrage gar nicht die Rede ist, obgleich die Linie bestand. Burchards v. Oertzen Sohn Bernd war „der letzte Lehnsinhaber von Helpte" aus dieser Linie; obgleich dieser das Gut Helpte an Jacob v. Oertzen von der stargardischen Linie 1545 verpfändete und 1554 unter Beobachtung aller Rechtsformen ver-

kaufte, so betrachteten sich nach der Urkunde vom 22. April 1585 [CCCCXIV] doch die v. Oertzen von der Linie Gammelin, die Söhne des Ritters Mathias, als die nächsten Agnaten und wahren Besitzer des Gutes und brachten dasselbe mit in die Theilung, obgleich es von den stargardischen Vettern noch zu erstreiten war. Ein deshalb von 1588—1597 geführter Reluitions-Proceß blieb jedoch ohne Erfolg.

Aus allen diesen Gründen wird es wohl mit Sicherheit hervorgehen, daß Burchard v. Oertzen auf Helpte aus der gammeliner Linie stammte und derselbe Burchard war, welcher früher auf Gammelin saß.

Das Leben Burchards v. Oertzen auf Gammelin läßt sich auch aus den Urkunden klar verfolgen. Er wird zuerst am 26. Nov. 1496 im Lande Stargard genannt, als die Herzoge Magnus und Balthasar von Meklenburg mehreren Bürgern zu Pasewalk die Schäden vergüteten, welche ihnen von mehreren stargardischen Vasallen, unter denen auch „Burchard v. Oertzen" genannt wird, zugefügt worden waren [CCCXIV]. Am 5. Oct. 1501 war er, „Burchard v. Oertzen", Zeuge, als Zacharias v. Oertzen aus dem stargardischen Hause Hinrichshagen, zu Strasburg wohnhaft, dem Marquard Behr ein Drittheil von Hinrichshagen verpfändete [CCCXX]. Am 14. Jan. 1506 wird er ganz klar bezeichnet, indem in der Sitzung des Hofgerichts bezeugt wird, daß Burchard v. Oertzen seinen Wohnhof zu Helpte mit aller Zubehörung an Hasse v. Blankenburg für 1300 Gulden verpfändet habe [CCCXXVIII]. Um das J. 1510 war Burchard v Oertzen in manche Klagen verwickelt. So z. B. hatte er einem Bürger zu Friedland auf eine bestimmte Zeit ein Pferd verpfändet, welches dieser wieder verkauft hatte und Burchard v. Oertzen gerichtlich zurückforderte [CCCXLIII]. Ferner nahm er 10 Mark Pacht aus Clausdorf, welche wahrscheinlich aus einem Bauerhofe von der Pertinenz Garwensdorf fällig waren, von Otto Overberg auf Steinhagen in Anspruch, dem dieser Antheil verpfändet war [CCCXLII und CCCXLIII]. Endlich war er wegen der Heirathsbesserung seiner Frau mit Mathias v. Oertzen auf Wustrow in gerichtlicher Rechtfertigung (vgl. am Schluß).

Zuletzt erscheint Burchard v. Oertzen in den Jahren 1521 und 1522. Am 14. Nov. 1521 verpfändete er mit seinen Söhnen Bernd und Marcus unter Zustimmung seiner nächsten Vettern Mathias v. Oertzen auf Wustrow und Jaspar und Lippold auf Roggow den Vorstehern der Gotteshäuser zu Neu-Brandenburg 42 Gulden jährlicher Hufenpacht aus den Bauerhufen seines Gutes Helpte [CCCLXVI] und am 26. April 1522 gab er, „Burchard v. Oertzen, wohnhaft zu Helpte, mit „sammt seinen Söhnen Bernd und Marcus" seine Zustimmung, als Mathias v. Oertzen auf Wustrow von der S. Annen-Brüderschaft zu Alt-Gaarz 100 Mark Capital aus Wustrow auflieh [CCCLXIX]. Nach dieser Zeit wird er nicht mehr genannt und im J. 1530 kommen seine Söhne als Besitzer von Helpte vor. Er wird sicher über 70 Jahre alt geworden sein.

Burchard v. Oertzen muß nach den vorliegenden Urkunden zwei Male vermählt gewesen sein. Er hatte im J. 1521 sicher zwei mündige Söhne: Bernd und Marcus. Daneben wird aber im J. 1510 gesagt, daß seine damalige Frau, des Jacob v. Weltzin Mutter, „nicht beerbt" sei. Man muß daher annehmen, daß er vor dieser Ehe eine Frau gehabt habe, welche die Mutter seiner Söhne war.

Seine erste Gemahlin ist nicht bekannt geworden.

Seine zweite Gemahlin war vorher an einen v. Weltzin verheirathet gewesen. In gerichtlichen Verhandlungen vom J. 1510 [CCCXXXII] wird ausdrücklich Burchards v. Oertzen Hausfrau eines Jacob v. Weltzin Mutter genannt. Nach den Stammbäumen der v. weltzinschen Familie war Jacob v. Weltzin ein Sohn des Joachim v. Weltzin auf Samit (?), welcher eine v. Wooften zur Frau hatte. Diese zweite Ehe Burchards v. Oertzen war kinderlos; es wird im Jan. 1510 bestimmt gesagt, daß Burchards v. Oertzen Hausfrau „nicht beerbt" sei. Daher forderte Mathias II. v. Oertzen auf Wustrow die „Besserung" der Morgengabe der Ehefrau Burchards zurück. Jacob v. Weltzin klagte hierauf gegen Mathias v. Oertzen, das herzogliche Hofgericht entschied aber am 18. Jan. 1510 zu Gunsten des letztern [CCCXXXIII].

Die Söhne Burchards v. Oertzen, zuletzt auf Helpte wohnhaft, waren also:

IX. 18. Bernd. 19. Marcus.

16.

## Leneke,

Nonne des Klosters Rehna.

1500.

§. 114. G. VIII.

Um das Jahr 1500, zu der Zeit, als die Herzogin Elisabeth von Meklenburg-Stargard Priorin des Klosters Rehna war, lebte in diesem Kloster als Nonne Leneke v. Oertzen, welche um das J. 1500 als die dritte Nonne des Klosters dem Alter nach aufgeführt ist, also damals zu den älteren Nonnen des Klosters gehörte (vgl. Jahrb. XV, S. 302). Ohne Zweifel lebte sie auch schon unter der Priorin Elisabeth v. Oertzen (1479—1489) in dem Kloster. Aus welchem Hause der Familie v. Oertzen sie stammte, läßt sich nicht bestimmen; vielleicht gehört sie auch der gammeliner Linie an und war ihrer Verwandten Elisabeth in das Kloster gefolgt.

17.

## Mathias II., Ritter.

1465—1549.

§. 115. G. IX.

Mathias II. v. Oertzen auf Wustrow ist ein für die Geschichte nicht allein seiner Familie, sondern auch des Landes

sehr bedeutender und einflußreicher Mann, der zu den geschichtlichen Personen der vaterländischen Geschichte gezählt werden muß. Mathias II. war der einzige Sohn des Landraths Vicke III. auf Wustrow und der Adelheid v. Stralendorf. Der Vater starb früh, im Jahre 1465 (vgl. oben S. 196), und der junge Sohn stand lange unter der Vormundschaft seines Oheims Burchard (vgl. Nr. 15, S. 199) und seiner Mutter [CCXLVII]. Mathias wird bei seines Vaters Tode kaum einige Jahre alt gewesen sein. Da er zuerst im J. 1465 und zuletzt im J. 1549 genannt wird, so lebte er wenigstens 84 Jahre; daher wird es gerathen sein, anzunehmen, daß er bei seines Vaters Tode noch sehr jung war. Als er am 16. Nov. 1487, also 22 Jahre nach dem Tode seines Vaters, auftrat, wird er wohl erst einige Jahre vorher seine Volljährigkeit erreicht haben; zu jener Zeit scheint in den adeligen Häusern, wie in den fürstlichen, die Volljährigkeit mit dem vollendeten 18. Lebensjahre eingetreten zu sein (vgl. Jahrb. VII, S. 12 flgd.) Ein gleiches Beispiel giebt in der v. örtzenschen Familiengeschichte der gleichzeitige Jacob I. auf Helpte, welcher ebenfalls schon mit 20 Jahren selbstständig handelte. Wenn man nun auch annimmt, daß Mathias 90 Jahre alt geworden sei, so wird er bei seines Vaters Tode erst 6 Jahre alt gewesen sein.

Mathias erscheint zuerst am 16. Nov. 1487, als er für die Herzoge Magnus und Balthasar als Bürge eintrat [CCXCV] und die Urkunde mit seinem Siegel mitbesiegelte. Seine Mutter war auch früh gestorben und sein Oheim Burchard war eine Zeit lang alleiniger Verwalter des Gutes Wustrow. Burchard v. Oertzen wird aber ein schlechter Wirthschafter gewesen sein, da der Pfarrer Johann Lüderstorf zu Alt-Gaarz im J. 1516 [CCCLIX] berichtet, daß er das Gut Wustrow verpfändet habe. Mathias v. Oertzen machte es aber möglich, das Gut wieder einzulösen und erscheint sicher schon am 17. Nov. 1492 als zu Wustrow wohnhaft [CCCVII]. Hier blieb er auch wohnen und brachte das Gut durch seinen Ruf zu einem ehrenvollen Namen. Seit dem Hervortreten des Gutes Wustrow als Hauptwohnsitz tritt die Gütergruppe

Cramonshagen in den Hintergrund, da das Gut keinen v. örtzenschen Wohnsitz mehr bildete.

Ungefähr mit der Volljährigkeit des Mathias traf es zusammen, daß das Haus Gammelin ausstarb und die Güter an das Haus Wustrow fielen. Burchard nahm also die gammeliner Güter an und erscheint schon am 16. Jan. 1474 zu Gammelin [CCLXXIV]. Aber auch die gammeliner Güter verpfändete Burchard; schon im J. 1492 war Reimar v. Blücher im Pfandbesitze der Güter Gammelin, Schossin, Mühlenbek, Rothe Mühle und Rothe Krug [CCCVII]. Von Reimar v. Blücher gingen die Güter theils auf die v. Penz, theils auf die v. Preen (?) über, bis Mathias v. Oertzen gegen das J. 1530 die Güter wieder einlöste.

Burchard v. Oertzen ging nun in das Land Stargard und erwarb hier um das J. 1496, also bald nach der Verpfändung der gammeliner Güter, wir wissen nicht aus welchen Familienverhältnissen, das Gut Helpte, welches erst in der Mitte des 15. Jahrh. durch die Familie v. Oertzen erworben war. Sein Sohn Bernd verkaufte dieses Gut jedoch im J. 1554 an Jacob v. Oertzen von der stargardischen Linie, der es zum Hauptgute dieser Linie machte, welche von da an den Namen der helpter Linie erhielt.

Mathias v. Oertzen aber schritt zum Wohle seiner Familie kräftig vorwärts. Er wird am 17. Nov. 1492 zuerst als auf Wustrow wohnhaft bezeichnet, als er für Reimar v. Blücher bei einer Verpfändung aus den gammeliner Gütern als Bürge eintrat [CCCVII]. Am 8. Nov. 1494 verpfändete er für eine Anleihe von 500 Mark 31 Mark jährlicher Pacht aus einigen Bauerhöfen des Gutes Wustrow [CCCXI] und am 20. Jan. 1496 war er Zeuge für eine Verpfändung aus Strömkendorf durch Hermann v. d. Lühe auf Pantzow [CCCXIII].

Im J. 1500 war auch Mathias v. Oertzen mit 4 Pferden in dem Ehrengeleite aus der Ritterschaft, welches die meklenburgische Herzogin Sophie zur Vermählung mit dem nachmaligen Kurfürsten Johann dem Standhaften von Sachsen nach Torgau begleitete, wo am 1. März die Hochzeit mit un-

glaublicher Pracht gefeiert ward (vgl. Lisch Maltzan. Urk. IV, S. 309).

Am 6. Julii 1502 verpfändete Mathias v. Oertzen auf Wustrow der Frau Beate v. d. Lühe, des weiland Ritters Heinrich v. d. Lühe auf Buschmühlen Wittwe, 17½ Mark lüb. jährlicher Pacht aus dem Dorfe Gr. Eixen, welche zu den „sieben Großen Marien-Zeiten" gelegt wurden, welche der Ritter Heinrich v. d. Lühe und seine Frau am Sonntage Jubilate 1500 in der Marienkirche zu Wismar gestiftet hatten und welche oft genannt sind [CCCXXII]. Als Hardenack v. Bibow auf Westenbrügge am 14. Jan 1503 diesen Marien-Zeiten ebenfalls 24 lüb Mark aus dem Dorfe Blengow verpfändete, welche Beate v. d. Lühe zur Bekleidung von zwölf Armen jährlich am Grünen Donnerstage bestimmte, war Mathias v. Oertzen Zeuge dieser Verpfändung [CCCXXIV]. Mathias v. Oertzen wird mit den v. d. Lühe verwandt gewesen sein, da er und Burchard v. d. Lühe am 4. Oct. 1514 Ansprüche an ihr „beiderseits mütterliches Erbe" machten [CCCLIV; vgl. CCCXXX].

In der Kraft seiner Jahre ward Mathias v. Oertzen durch das Vertrauen der Fürsten und der Stände des Landes zu der Stelle eines Landraths berufen, welcher er in schwierigen Zeiten und unter verwickelten Verhältnissen mit Kraft und ohne Vorurtheil vorstand. Er wird schon am 28. Mai 1508 „Rath" genannt (CCCXXXV] und kommt als solcher sicher am 9. Dec. 1514 vor [CCCLV]; im J. 1518 war er noch der jüngste unter den Landräthen (vgl. Lisch Maltzan. Urk. IV, S. 470 flgd.), jedoch war er schon am 12 März 1518 zu Plau Vorsitzer im herzoglichen Hofgerichte.

Um diese Zeit kommen mehrere kleinere Veränderungen im Besitzstande vor. Nachdem die Herzoge im J. 1508 den See von Mühlen-Eixen an die Johanniter-Priorei Eixen wiederkäuflich verkauft hatten [CCCXXXIV, CCCXXXV], verpfändete Mathias v. Oertzen am 24. Nov. 1508 für 1000 Gulden seinen ganzen Lehnsbesitz in Gr. Eixen, nämlich die Hälfte des Gutes, mit einem freien Lehnhofe, sieben freien Bauerhufen, drei Kossaten u. s. w., an die Johanniter-Priorei

zu Gr. Eixen, welcher die andere Hälfte des Gutes gehörte [CCCXXXVIII]. Dagegen erwarb er auch Rechte, z. B. am 18. Junii 1510 durch Cession eine Forderung von 200 Mark lübisch aus dem Dorfe Rugensee [CCCXLIV].

Zur Vermählung der Herzogin Katharine mit dem Herzoge Heinrich von Sachsen-Freiberg zu Torgau am 5. Julii 1512 waren unter den 40 Edelleuten, welche zum Ehrengeleite aufgeboten waren, auch Mathias v. Oertzen und seine Vettern Jaspar und Lippold von Roggow.

Bei der Vermählung des Herzogs Heinrich des Friedfertigen von Meklenburg mit der Prinzessin Helena von der Pfalz war Mathias v. Oertzen mit 4 Pferden unter den geladenen Gästen zu der glänzenden Hochzeitsfeier zu Wismar am 5. Junii 1513 und neben seinen Vettern Jaspar und Lippold aus dem Hause Roggow sowohl zu dem Festturnier, als zu einem Nachturnier geladen (vgl. Lisch Maltzan. Urk. IV, S. 422, 428, 431).

Am 9. Dec. 1514 verliehen ihm die Herzoge die Gerechtigkeit, eine Windmühle auf Wustrow zu bauen [CCCLV].

Bei dem wichtigen Werke der Union, welche die meklenburgischen Landstände („Prälaten, Manne und Städte") am 1. Aug. 1523 schlossen, war Mathias einer von den Bevollmächtigten der Ritterschaft („vulmechtiger bevelhebber aller manschop"), welche die Union besiegelten und welche dieselbe ohne Zweifel zu Stande gebracht hatten; auch war er neben dem Ritter Claus v. Lützow, Dethlev v. Bülow und Henneke v. Plessen von wegen der Ritterschaft des Landes Meklenburg in dem Rathe, welcher zur Aufrechthaltung des Rechts von den Landständen eingesetzt worden war.

In einer so hervorragenden Stellung widerfuhr dem Mathias v. Oertzen eine Ehre, welche zu seiner Zeit höchst selten war und wegen des einzigen Falles eine geschichtliche Merkwürdigkeit ist. Mathias v. Oertzen nahm im J. 1524 den Ritterstand an und war der letzte Ritter Meklenburgs, welcher in diesen Stand erhoben ist. Der Ritterstand war im 13. Jahrh. äußerst häufig, wird aber immer

seltener, bis im Anfange des 16. Jahrhunderts in den einzelnen Ländern Deutschlands nur wenige Männer leben, welche diese Würde tragen, mit deren Tode um die Mitte des 16. Jahrh. diese Auszeichnung ganz aufhört. Einer der letzten Ritter aus dem Ende des 15. Jahrh. war der gewaltige Bernd Maltzan auf Wolde und Penzlin, welcher die Ritterwürde um das Jahr 1487 erwarb. Sein noch berühmterer Sohn, der erste Freiherr Joachim Maltzan erwarb die Ritterwürde im J. 1515 auf dem Schlachtfelde von Marignano, war aber nur am Ende seines Lebens in Meklenburg. In den ersten Zeiten waren mit Bernd Maltzan noch gleichzeitig die Ritter Mathias v. Bülow auf Pokrent, Claus Hahn auf Basedow, Heinrich v. Plessen auf Brüel und Heinrich v. d. Lühe auf Buschmühlen, welche in dem ersten Viertheil des 16. Jahrhunderts starben. Im ersten Viertheil des 16. Jahrhunderts nahmen nun noch drei Vasallen in Meklenburg die Ritterwürde an, und diese waren die letzten meklenburgischen Ritter; ein günstiger Zufall hat es gewollt, daß über diese drei Annahmen allein Nachrichten vorhanden sind. Von allen dreien wird gesagt, daß sie auf Wunsch und zu Gefallen der Herzoge die Ritterwürde angenommen haben, und alle drei erhalten für die ehrenvolle Führung des Ritterstandes eine Vergütung von den Herzogen. Diese drei Ritter sind: Henning v. Halberstadt auf Camptz, Claus v. Lützow auf Eickhof und Mathias v. Oertzen auf Wustrow. Am Mittwoch nach Michaelis 1504 gaben die Herzoge Balthasar und Heinrich dem Henning v. Halberstadt auf Camptze, „der up unse begere und uns „tho gefallen ritterstandt tho füren angenamen, darmit he „solcken ritterstandt deste erliker furen und erholden „möge, ok siner denste in guetliker erstatinge", jährlich 100 gute Mark aus der fürstlichen Kammer, bis er mit dem ersten eröffneten, noch nicht vergebenen Lehnsangefälle versehen werden könne. Am Tage Antonii 1505 gaben die Herzoge Balthasar und Heinrich ihrem „Rath, Marschall und Ritter" Claus v. Lützow, damit er „den ritterstandt, den he uns „tho gevallen angenamen hefft, deste statliker und erliker „holden und fören möchte, und ock alse erfmarschalck

„unses hertogdomes Mekelnborch in unsen landen mit „behusinge versorget were", das herzogliche Haus und die Vogtei Eickhof, welches noch kurz vorher die v. Bibow besessen hatten, zunächst erblich auf drei Geschlechter, sich jedoch den Wiederkauf vorbehaltend; hierauf gründet sich der Besitz von Eickhof durch die meklenburgische Landmarschallslinie v. Lützow.

Im J. 1525 hatte der Rath Mathias v. Oertzen auf Wustrow den Herzogen „zu besonderem Gefallen den ritter„lichen Stand angenommen". Deshalb und um seiner getreuen Dienste willen belehnte ihn und seine rechten Leibeserben der Herzog Albrecht am Montage nach Cantate (25. April) 1524 mit der Hälfte des Lehngutes Scharfstorf und dem dazu gehörenden Dorfe Beidendorf [CCCLXX], als mit einem „rechten Gnadenlehn", nach „Mannlehns Recht und Gewohnheit". Das Gut war nach einem Berichte nur ein „geringes Gut"; „Scharfstorf war nur 1 bloßer Hof, Beidendorf 1 schlechte „Mühle, 1½ Pflugdienste und 4 Cossaten, auf die Hälfte, so „daß sich damit einer nicht behelfen könne". Das Lehngut Scharfstorf (R. A. Grevismühlen) war das alte Lehn der alten adeligen Familie v. Lohe oder Loo. Diese Familie war mit dem letzten des Geschlechts Johann v. Lohe im Mannesstamme ausgestorben und ihr Lehn den Herzogen heimgefallen; Johann v. Lohe hatte eine Wittwe Ilsabe und zwei Töchter Anna und Ilse hinterlassen, welche das Erbjungfernrecht für ihre Lebenszeit an den Gütern besaßen [CCCCXVIII]. Am Sonntage Jubilate (22. April) 1526 gab nun der Herzog Heinrich dem Cord v. Bülow auf Plüskow, welcher die ältere der v. loheschen Töchter Anna heirathen wollte, die ihm angefallene Hälfte von Scharfstorf m. Z. Die andere Hälfte hatte der Herzog Albrecht am 25. April 1524 dem Ritter Mathias v. Oertzen zur Führung des Ritterstandes gegeben. Der Besitz der Wittwe und der Töchter des Johann v. Lohe legten aber dem Genuß dieser Lehngüter mannigfache Hindernisse in den Weg. Cord v. Bülow brachte seinen Theil an sich, und am Donnerstag nach Quasimodogeniti 1526 ward ein weitläuftiger Vergleich über die Abfindung der Wittwe und die Aussteuer der Töchter errichtet. Mathias v. Oertzen be-

willigte diesen Vergleich und versprach, bei der Befreiung der Ansprüche der Nachkommen Johanns v. Lohe dem Cord v. Bülow das zu erstatten, was er erweislich für die Güter ausgelegt habe. Anna v. Bülow, geborne v. Lohe, starb erst im J. 1595. Ilse v. Lohe, die jüngere Erbtochter, ward an Dinnies v. Pressentin verheirathet, welche als dessen Wittwe noch im J. 1595 als die letzte ihres Geschlechts ihre Schwester überlebte. Mathias v. Oertzen kam also nicht zum Besitze der ihm verschriebenen Hälfte von Scharfstorf, da ihn die v. loheschen Erbtöchter überlebten. Bald nach dem J. 1577 verkauften nun des Ritters Mathias v. Oertzen Söhne Joachim und Vicke ihren Antheil an Cords v. Bülow Sohn Paul, welcher nach dem Tode der Ilse v. Pressentin nach dem J. 1595 die v. örtzensche Hälfte des Gutes an sich nahm.

Die v. Lohe führten im Schilde nur ein Kammrad. Wenn v. Gamm angiebt, daß dieses Rad im Schilde und auf dem Helme zwischen zwei geharnischten Armen gestanden habe, und man hieraus einen Schluß auf die Familienverbindung zwischen den v. Oertzen und v. Lohe ziehen wollte, so ist dies nicht statthaft, da auf v. loheschen Originalsiegeln die Arme fehlen.

Mathias v. Oertzen war also der letzte Ritter in Meklenburg, welcher die Ritterwürde annahm. Er starb um das J. 1550. Nach seinem Tode kam der Freiherr Ritter Joachim Maltzan ins Land und starb 1556; dieser ist also der letzte meklenburgische Ritter, der in Meklenburg starb. — Der Ritter Heinrich Löser und der Ritter Friedrich Spedt, welche im 16. Jahrh. in Meklenburg lebten, sind Fremde. Friedrich Spedt ist wohl der letzte Ritter, der überhaupt in Meklenburg gelebt hat.

Am 4. Aug. 1526 stellte der Herzog Heinrich von Meklenburg die drei jüngsten Ritter des Landes, Claus v. Lützow, Henning v. Halberstadt und Mathias v. Oertzen, zu Bürgen [CCCLXXVI].

Auch in Beziehung auf die Besitzungen der Linie erscheinen um jene Zeit wichtige Verhandlungen und Ereignisse. Um das J. 1515 war die Linie Kl. Tessin im Manns-

stamme mit Segeband v. Oertzen ausgestorben, welcher nur eine Tochter als Erbtochter hinterlassen hatte, die an Claus Hahn auf Kuchelmiß vermählt war. Nachdem die Erbtochter um das J. 1540 gestorben und manche Irrung ausgeglichen war, kam aus unbekannten Gründen das Gut an den Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow und nach dessen bald darauf erfolgtem Tode an dessen Sohn Vicke v. Oertzen auf Gammelin und späterhin an die Linie Roggow, bis Sivert v. Oertzen auf Gerdshagen und Clausdorf es im J. 1619 an Otto Preen auf Wehnendorf verkaufte. (Vgl. die Linie Kl. Tessin).

Gegen das J. 1530 machte es Mathias v. Oertzen auch möglich, die Güter des Hauses Gammelin wieder einzulösen [CCCLXXXI], und nahm im J. 1530 auf kurze Zeit seinen Wohnsitz in Gammelin („Matties van Ortzen ritter wanhaff-„tich zu Gamelin") [CCCLXXX], wahrscheinlich um die Verwaltung der eingelöseten Güter zu ordnen.

Um dieselbe Zeit machte er auch Anstrengungen, das Gut Schossin zu vollständigem Besitze zu erlangen. Es ist wahrscheinlich, daß die Familie v. Oertzen seit dem Aussterben der Familie v. Schartzin (Schossin) im Besitze dieses Lehngutes war. Die alten Nachrichten über dieses Lehngut sind jedoch äußerst spärlich und dunkel. Im 16. Jahrh. machte sich bei dem Lehnhofe die Ansicht geltend, daß die v. Oertzen das Dorf von der Familie Bohnsack pfandweise inne haben sollten, und im J. 1528 erließ der Herzog Heinrich an den Ritter Mathias v. Oertzen den Befehl, seine beweisenden Urkunden über seine Gerechtsame an Schossin vorzuzeigen, da auch der Herzog zu diesem Gute „etzlichermaßen berechtigt zu sein vermuthete" [CCCLXXVIII]. Ueber die Familie Bohnsack, welche ungefähr um diese Zeit ausgestorben zu sein scheint, und über deren Rechte an Schossin ist aber keine Nachricht vorhanden; auch ist von den Ansprüchen des Herzogs weiter keine Rede — Außerdem besaß aber auch die Familie Preen einen Hof zu Schossin, welcher in alten Zeiten wohl ein Ritterhof gewesen sein mag, da noch im J. 1530 die Hofstelle mit einem Wallgraben umgeben war, seit dem 16. Jahrh. aber nur als wüster Bauerhof erscheint. In einem Register des Klosters

Marienwolde ungefähr vom Jahre 1512 wird ausdrücklich „Dethlef Pren tho Schartzin“ aufgeführt. Am Sonntage nach Heil. Drei Könige 1527 verkaufte Dethlef Pren wiederkäuflich „seinen wüsten und unbesetzten Hof zu Schossin“, wie seine Vorältern und er ihn bis dahin frei besessen hatten, für 250 Mark lübisch. Am 13. Januar 1530 ging der Pfandbesitz dieses Hofes, der damals noch wüst lag, mit allen Zubehörungen, namentlich mit dem Prensholze und dem halben Prensteiche, an den Ritter Mathias v. Oertzen, zu Gammelin wohnhaft, für 350 Mark über [CCCLXXX]. Mathias v. Oertzen behielt ihn jedoch nicht lange, da am Tage Antonii 1535 die Brüder Heinrich und Henning Pren, nach ihres Bruders Dethlef Tode, den von diesem ererbten Hof für 50 lübische Mark erblich verkauften. Seit dieser Zeit besaßen denn auch die Herzoge dieses „Bauererbe“ („Hof“, „Hufe“), welches „mitten im Felde“ oder „im Gemenge“ des Gutes Schossin lag, mit „einem geringen Hause“, und zur Verwaltung zum Amte Walsmühlen gelegt war, bis der Herzog Christian Louis am 1. März 1677 den Hof an die v. Oertzen auf Schossin verkaufte. – Der übrige größere Theil des Gutes Schossin erscheint aber seit den Zeiten des Ritters Mathias v. Oertzen in unangefochtenem Besitze der Familie v. Oertzen von dem Hause Gammelin.

Eine andere höchst wichtige Angelegenheit war der Besitz des Gutes Helpte. Gegen den Anfang des 16. Jahrh. war Burchard v. Oertzen von der gammeliner Linie, Oheim des Mathias, in den Besitz des Gutes Helpte gekommen, welches die stargardische Linie noch nicht lange besessen hatte. In der Zeit von 1522–1530 starb Burchard v. Oertzen und hinterließ das Gut Helpte seinen Söhnen Bernd und Marcus, mit denen das Haus bald nach 1530 und 1554 ausstarb. Die ganze stargardische Linie war in dem zweiten Viertheil des 16. Jahrh. auf den jungen Jacob v. Oertzen beschränkt, welcher jedoch der Stammhalter der stargardischen Linie ward, wie der Ritter Mathias v. Oertzen der Stammhalter der gammeliner Linie war. Mathias v. Oertzen nannte aber den Burchard v. Oertzen auf Helpte und dessen Söhne Bernd und

Marcus „seine nächsten (Lehns-) Erben", als er am 26. April 1522 von der S. Annen-Brüderschaft in seiner Pfarrkirche zu Alt-Gaarz 100 Mark Capital auflieh, welche er „seiner ehelichen Hausfrau" schuldig gewesen war und diese 100 Mark in seinem Gute belegte [CCCLXIX].

Bei dieser Lage der Dinge, als alle damals blühenden Linien der Familie, nämlich Roggow, Wustrow, Helpte, Grammertin, jede auf ein oder zwei bejahrtere Glieder beschränkt waren, die entweder gar keine oder noch junge Kinder hatten, überdachte Mathias v. Oertzen die Unsicherheit des menschlichen Lebens und vermittelte mit seinen nächsten Vettern am 2. Febr. 1530 eine Erbverbrüderung für den Fall ihres tödtlichen Abganges ohne männliche Erben [CCCLXXXI]; diese Erbverbrüderung ward geschlossen zwischen Mathias v. Oertzen auf Wustrow, Lippold v. Oertzen auf Roggow und dessen verstorbenen Bruders Jaspar Kindern und den Brüdern Bernd und Marcus auf Helpte; Jacob v. Oertzen auf Grammertin ward nicht hinzugezogen, da er mit den Genannten nur weiter verwandt war. Durch diesen Vertrag ward folgendes bestimmt: für den unbeerbten Todesfall des Ritters Mathias v. Oertzen sollte „das Ländchen Wustrow" mit den dazu gehörenden Lehngütern, wie Gammelin, an die Linie Roggow, das Gut Eramonshagen mit dem halben Dorfe Gr. Eixen, welches die v. Oertzen aus dem Hause Roggow von der Johanniter-Priorei zu Gr. Eixen wieder einlösen sollten, an die Brüder Bernd und Marcus auf Helpte, für den unbeerbten Todesfall Lippolds v. Oertzen auf Roggow und seiner Bruderkinder sollten die roggowschen Lehngüter an Mathias v. Oertzen auf Wustrow und für den unbeerbten Todesfall der Brüder Bernd und Marcus auf Helpte all deren Lehngut ebenfalls an Mathias v. Oertzen auf Wustrow fallen. Es scheint bei diesem Vertrage vorzüglich auf die sichere Vererbung des Gutes Helpte abgesehen gewesen zu sein. Aber Bernd v. Oertzen auf Helpte machte einen Strich durch diesen Vertrag, indem er das Gut Helpte im J. 1545 an Jacob v. Oertzen auf Grammertin verpfändete und 1554 an denselben verkaufte. Als die Söhne des Ritters Mathias ihre ererbten väterlichen Güter

theilten, kam auch Helpte mit zur Theilung und ward der Gegenstand eines langen Processes gegen Jacob und dessen Söhne, welche jedoch im Besitze des Gutes blieben.

Mit demselben Eifer, mit welchem Mathias v. Oertzen die gammeliner Güter eingelöset hatte, suchte er auch das halbe Dorf Gr. Eixen wieder einzulösen, welches er am 24. Nov. 1508 an die Johanniter-Priorei zu Gr. Eixen für 1000 Gulden hatte verpfänden müssen (vgl. oben S. 208) [CCCXXXVIII]. Am 24. Junii 1531 verabredete er zu Gr. Eixen die Wiedereinlösung und die allmählige Abzahlung der Pfandsumme in bestimmten Fristen bis zum Umschlage 1536. Aus dieser Abzahlung ward aber nichts, wahrscheinlich weil Mathias v. Oertzen für den Herzog Albrecht in den Zeiten des dänischen Zuges große Anstrengungen machen mußte.

Mitten in den Vorbereitungen zu so erfolgreichen Bestrebungen erlitt der Ritter Mathias v. Oertzen den großen Schaden, daß ihm, als er bei dem Herzoge Heinrich im Dienste zu Schwerin war, am 7. Nov. 1525 sein Dorf Wustrow abbrannte, welches er neu wieder aufbauen mußte. Der Herzog schenkte ihm zu Wiederaufbauung des Dorfes zehn Eichen zu Bauholz [CCCLXXI].

Dazu erwarb er für sein auf einer Halbinsel im Meere fast abgeschlossen gelegenes Gut Wustrow wichtige und besondere Freiheiten. Die Halbinsel Wustrow hängt nur durch eine schmale Landenge mit dem festen Lande zusammen, war aber von diesem in alten Zeiten durch einen Graben getrennt, welcher von dem „Binnenhaf" in die Ostsee (das „große Haf") auf einen großen Stein, den „Hudernstein", ging; an diesem Graben lag auch ein alter „Burgwall". Für dieses also geschützte „Ländchen Wustrow" erwarb nun der Ritter Mathias v. Oertzen von dem Herzoge Albrecht die besondere Freiheit und Gnade, daß er den freien „Seestrom" und den „Strand" frei gebrauchen konnte, d. h. er hatte für sich und seine Leute freie Schiffereigerechtigkeit, Strandgerechtigkeit und Fischereigerechtigkeit mit Beaufsichtigungsrecht und Gerichtsbarkeit. Mathias v. Oertzen hatte ein eigenes Schiff, in welchem er sein und anderer Edelleute Getreide frei verschiffte, z. B. nach

Lübeck; auch seine Bauern hielten sich eigene Seefahrzeuge („Schuten"), mußten ihm aber jedesmal 1 oder ½ Stübchen Wein geben, wenn sie Getreide verschiffen wollten. Auch die Fischerei ward im Großen getrieben und die Fische wurden durch Zwischenhändler auf Karren zum Verkaufe ins Land gefahren. Nach des Ritters Mathias Tode übte sein Sohn Joachim noch einige Zeit diese Gerechtigkeiten aus und nahm von jedem Bauern für jede Schiffahrt eine Tonne Salz, für die Fischerei von jedem, der fischen wollte, jährlich einen Thaler, für das Ausfahren von Fischen von jedem Karren 8 Schillinge. Bald beschränkten die herzoglichen Vögte diese Freiheit und nahmen die Tonne Salz für den Herzog und einen Thaler für sich; endlich hoben die Herzoge die Freiheit ganz auf. Es ist darüber in der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. und später viel Streit, selbst auf den Landtagen, gewesen, dessen Entwickelung hier nicht her gehört. Aus den Verhandlungen und Zeugenverhören geht aber hervor, daß diese Freiheiten nicht an dem Gute Wustrow hafteten, sondern nur eine besondere herzogliche Gnadenverleihung für den Ritter Mathias v. Oertzen auf dessen Lebenszeit waren.

So hatte der Ritter Mathias v. Oertzen um das J. 1531 alle Besitzungen seiner Linie wieder befreiet und in seine alleinigen Hände vereinigt, mit Gnadenrechten bereichert und zu einem blühenden Zustande gebracht.

Bald verlangte es aber seine Stellung zu den Landesherren, daß er sich in große Verwickelungen begeben mußte. Seine Verhältnisse waren überhaupt sehr schwierig, da er als Landrath und Ritter sehr in Anspruch genommen ward und die Verwaltung seiner großen Güter eine große Thätigkeit erforderte. Als Landrath hatte er nicht allein viel mit den Landständen, sondern auch mit den Landesherren zu verhandeln; so z. B. entschuldigte er sich am 19. Nov. 1531, daß er wegen moltkescher Lehngüter seine Ansichten nicht schriftlich aussprechen möge, erbietet sich jedoch zur mündlichen Berathschlagung [CCCLXXXIV]. Als Ritter war er zu häufigen Hofehrendiensten verpflichtet; als z. B. der Herzog Ernst von Braunschweig-Lüneburg in der Pfingstwoche 1528 einen Besuch

in Schwerin abstatten und in Boizenburg übernachten wollte, ward Mathias v. Oertzen „mit seinen Knechten und Pferden, „auch Ehrenkleidern, wie sich einem Ritter gezieme", abgeordnet, um mit dem Canzler Caspar v. Schöneich den Herzog in Boizenburg zu empfangen und nach Schwerin zu geleiten. Im J. 1532 war er mit den fürstlichen Räthen in Rehna, um nach dem Tode der Priorin Elisabeth, Herzogin von Meklenburg, Inventarien über ihren Nachlaß aufzunehmen. Geschäfte dieser Art wiederholten sich ohne Zweifel sehr häufig, namentlich in den langwierigen Irrungen zwischen den beiden Herzogen über die Landestheilung.

Bald sollten aber die Geschäfte viel drückender und verwickelter werden, als der Herzog Albrecht sich verleiten ließ, thätigen Antheil an der Wiederherstellung des dänischen Königs Christian II. oder an der dänischen „Grafenfehde" zu nehmen. Das ganze Unternehmen war ebenso thöricht angefangen, als mangelhaft vorbereitet (vgl. G. Waitz: Lübeck unter Jürgen Wullenwever, II, 1855, S. 226 flgd.). Außer der richtigen Ansicht und Umsicht fehlte es dem Herzoge zunächst vor allen Dingen an Geld. Die Landstände verweigerten ausreichende Hülfen; es blieb dem Herzoge also nichts weiter übrig, als bei seinen reichern Vasallen Schulden zu machen. Vor vielen andern mußte Mathias v. Oertzen Rath schaffen; seine Söhne klagen noch im J. 1571, daß ihr Vater dem Herzoge Albrecht eine hohe Summe habe herschießen müssen, welche im J. 1571 noch nicht zurückgezahlt war. Außerdem hatte Mathias v. Oertzen für den Herzog viel in Bürgschaft gehen müssen. So hatte der Herzog Albrecht im Lande Holstein von Heinrich v. Rantzow auf Neuhaus 1470 Mark geliehen, welche Reimar Penz auf Redevin verbürgt und hergeschossen hatte, nachdem dieser sich wieder durch die Bürgschaft des Ritters Mathias v. Oertzen gesichert hatte; als aber Reimar Penz im J. 1549 sein Geld forderte, mußte Mathias v. Oertzen 400 Mark hergeben [CCCCI], und weil es ihm an Geld fehlte, sein Gut Cramonshagen an Joachim v. Halberstadt verpfänden, welcher das Geld herbeischaffte. Cramonshagen blieb über 20 Jahre lang im Pfandbesitze Joachims

v. Halberstadt und war es noch im J. 1571 [CCCCIX], und die Söhne des Ritters Mathias hatten das Geld noch nicht zurückbezahlt erhalten. Zu solchen endlosen Verwickelungen führten die Bürgschaften für den Herzog. Außerdem mußte Mathias v. Oertzen noch viel für den Herzog Albrecht in Bürgschaft gehen; so z. B. verschrieb sich der Herzog vor seinem dänischen Zuge am 1. Jan. 1535 gegen seinen Bruder Herzog Heinrich auf 12,000 rheinische Goldgulden, wofür unter Andern auch der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow und Lippold v. Oertzen aus dem Hause Roggow auf Gorow bürgen mußten [CCCLXXXVII]; gleich nach seiner Heimkehr aus Dänemark mußte ihm in seiner „hohen Noth" der Herzog Heinrich wieder 1400 Gulden leihen, wofür wieder Mathias und Lippold v. Oertzen unter Verpflichtung zum Einlager in Bürgschaft gehen mußten [CCCXCV].

Größer als die Schuldenlast war aber für Mathias v. Oertzen die Sorge für das herzogliche Haus und das Land. Der Herzog Albrecht hatte bei seiner Abfahrt nach Dänemark eine Statthalterschaft zur Regierung des Landes eingesetzt, an deren Spitze der Ritter Mathias v. Oertzen stand. Diese Statthalterschaft, welche ihren Sitz zu Güstrow hatte, wird öfter genannt und war zusammengesetzt aus den „Statthaltern, Räthen und Secretario: Mathias v. Oertzen, „Ritter, Caspar v. Schöneich, Canzler, Joachim Hahn (auf „Basedow, Landrath), Jürgen v. Karlewitz, Amtmann (und „Rath), und Jacob Schrage, Secretarius"; sie wird z. B. genannt am 16. Junii 1535 [CCCXCI], 23. September 1535 [CCCXCIII], 11. Novbr. 1535 (Riedel Cod. dipl. Brandenb. I, 2, S. 240) und sonst öfter. Der Ritter Mathias v. Oertzen war also eigentlich der Regent des Landes während der Abwesenheit des Herzogs.

Am 8. April 1535 schiffte sich der Herzog Albrecht in Rostock ein, mit ihm seine Gemahlin und der ganze Hof, Wullenwever und nur 40 Reiter und ein Fähnlein fremder Knechte. Der Herzog landete in Nykjöbing und erschien am 16. April in Kopenhagen. Die Kräfte reichten natürlich nicht aus und der Herzog drängte nach mehr Reitern. Er verlangte

zunächst am 25. April 1535 nur nach 40 Reitern und hatte zu deren Zusammenbringung und Musterung Lippold v. Oertzen, Martin v. Bylow und den rostocker Burgemeister Bernd Kron zu „Verordneten" zu Rostock bestellt, wo „Musterung, Geld und Bescheid" zu erwarten sei; auch war zur Rüstung und zum Befehl Christoph v. Lützow von dem Herzoge bestellt [CCCLXXXIX]. Während der Zeit, da die Verhältnisse drängten, war der Ritter Mathias v. Oertzen zum Herzoge nach Dänemark gesegelt, um mit ihm zu verhandeln; in einer Nachschrift zu einem Briefe vom 25. April meldet Jürgen Wullenwever zu Nykjöbing dem Herzoge, daß „Herr Mathias v. Oertzen zur Stunde ankomme" [CCCLXXXVIII]. Der Herzog Albrecht sandte ihn mit einer Werbung an seinen Bruder Herzog Heinrich zurück, den er, nachdem er in Güstrow gewesen war, in Woldeck fand. Am 7. Mai 1535 berichtet Mathias v. Oertzen von Woldeck an den Herzog Albrecht, daß sein Bruder zur Erfüllung seines Wunsches geneigt sei, daß er allen Fleiß anwenden werde, ihm einige Reiter unter gleicher Bestellung, wie Christoph v. Lützow sie habe, nachzusenden und auch von den Landständen einige Reiter aufzubringen, und daß er einen „jungen Gesellen" Franz v. Holzendorf, einen „Märker", zur Werbung von Reitern beredet habe [CCCXC]; Franz v. Holzendorf von Jagow war freilich ein unternehmender, wilder Mensch (Jahrb. VIII, 54 und 57), wohl zu einem verzweifelten Wagestück geeignet.

Die Bemühungen nach mehr Kriegshülfe gingen aber fürs erste nur langsam; am 29. Mai berichtet Christoph v. Lützow von Warnemünde, daß er sich viel bemühet, auch eine Reise nach Lübeck gemacht, dort aber alles anders befunden habe, als er geglaubt, so daß sie dem Herzoge schwerlich Hülfe gewähren würden (Aktstykker I, S. 409), er hoffe jedoch, dem Herzoge in 2 bis 3 Wochen 3 bis 400 Reiter zuführen zu können. Endlich erreichte es Mathias v. Oertzen, als die Noth am größten war, daß der meklenburgische Adel zu Sternberg beschloß, dem Herzoge mit einer Anzahl Reiter zu helfen; des Herzogs heimgelassene Befehlshaber meldeten ihm dies am 5. Junii 1535.

In dem Musterzettel der meklenburgischen Reiter zum dänischen Zuge werden aufgeführt mit folgenden Pferden: 4 Ritter Mathias v. Oertzen, 1 Lippold v. Oertzen, 2 dessen Bruderſohn, 1 Bernd v. Oertzen zu Helpte und 1 Jacob v. Oertzen zu Grammertin. Aber schon am 11. Junii ward die Sache zum Nachtheil des Herzogs Albrecht auf Fühnen bei Assens blutig entschieden. Die „Reiter, welche die Landschaft geschickt hatte", sollten am 4. Julii 1535 zu Rostock gemustert werden, und Mathias v. Oertzen, Achim Hahn und Lippold v. Oertzen waren zur Musterung bestellt; Lippold v. Oertzen lehnte das Ansinnen des Herzogs, sich persönlich mit den Reitern zu demselben zu verfügen, am 5. Julii ab [CCCXCII]. Die Sache Albrechts war jetzt jedoch zu Lande und zu See verloren und er sah sich endlich auf die Vertheidigung der Stadt Kopenhagen beschränkt, in welcher er eingeschlossen war. Am 23. Sept. 1535 schrieb der Herzog an seine Statthalter, daß er in sechs Wochen nicht viel Nachricht von „draußen" erhalten habe, und sie daher bitte, ihm Nachricht zu geben und ihm dieselbe durch ein warnemünder „Boot", zuzusenden; auch bat er, seiner Schulden halber mit seinem Bruder das Beste zu thun, damit seinem Schaden vorgekehret werde [CCCXCIII]. Im Herbste des J. 1535 sollten Mathias v. Oertzen und Joachim Hahn des Herzogs Sohn Georg der Herzogin von Braunschweig auf deren Rückreise von Berlin zu Salzwedel zur Erziehung übergeben (vgl. Jahrb. XXII, S. 18—19); hieraus ward jedoch für dies Mal nichts, da des Herzogs Albrecht Briefe zu spät kamen und der Herzog Heinrich nicht dazu rieth; daher lehnten die Statthalter am 19. Nov. 1535 den Auftrag ab. Am 29. Julii 1536 mußte der Herzog Kopenhagen übergeben und ging sofort nach Meklenburg zurück.

In denselben Jahren erhielten auch die kirchlichen Veränderungen in Meklenburg eine feste Gestaltung. Der Herzog Heinrich bekannte sich offen zur protestantischen Kirche, der Herzog Albrecht aber fiel seit dem J. 1531 wieder zum papistischen Glauben zurück und verbündete sich im J. 1533 mit seinen Gesinnungsgenossen (vgl. Jahrb. XXII, S. 14 flgd.).

Welcher Richtung der Ritter Mathias v. Oertzen gefolgt sei, ist bis jetzt nicht zu ermitteln gewesen, da es keine Andeutung giebt, aus welcher sich auf seinen Glauben schließen lassen könnte; aus seiner hohen Stellung bei dem Herzoge Albrecht, aus seinem verwandschaftlichen Verhältnisse zu der strenge katholisch gesinnten Priorin Katharine v. Oertzen zu Dobbertin († 1549) (vgl. §. 20) und aus manchen amtlichen Geschäften dürfte sich aber schließen lassen, daß er in seinem hohen Alter dem Glauben seiner Jugend nicht untreu geworden sei, oder doch, als Landrath, wenigstens eine zurückhaltende, vorurtheilsfreie Stellung eingenommen habe, ohne sich für die eine oder die andere Parthei bestimmt zu entscheiden. Im J. 1536 waren „her Mathias v. Ortzen, her Caspar Schoneke Canzler „und Dirick Moltzan" herzogliche Verordnete, um den des Irrthums beschuldigten Prädicanten Never zu Wismar aus der Stadt zu bringen (vgl. Crain: Die Reformation in Wismar, 1841, S. 30); hier erscheint aber Mathias v. Oertzen im Amte als Landrath und herzoglicher Commissarius neben Dietrich Maltzan, welcher gut protestantisch gesinnt war. Im J. 1538 war er der älteste Landrath auf dem Landtage zu Parchim, als der Herzog und bischöfliche Administrator Magnus die „Petition und Protestation" stellte, die päpstlichen Mißbräuche durch Landtagsbeschluß abzuschaffen. Im J. 1541 war Mathias v. Oertzen auch als Landrath bei der eingeleiteten Kirchen-Visitation zu Wismar, welche jedoch nicht im Einzelnen zur Ausführung kam. Aus dieser Theilnahme an einem rein lutherischen Werke möchte man schließen, daß Mathias v. Oertzen vorurtheilsfrei genug war, in dem Kampfe widerstrebender Partheien der Wahrheit Geltung zu verschaffen.

Nach diesen starken Bewegungen zog der Ritter Mathias v. Oertzen sich am Abend seines Lebens im hohen Alter auf seine Güter zurück und wird im Staatsleben ferner nicht genannt. In den Landregistern des Adels wird noch: 1543 „Ehr Matthias von Ortzen ritter zu Gammelin" und 1545 „Ehr Mathias von Ortzen zu Gammelin" und „Ehr Mathias „von Ortzen zu Wustrow" aufgeführt. Am 9. Dec. 1545

bewilligte er die Verpfändung des Gutes Helpte von Bernd v. Oertzen an Jacob v. Oertzen auf Grammertin [CCCXCIX].

Er erlebte es noch, daß der Herzog Albrecht, dem er so treu und mit so großer Aufopferung viele Jahre lang gedient hatte, am 7. Jan. 1547 starb.

Der Ritter Mathias v. Oertzen erscheint zuletzt im J. 1549, als er dem Reimar Penz auf Redevin 400 Mark bezahlte, für welche er für den Herzog Albrecht gebürgt hatte (vgl. oben S. 218) [CCCCI].

Bald darauf, vielleicht noch im J. 1549, wird Mathias v. Oertzen gestorben sein; sein Sterbetag ist nicht bekannt. Er erreichte aber ein sehr hohes Alter und wird sicher 84 Jahre alt geworden sein. Er lebt in der Geschichte mit dem Ruhme eines ungewöhnlich thatkräftigen, braven Mannes, der, selbst Ritter, mit alter, ritterlicher Gesinnung weit in eine neue Zeit hineinragt.

Der Ritter Mathias v. Oertzen hinterließ seinen Kindern die gesammten alten Güter seiner Linie, die er durch Einlösung wieder in seine Hände gebracht, gesichert und vermehrt hatte, mit Ausnahme von Cramonshagen, welches er in seinem letzten Lebensjahre oder bald darauf seine Kinder zu Gunsten der Herzoge hatten verpfänden müssen; er hinterließ: Wustrow, Gammelin, Schossin, Mühlenbek, Radelübbe, Rothe Mühle, Rothe Krug, Cramonshagen, halb Groß-Eixen, Kl. Tessin und den Anfall von halb Scharfstorf mit Beidendorf, alle mit Zubehörungen. Nach einer gelegentlichen Aeußerung vom J. 1565 hatte der Ritter Mathias v. Oertzen das Gut Wustrow an Sivert v. Oertzen von der roggower Linie „versetzt", von dem es sein Sohn Joachim wieder einlöste; weiter ist über diese Verpfändung nichts bekannt geworden.

Die Gemahlin des Ritters Mathias v. Oertzen wird bei dessen Lebezeiten nicht mit Namen genannt. Er erwähnt seiner „ehelichen Hausfrau" am 26. April 1522 [CCCLXIX] und bedingt in der Erbverbrüderung vom 2. Februar 1530 [CCCLXXXI], daß seine Verwandten seine „eheliche Hausfrau" auf dem Gute Cramonshagen, welches ihr zur Leibzucht versichert sei, ihr Leben lang sitzen und zu Wustrow nach

ihrem Gefallen und Willen in Frieden wohnen lassen sollen. Daraus daß er am 10. März 1528 den Vicke Bassewitz seinen „Oheim" nennt, dürfte sich wohl kein sicherer Schluß auf die Herkunft seiner Gemahlin machen lassen. Nach seinem Tode, ohne Angabe des Jahres, wird aber seiner hinterlassenen Wittwe mit Namen gedacht. Wahrscheinlich um das J. 1550 klagt „Ursula von Bülow, Ern Mathias von Oertzen seligen Wittwe", dem Herzoge Johann Albrecht, daß ihr „seliger Hauswirth Er Mathias von Oertzen" für des Herzogs Vater dem „Reimar Penz und ins Land Holstein (vgl. oben S. 218) 2170 Mark aus Bürgschaft habe bezahlen und deshalb zu ihrem eigenen und „ihrer unmündigen Kinder" Verderb seine Lehngüter verpfänden müssen; sie bat daher wiederholt um Bezahlung, was freilich noch lange nicht geschah [CCCCII].

Es ist also sicher, daß des Ritters Mathias v. Oertzen Gemahlin und hinterlassene Wittwe Ursula von Bülow war. Da aber bei ihres Mannes Tode „ihre Kinder" und Lehnerben ihres Mannes noch „unmündig" waren, so möchte man glauben, daß Ursula v. Bülow die zweite Gemahlin des Ritters Mathias und daß seine erste, unbekannt gebliebene Ehe kinderlos gewesen sei; denn da Mathias v. Oertzen sehr alt ward, so müßte man wohl annehmen, daß wenn er nach der Sitte seiner Zeit jung geheirathet hätte, seine Kinder bei seinem Tode auch schon ziemlich hoch zu Jahren gewesen seien.

Ursula v. Bülow war wahrscheinlich eine Tochter des Stephan v. Bülow auf Wehningen, Gudow, Marnitz ꝛc., da ihr ältester Sohn den Vornamen Stephan, ohne Zweifel von seinem mütterlichen Großvater, hatte. Stephan v. Bülow auf Wehningen, Bruder des Bischofs Dietrich v. Bülow von Lebus und Zeitgenosse des Ritters Mathias v. Oertzen, wird seit 1491 oft genannt und starb nach dem J. 1520 und vor dem J. 1530. Er war ein sehr angesehener und reicher Mann, auf Wehningen erbgesessen, 1491 mit Gudow und 1505 mit Marnitz zum unterpfändlichen Besitze auf drei Geschlechter belehnt; er war Rath der Herzoge von Meklenburg und ward oft auch zu Gesandtschaften und Ehrendiensten gebraucht. Im

J. 1496 gaben ihm die Herzoge Magnus und Balthasar von Meklenburg die Anwartschaft auf die Lehngüter der Familie Schmeker, welche jedoch noch lange nicht ausstarb. Bisher ist Ursula v. Bülow noch nicht als Tochter Stephans bekannt. Man vgl. über Stephan v. Bülow: Beschreibung des Geschlechts v. Bülow, S. 187, Jahrbücher III, S. 85, und IV, S. 100, und Maltzan. Urk. IV, S. 375 und 421.

Der Ritter Mathias v. Oertzen hinterließ von seiner Gemahlin Ursula v. Bülow vier Söhne und eine Tochter, welche bei ihres Vaters Tode noch minderjährig waren und darauf unter der Vormundschaft ihrer Mutter standen. In einem undatirten gerichtlichen Schreiben, welches ungefähr vom J. 1569 noch beim Leben des ältesten Sohnes Stephan erlassen ist, wird ausdrücklich gesagt, daß „die von Oertzen von Wustrow und Gammelin vier Brüder" seien. Die Söhne klagen in der Folge wiederholt, daß, als sie nach ihres Vaters Tode „noch jung und unmündig und mit Vormündern nicht versorgt gewesen" seien, ihre Mutter Handlungen vorgenommen habe, zu denen sie nach den Rechten nicht befugt gewesen sei. Die Wittwe hatte auch einen leider auch nicht datirten Rechtsstreit gegen Christoph v. Lützow auf Bakendorf wegen Grenzirrungen zwischen Gammelin und Bakendorf, woraus ebenfalls hervorgeht, daß sie keine Rechtsbeistände in der Vormundschaftsführung hatte. In einem Contributions-Register vom J. 1555 werden noch „Mathias v. Oertzen Erben zu Gammelin und Wustrow" aufgeführt.

Die vier Söhne des Ritters Mathias v. Oertzen hießen: Stephan, Joachim, Vicke und Segeband, die Tochter hieß Adelheid. Von den Söhnen ist Segeband bisher gar nicht bekannt gewesen. Die Reihenfolge der Söhne ergiebt sich aus einer Schuldverschreibung Stephans vom Tage Antonii 1566, in welcher dessen Brüder in folgender Ordnung: „Jochim, Vicke und Segebandt von Oertzen, Steffans Brüder", ihre Mitwissenschaft bezeugen. Segeband war gebrechlich. Bei einer Auseinandersetzung der vier Brüder ward ihm das Gut Mühlenbek abgetreten. Nach Segebands frühem Tode nahmen die drei übrigen Brüder eine feste Theilung ihrer väterlichen

Güter vor. Der Theilungsvertrag ist nicht bekannt geworden, die Theilung selbst geht aber aus dem Vertrage des Stellan v. Oertzen auf Schossin, Stephans Sohn, mit seines Vaters Bruder Joachim auf Wustrow wegen der helpteschen Güter vom 22. April 1585 [CCCCXIV] deutlich hervor. In diesem Vertrage wird 1585 gesagt, daß vor „viel vergangenen" Jahren die drei Brüder Stephan, Joachim und Vicke ihre Lehnsbesitzungen und die verpfändeten und noch zu erwartenden Güter so getheilt hätten, daß

1) Stephan das Gut Schossin mit Radelübbe, Rothe Mühle und Rothe Krug, so wie später die Anrechte an Helpte,

2) Joachim das Gut („Land") Wustrow und den Hof Mühlenbek, so wie die Anrechte an Cramonshagen und Gr. Eixen,

3) Vicke das Gut Gammelin, so wie die Anrechte an Kl. Tessin und halb Scharfstorf und Beidendorf,

erhalten haben, so daß dadurch auf einige Zeit die Häuser Schossin, Wustrow und Gammelin entstanden.

Außer dieser klar zu übersehenden Vertheilung wird wiederholt noch eines andern Verhältnisses der Erben des Ritters Mathias v. Oertzen gedacht, welches jedoch, da es nur vorübergehend gewesen zu sein und kurze Zeit bestanden zu haben scheint, sich nicht mit Bestimmtheit aufklären läßt. Im J. 1563 werden „Mathias v. Oertzen Kinder Erben des Jaspar von der Weide" genannt. Jaspar von der Weide, ein ausländischer Edelmann, war der Gemahl einer Anna v. Plessen, welche „Erbfrau" ihres dem Namen nach unbekannten Vaters war, der vielleicht aus dem Hause Hoikendorf stammte. Im J. 1539 war Anna v. Plessen Erbfrau der Güter ihres Vaters und besonders der ihrer Mutter verpfändet gewesenen Güter in Jamel und des ihr kraft des Erbjungferurechts zustehenden fünften Theiles desselben Gutes, und wegen dieser Besitzung war ihr Vetter Johann v. Plessen damals in Streit mit ihrem Gemahle Jaspar von der Weide. Dieser wird daher als „zu Jamel" („zur Gammen") wohnhaft aufgeführt. Im J. 1545 lebten Jaspar von der Weide und seine Gemahlin noch, im J. 1561 waren beide schon todt und hatten keine

Kinder hinterlassen. Als Erben des Jaspar v. d. Weide traten im J. 1561 Arnd v. d. Weide, Domherr zu Ratzeburg, und sein Bruder Arz, erbgesessen zu Bretersen, auf. Als Erben der Anna v. Plessen werden im J. 1563 aber einmal Heinrich v. Stralendorf auf Krankow und Ursula v. Stralendorf, Gemahlin des Mathias v. Hagen, ein ander Mal neben diesen noch des Ritters Mathias v. Oertzen Kinder genannt; diese hatten als Erben der Anna v. Plessen 850 Mark aus dem Gute Lewetzow im Amte Grevismühlen, welches seit 1443 ein Lehn der v. Bassewitz war, zu fordern, es waren aber auch „die Oertzen zu solcher Summe und Zusprache berechtigt." Daher wurden im J. 1563 beide Partheien „als Jaspars v. Weiden hinterlassene Erben" befehligt, die in ihren Händen befindlichen auf das Gut Lewetzow lautenden Lehnbriefe wohl aufzubewahren. Alle diese Erbrechte sind jetzt unklar; es ist jedoch wahrscheinlich, daß die Forderungen der v. Stralendorf daher rührten, daß die Mutter der Anna v. Plessen eine geborne v. Stralendorf war, wie die Mutter des Mathias v. Oertzen aus demselben Geschlechte stammte; das zur Frage stehende Vermögen war also wahrscheinlich stralendorfsches. Wenn im J. 1561 auch die Brüder Christoph, Hans und Joachim v. Wenkstern in der Wisch zu Lenzen Arrest auf ein „Depositum der Anna v. Plessen, Jaspars v. Weiden verstorbenen Wittwe, gegen die Ansprüche der von Oertzen" im Interesse ihrer Vaterschwestern beantragten, so mag dies daher gekommen sein, daß ein Hartwig v. Plessen auf Zurow von der Linie Damshagen am Ende des 15. Jahrh. eine Anna v. Wenkstern zur ersten Frau hatte.

Die Kinder des Ritters Mathias v. Oertzen waren:

X. 21. Stephan I. 22. Joachim. 23. Vicke IV. 24. Segeband. 25. Adelheid.

18.

## Bernd.

1521 – 1554.

§. 116. G. IX.

Burchard v. Oertzen auf Helpte hatte zwei Söhne, Bernd und Marcus (vgl. §. 113), von denen, da sie immer in dieser Reihenfolge genannt werden, Bernd der ältere war. Sie werden am 14. Nov. 1521 zuerst genannt, als ihr Vater mit ihnen den Kirchen zu Neu-Brandenburg 42 Gulden jährlicher Pacht aus Helpte verpfändete: („Borchart van Orzen, Bernd „vnd Marcus, gebroder van Orzen, Borchardes sone, erff- „geseten to Helpte") [CCCLXVI]. Ferner bewilligen beide mit ihrem Vater („Borchart von Ortzen, wonhaftich tho „Helpte, mit sambt sinen sons Bernd vnd Marcus") am 26. April 1522 die Anleihe von 100 Mark Capital von der S. Annen-Brüderschaft zu Alt-Gaarz durch Mathias II. v. Oertzen auf Wustrow [CCCLXIX]. Bald darauf wird ihr Vater, der nach 1522 nicht mehr genannt wird, in hohem Alter gestorben sein. Denn am 1. Aug. 1523 besiegelte „Bernt Ortzen" die Union der meklenburgischen Landstände; außer ihm besiegelte dieselbe von der v. örtzenschen Familie im Lande Stargard nur noch Jacob v. Oertzen auf Grammertin. Am 2. Febr. 1530 schlossen die Brüder Bernd und Marcus, da ihr unbeerbter Abgang vorauszusehen sein mochte, mit ihren nächsten Vettern, Mathias auf Wustrow und Lippold und dessen Bruders Jaspar Kindern, eine Erbverbrüderung, in welcher unter Anderm auch bestimmt ward, daß, wenn Bernd und Marcus ohne Leibeserben sterben würden, alle ihre Lehngüter an Mathias v. Oertzen auf Wustrow fallen sollten [CCCLXXXI]. Dies geschah in der Folge auch; jedoch behielten die Nachkommen des Ritters Mathias auf Wustrow diese Güter nicht, da die v. Oertzen aus der stargardischen Linie dieselben an sich brachten.

Bald nach dieser Zeit wird Marcus v. Oertzen gestorben sein, da er nicht wieder genannt wird und Bernd immer allein erscheint. In den Registern der nächstfolgenden Zeiten wird Bernd v. Oertzen auf Helpte immer allein genannt, z. B. im

Roßdienstregister vom J. 1535: „3 Pferde Ortze zu Helpte"; im Musterzettel der meklenburgischen Reiter zum dänischen Zuge vom J. 1535: „Bernd Ortze zu Helpte"; im Landregister des Adels vom J. 1543: „Bernt von Ortzen zu Helpte", und vom J. 1545: „Berndt von Ortze zu Helpte".

Bernd v. Oertzen kam aber immer mehr zurück und sah sich aus Nothdurft veranlaßt, am 6. Dec. 1545 mit Bewilligung der Landes- und Lehnherren und seiner nächsten Vettern, mit denen er und sein Bruder im J. 1530 die Erbverbrüderung geschlossen hatten, nämlich des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow und der Söhne der Brüder Lippold und Jaspar auf Roggow, sein Gut Helpte mit fünf Hufen auf der wüsten Feldmark Milzow an Jacob v. Oertzen auf Grammertin, dem Stammhalter der stargardischen oder sogenannten „helpter Linie", auf 28 Jahre für 4400 Gulden Capital zu verpfänden. Nach der Verpfändungsurkunde mußte sich Jacob v. Oertzen auch verpflichten, dem Bernd v. Oertzen und seiner ehelichen Hausfrau alle Jahr die Zeit ihres Lebens 36 gute Fuder Bauholz in Woldeck zu liefern und für sie 6 Schweine in die Mast zu nehmen. Am 12. Dec. 1545 bestätigte der Herzog Heinrich diese Verpfändung, welche Bernd v. Oertzen „seiner bedrängtlichen Schulden und anliegenden Noth halber" hatte vornehmen müssen [CCCXCIX].

Bernd v. Oertzen zog nun mit seiner Frau in die Stadt Woldeck, wo er ärmlich lebte. Er bauete sich hier aber „ein großes, weites Gehöft mit Haus, Scheune und Thor„haus, welches ihm einige tausend Gulden kostete". Kaum war aber dieser Hof fertig und eingerichtet, als „er durch „muthwillige Leute oder sonst durch Verhängniß Gottes ganz „zu Grunde abgebrannt ward, so daß er und seine Frau nicht „ein Kleid behielten, sich zu bedecken. Durch Gottes und guter „Leute Hülfe konnte er freilich im J 1550 seinen Hof wieder „aufbauen, ward aber darüber zum armen Manne, so daß er „selten einen Dreiling in seiner Behausung hatte, um sich Fische „zu kaufen, und nimmer einen rothen Pfenning in seinem Hause „hatte, was ihm alle Tage begegnete; so klagte er selbst und „wünschte, daß es Gottes Wille sein möchte, daß er zu Grabe

„getragen werde." In seiner „lauter bloßen Armuth" faßte er den Entschluß, sein Gut Helpte zum erblichen Kaufe zu verkaufen und bot es wiederholt seinem Vetter Jacob v. Oertzen auf Grammertin an. Da er von diesem aber keine Entschließung erhalten konnte, so trug er dem Herzoge Heinrich vor, daß er gewilligt sei, das Gut an einen andern oder an den Herzog zu verkaufen. Hierauf forderte der Herzog Heinrich den Jacob v. Oertzen auf Grammertin am 20. Aug. 1550 auf, sich mit seinem Vetter Bernd des Erbkaufes wegen einzulassen, weil er der nächste dazu sei, widrigenfalls der Herzog geneigt sei, das Gut an sich zu bringen. Jacob v. Oertzen zögerte aber und der Herzog Heinrich starb darüber weg. Da wandte sich Bernd im J. 1553 wörtlich mit denselben Klagen und Bitten an den Herzog Ulrich, welcher am 20. Nov. 1553 dieselben Forderungen an Jacob stellte, wie sein Oheim Herzog Heinrich.

Da entschloß sich endlich Jacob v. Oertzen zum Ankaufe des Gutes, und da Bernd v. Oertzen auch nach Zeugenaussagen nun noch immer mehr verarmte, so mußte er, um „seine „schweren Schulden und seine anliegende Noth zu wenden", am 11. Nov. 1554 seinem Vetter Jacob v. Oertzen auf Grammertin, als „nächstem Lehnserben", da ihm durch den Pfandcontract vom J. 1545 das Vorkaufsrecht eingeräumt war, sein Lehngut Helpte mit den 5 Hufen in Milzow für 7900 Gulden erblich verkaufen [CCCCIV], wodurch Helpte wieder an die stargardische Linie kam; Bernd erhielt hiedurch 3500 Gulden über die Pfandsumme.

In der Folge entstanden wegen dieses Kaufes Rechtsstreitigkeiten, indem die Söhne des Ritters Mathias behaupteten, daß sie die nächsten Agnaten zu dem Gute seien, und deshalb das Gut reluiren wollten. Der Proceß, welcher 1588—1597 geführt ward, blieb jedoch ohne Erfolg (vgl. unten Joachim Nr. 22).

Von jetzt an wird Bernd v. Oertzen nicht weiter genannt. Er starb ohne Leibeserben, wahrscheinlich bald nach dem Verkaufe von Helpte. Seiner „ehelichen Hausfrau" wird am 6. Dec. 1545 zuletzt gedacht. Mit Bernd v. Oertzen starb

die Linie von Oertzen auf Helpte „aus dem rostocker Orte" aus und das Gut Helpte kam wieder an die stargardische Linie, bei welcher es auch lange Zeit geblieben ist und welcher das Gut den neuen Namen gegeben hat.

---

19.

## Marcus.

1521—1530.

§. 117. G. IX.

Marcus v. Oertzen, mit seinem Bruder Bernd auf Helpte gesessen, war der jüngere Sohn des Burchard v. Oertzen auf Helpte und kommt mit diesem in der Zeit von 1521—1530 und nie allein vor (§. 116). Nach dem J. 1530 wird er nicht wieder genannt und wird früh ohne Erben gestorben sein, da sein Bruder Bernd im J. 1554 „der letzte Lehnsinhaber von Helpte" aus seiner Linie genannt wird.

---

20.

## Katharine,

Priorin des Klosters Dobbertin.

1531 † 1549.

§. 118. G. IX.

Eine zweite Regentin eines Nonnenklosters (vgl. §. 111) aus der Familie v. Oertzen war Katharine v. Oertzen, welche in der Zeit 1531—1549 Priorin des Benedictiner-Nonnenklosters Dobbertin war. Schon in den Jahren 1526 und 1531 trat sie unter der Priorin Anna Thun urkundlich als Unterpriorin des Klosters auf. Nach einem Verzeichnisse der

letzten Priorinnen des Klosters Dobbertin im Archive zu Kopenhagen legte die Priorin Anna Thun im J. 1531 ihr Amt nieder und die Unterpriorin Katharine v. Oertzen ward wieder zur Priorin erwählt. Das erwähnte Verzeichniß sagt: „Anno „domini MDXXXI. hefft Anna Tun affghedancket, is wed„der erwelt Caterina van Ortzen, de dat Ampt hefft „verwaltet XVIII Jar vnde is by deme Ampt in Godt ver„storuen in vigilia Judica Anno domini XL. Anno domini (sic!) is wedder erwelt Hipolita Gans vnde hefft dat Ampt verwaltet IX Jar vnd is wedder erwelt Elizabet Hobe.“ Dieses Verzeichniß, welches in den Angaben über die Personen durchaus richtig ist, muß durch mißverstandene Abschriften in einigen Jahreszahlen unrichtig sein. Da Katharine v. Oertzen schon im J. 1533 in Urkunden als Priorin auftritt, so ist auch nach den übrigen Zeitangaben in dem Verzeichnisse ohne Zweifel die Nachricht richtig, daß im J. 1531 Anna Thun resignirt habe und Katharina v. Oertzen wieder erwählt worden sei. Dagegen ist die Angabe des Verzeichnisses, daß Katharina v. Oertzen 1540 (XL) gestorben sei, nicht richtig, da sie mit eigener Namensunterschrift noch im J. 1544 [CCCXCVIII] und Michaelis 1545 erscheint. Da ihre Regierungszeit auf 18 Jahre angegeben und der Regierungsantritt und die Regierungszeit der drei folgenden Priorinnen bekannt ist, so kann Katharina v. Oertzen nur im J. 1549 gestorben sein.

Katharina v. Oertzen war noch am 10. Junii 1531 Unterpriorin unter der Priorin Anna Thun, welche jedoch in demselben Jahre resignirte und Katharina v. Oertzen zur Nachfolgerin erhielt. Im J. 1533 wird Katharina v. Oertzen mit der Unterpriorin Hippolyta Gans, welche späterhin Priorin ward, zuerst genannt, und darauf im J. 1537 noch ein Mal.

Die Regierungszeit der Katharine v. Oertzen ist für die Geschichte des Klosters von großer Wichtigkeit, da in ihre Zeit die Einführung der Kirchen-Reformation fällt, welche bei ihrem Regierungsantritt schon so mächtig war, daß um das Jahr 1530 die Stadtklöster im Lande aufgehoben wurden. Die großen und reichen Feldklöster hielten sich 20 bis 25 Jahre länger, theils durch ihr inneres Gewicht, theils durch den Widerstand

der Vorsteher und der Convente, auch durch die Unterstützung des Adels, bis der Herzog Johann Albrecht beim Antritt seiner Regierung der Gesammtlande die meisten Klöster des Landes aufhob. Katharina v. Oertzen gehörte zu den entschiedenen Anhängerinnen der alten Verfassung, welche sie nach Kräften und mit Erfolg aufrecht erhielt. Am 30. Nov. 1538 machte der Herzog dem Kloster, d. h. „Verweser, Priorin, Unterprio„rin und Versammlung des Klosters Dobbertin sämmtlich", den Vorwurf, daß, obgleich er und sein Bruder verboten habe, „in diesen geschwinden Läuften Klostergüter zu verkaufen, ver„pfänden, verleihen und vergeben", sie doch 400 Gulden an den Ritter Mathias v. Oertzen ohne Bewilligung verliehen hätten, und befahl ihnen, das Geld wieder herbeizuschaffen. Hierauf antwortete die Priorin Katharina v. Oertzen am 1. Jan. 1539, daß „ihr Vetter Mathias v. Oertzen, Ritter," sie viel um das Geld, das vorräthig gewesen sei, gebeten habe und sie seinem Andringen nicht habe widerstehen können. Diese Entschuldigung ließ aber der Herzog Heinrich nicht gelten, sondern schrieb am 11. Jan. 1539 an „Joachim v. Kleinow, Klo„stervogt, N. N. Unterpriorin und ganze Versammlung des „Klosters Dobbertin sämmtlich zu brechen und öffentlich lesen „zu lassen", daß die Priorin ungeachtet des Verbots 400 Gulden an Mathias v. Oertzen ausgeliehen und dies wahrscheinlich für sich allein gethan habe, da das Antwortschreiben von ihr allein ausgegangen sei: er befehle daher dem Kloster-Convente, das Geld wieder herbeizuschaffen. Der Ausgang dieser Angelegenheit ist nicht weiter zu verfolgen. Der Verlauf der Sache ist aber bemerkenswerth, da er einen ziemlich klaren Blick in die Stimmung und Spannung der damaligen „geschwinden „Läufte" thun läßt.

Am 30. April 1544 beschwerte sich „Catharina v. Ortzen „Priorin, Anna Detzin Unterpriorin und ganze Versammlung" des Klosters Dobbertin bei dem Herzoge Albrecht über die Lasten und Bedrängnisse, die sie zu erdulden hätten. Der Herzog hatte gefordert, daß das Kloster zu Festlichkeiten einen „beschlagenen Wagen" mit 3 Pferden stellen solle; das Kloster entschuldigte sich aber damit, daß dies nicht möglich sei, indem

nicht 2 gute Pferde auf dem ganzen Hofe zu Dobbertin seien, das Kloster auch wegen großer Ausgaben kein Geld zum Ankauf von Pferden habe; denn es habe 500 Gulden an der Münze verloren und der Adel sei ihnen auch an 300 Gulden rückständig; der Adel bleibe mit seiner Zahlung immer in Rückstand, und das Kloster möge klagen und wieder klagen, so werde ihm doch nicht zum Rechte verholfen. Dazu habe das Kloster dem Herzoge Heinrich 70 Gulden zu einem Wagen zum Türkenzuge geben müssen. Ueberdies werde das Kloster stark mit Jagdablagern beschwert. Das Kloster schließt das Schreiben, wahrscheinlich von Katharinens v. Oertzen eigener Hand, mit folgender bezeichnender Klage: „Wenn Eure fürstliche Gnade „und Eurer fürstlichen Gnaden Herr Bruder nicht mehr Ein„sehens wollen haben, daß die vom Adel uns die Pächte fol„gen lassen, so wird es binnen kurzem sehr irrig (byster) um „unser Kloster werden, denn diejenigen, die Tag und Nacht „Gott loben sollen mit ihrer Stimme und Athem, die wollen „essen und trinken, dar ihnen große Verkürzung an geschieht, „denn die Lebensmittel (vytallie) sind theuer und unser Geld „können wir auch nicht bekommen, sie werden nicht mehr Ge„duld damit haben. Soll unser Kloster denn so in eine Zer„störung kommen, wie jetzt mit andern Klöstern ge„schieht, so mag das Gott erbarmen." [CCCXCVIII]. Um dieselbe Zeit beschwerte sich das Kloster in einem nicht datirten Schreiben über zu großes Jagdablager. Zuletzt erscheint Katharina v. Oertzen, als „Catharina v. Oertzen, Priorin, Doro„thea Velrogge, Unterpriorin, und ganze Versammlung" des Klosters sich am 1. Oct. 1545 bei dem Herzoge Heinrich darüber beschwerten, daß der herzogliche Vogt zu Criwitz ihr Dorf Domsühl „unter die Vogtei bringen" wolle. Katharine v. Oertzen hatte noch das Glück, den Sturm der Reformation von dem Kloster abzuwehren.

Katharina v. Oertzen starb in ihrem Amte nach einer festen, aber bedrängten Regierung höchst wahrscheinlich im J. 1549 am Tage vor Judica („in vigilia Judica"), d. i. im J. 1549 am 6. April. Ihr folgte die frühere (1533) Unterpriorin Hippolyta Gans, welche 1549—1557 am Ruder stand,

dasselbe aber in der vom Sturm bewegten Zeit nicht zu regieren verstand, da sie alt und schwach war. Ihr folgte daher bei ihren Lebzeiten als Priorin 1557 – 1569 Elisabeth Hobe, eine aufrichtige Papistin, neben welcher noch längere Zeit „die „alte Priorin" Hippolyta Gans stand (vgl. Jahrb. XXII, S. 110, 123 flgd.). Unter Elisabeth Hobe begann im J. 1557 ein in seltenem Maaße heftiger und lange dauernder Kampf um die Reformation des Klosters, welcher freilich damit endete, daß das Kloster endlich protestantisch ward, aber doch von Bestand blieb. (Ueber die denkwürdige Geschichte der Reformation des Klosters Dobbertin vgl. Jahrb. XXII, S. 101 flgd.)

Welcher Linie der Familie v. Oertzen die Priorin Katharine angehört, läßt sich freilich nicht bestimmen; es ist aber wahrscheinlich, daß sie der gammeliner Linie aus dem Hause Wustrow angehörte, da sie den Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow, mit dem sie in freundschaftlichem Verkehr stand, ihren „Vetter" nennt.

---

## 21.

## Stephan I.

1565 † 1569.

§. 119. G. X.

Stephan v. Oertzen, der älteste Sohn des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow von dessen Gemahlin Ursula v. Bülow, von deren Vater Stephan v. Bülow auf Wehningen er wahrscheinlich seinen Vornamen Stephan trug, war bei seines Vaters Tode (um 1550) noch minderjährig. Nach erlangter Volljährigkeit und nach dem Tode seines Bruders Segeband theilte er mit seinen beiden übrigen Brüdern die väterlichen Güter und erhielt nach dem Berichte des Vertrages vom 22. April 1585 [CCCCXIV] in der Theilung das Gut Schoffin mit Radelübbe, Rothe-Krug und Rothe-Mühle und späterhin in der Theilung der noch einzulösenden und zu erstreitenden Güter die Anrechte an Helpte, welches aber trotz des erhobe-

nen Rechtsstreites nicht erstritten ward, sondern bei der stargardischen Linie blieb.

Stephan v. Oertzen war „Kriegsmann", wie seine beiden Brüder „Kriegsleute" waren, und stand in fremden Diensten, weshalb wenig von ihm bekannt geworden ist. Er hatte z. B. seiner zweiten Gemahlin eine goldene Kette, „die er im „Kriege erworben", geschenkt, weshalb sie dieselbe als ihr Eigenthum nach seinem Tode in Anspruch nahm. Er hatte also schon früh in fremden Kriegsdiensten gestanden, ehe er zum letzten Male in den Krieg zog.

Stephan v. Oertzen war zwei Male vermählt, was wiederholt gesagt wird.

Seine erste Frau war eine geborne v. Plessen von Großenhof, mit der er einen Sohn Stellan zeugte, welcher sicher von seinem muthmaßlichen Großvater Stellan v. Plessen auf Großenhof seinen Vornamen trug. Stellan v. Oertzen nennt am 22. April 1585 die Brüder Henneke und Kune v. Plessen zu Großenhof und Gantenbek und Margarethe v. Plessen, welche an Wipert v. Lützow auf Thurow verheirathet war, „seiner seli„gen Mutter Brüder und Schwester", und am 6. Jan. 1574 nennen Joachim v. Oertzen, Wipert v. Lützow und Henneke und Kune v. Plessen zu Großenhof den Stephan v. Oertzen „ihren seligen Bruder und Schwager". Wipert v. Lützow handelt oft als „Schwager" Stephans v. Oertzen, da beide zwei Schwestern zu Frauen hatten.

Seine zweite Frau, welche ihn überlebte, war Armgard v. Platen, deren „Freunde in Pommern wohnten"; bemerkenswerth ist, daß zu der Zeit (1573—1577) ein Joachim v. Platen zu Anker im Lauenburgischen wohnte, welches so manche kriegslustige Edelleute des westlichen Meklenburgs zu dem Herzoge Franz II. von Sachsen-Lauenburg anzog. Nachdem Armgard ihrem Manne 2000 Mark und an goldenen Ketten 1000 Mark lübisch zugebracht hatte, verschrieb ihr Mann ihr am 6. Jan. 1568 all sein Lehngut, nämlich Schossin, Radelübbe, Rothe-Krug und Rothe-Mühle oder 5000 Mark baar zur Leibzucht. Der Herzog Johann Albrecht bestätigte diese Beleibzüchtigung am 5. Junii 1569 bei Stephans Leben und der

Herzog Ulrich am 20. Junii 1570 nach Stephans Tode. Mit dieser Frau hatte Stephan v. Oertzen eine Tochter Anna.

Ehrenvoll ist für Stephan v. Oertzen sein letzter Kriegszug, in welchem er seinen Tod fand. Am 23. März 1568 hatten die Hugenotten in Frankreich zwar den „kleinen Frieden" erlangt und ihre deutschen Truppen entlassen; in der Sache ward aber nicht viel geändert und die Gewaltthätigkeiten und Treulosigkeiten des französischen Hofes dauerten fort Der Aufstand brach überall wieder aus und ein königliches Edict widerrief alle den Hugenotten scheinbar verheißenen Freiheiten. Von beiden Seiten ward gerüstet, und mit dem Anfange des J. 1569 zogen die Heere zusammen. Die Hugenotten hatten auch deutsche Krieger an sich zu ziehen versucht und der Pfalzgraf Wolfgang von Pfalz-Zweibrück führte ihnen 5000 deutsche Landsknechte und 6000 deutsche Reiter zu. Im Anfange des J. 1569 hatte „Wolfgang, Pfalzgraf bei Rhein, Herzog „in Baiern", „zur Beschützung seiner Lande und Leute eine „stattliche Anzahl deutscher Reiter, welche sich in 2000 erstreck„ten und von Ernst Weiger geführt wurden, werben lassen und „hatte den Herzog Ulrich von Meklenburg gebeten, denselben, „da sie den niedersächsischen Kreis berühren würden und zum „Theil im Anzuge seien, den freien Paß durch Meklenburg zu ge„statten". Der Herzog Ulrich berichtet dies am 13. Jan. 1569 dem Kurfürsten von Sachsen, als Obersten des oberrheinischen Kreises, und spricht die Hoffnung aus, daß der Pfalzgraf diese Reiter zu keinem andern Zwecke, als dem angegebenen, verwenden und dem Kurfürsten gebührende Caution geleistet haben werde. Freilich hatten die Werbungen einen ganz andern Zweck. In dem Hugenottenheere dienten unter andern auch noch die Grafen Ludwig von Nassau und Volrath und Peter Ernst von Mansfeld und viele Edelleute. Stephan v. Oertzen, der nach dem frühen Verluste seiner ersten Frau sich erst vor kurzem wieder vermählt und seiner Frau bei seinem Auszuge das ihr verschriebene Leibgedinge hatte versichern lassen, zog in dem Haufen des Grafen Volrath v. Mansfeld, dem er nach dem Berichte Spangenbergs in dessen Adelsspiegel 267 Reiter zuführte, als Rittmeister aus, ward jedoch während des Feldzu-

ges zum Obristlieutenant bestellt. Der Krieg zog sich nach Poitou in das westliche Frankreich, wo auch der Kriegszug des J. 1569 zur Entscheidung kam. Die Deutschen hatten auf dem Zuge durch Frankreich viel Ungemach und Kampf zu bestehen. Der Pfalzgraf Wolfgang starb an dem Tage, an welchem er sich mit dem Admiral Coligny vereinigte. Wenn auch die Hugenotten in dem Treffen von Jarnac am 13. März 1569 den kürzeren gezogen und den trefflichen Prinzen von Condé verloren hatten, so waren sie doch guten Muthes. Im Sommer kamen die Heere immer näher. Das großherzogliche Archiv zu Schwerin bewahrt einen gleichzeitigen ausführlichen Bericht über diesen merkwürdigen Feldzug. Am 5. Aug. begannen die Hugenotten die Belagerung von Poitiers und beschossen die Stadt vier Wochen lang, wogegen während der Zeit die Königlichen die Stadt Chatellerault belagerten, vor welcher dem Könige drei Stürme abgeschlagen wurden. Um Chatellerault zu entsetzen, verließen die Hugenotten Poitiers, schlugen den König in die Flucht und verfolgten ihn bis gegen sein Lager, welches zwischen zwei Wassern stand, so daß sie ihn zu keiner Schlacht bringen konnten. Der Admiral forderte aber eine Schlacht und begehrte von den Deutschen, sie möchten dazu helfen, daß er dem Könige Abbruch thue, denn wenn es diesmal nicht geschehe, so würde es hernachmals schwerlich geschehen können, da der König Verstärkungen an sich ziehe. Hierauf erboten sich alle Obersten und Kriegsleute gutwillig und rückten dem Könige vier Tage nach einander vor das Lager, konnten ihn aber nicht zur Schlacht bringen, da er sich nicht aus seinem Vortheil begeben wollte. In dieser Noth suchten die Königlichen durch Kundschafter die deutschen Obersten zum Abfall zu bewegen und den Admiral zu vergiften. Nachdem der König seine Verstärkungen an sich gezogen hatte, brach er auf und rückte gegen die Hugenotten vor; aber Coligny bot ihm die Spitze und zog am 30. Septbr. vor sein Lager, das in einem Grunde stand, wo er jetzt die Königlichen zur Schlacht bereit fand; dies hatte Coligny nicht erwartet und da er zu diesem Anfalle nicht Truppen genug vereinigt hatte, so zog er sich zurück, ward von dem Könige verfolgt und in

die Flucht geschlagen. Am Sonntag den 2. October berief der Admiral Coligny die Obersten allzusammen auf einen geräumigen („raumen") Platz, der ungefähr 2 Meilen in sich begriff, 4 Meilen Weges von Poitiers, bei Moncontour nicht weit von seinem Lager. Da zog der König mit seinem Heere, das in die 100,000 Mann stark, Franzosen, Deutsche, Niederländer, Spanier, Italiäner, Schweizer und Burgunder, zu Roß und zu Fuß, geachtet ward, eine halbe Meile an den Platz hinan. Als dies Coligny sah, begehrte er von den Obersten, daß sie sich auf den Montag Morgen den 3. Oct. 1569 zu der Schlacht gefaßt machen und in weißen Hemden erscheinen sollten. Am Montag Morgen 8 Uhr waren alle auf dem Platze, sahen aber zu spät, daß die Königlichen ungleich stärker waren; denn die Hugenotten hatten nur 21 Fahnen deutsche Reiter, 26 Fahnen deutsche Landsknechte, 10 „namenlose Banden" und 3000 französische Reiter, mit 11 Geschützen, während der König an 100,000 Mann mit 24 Geschützen hatte. Das königliche Heer war in drei Treffen geordnet; dieser Stellung gegenüber konnten die Hugenotten keine gleiche Aufstellung treffen: daher fiel ein königliches Treffen in den linken ungedeckten Flügel der Hugenotten und zwang, trotz aller tapfern Gegenwehr, die Hugenotten zum Rückzuge. Die Hugenotten zogen mit 18 fliegenden Fahnen davon und setzten sich in einem Passe, eine Meile von dem Schlachtfelde, da die Nacht anbrach. Um den meisterhaften Rückzug und die Rettung eines großen Theils der deutschen Reiter hatte bekanntlich der Graf Volrath v. Mansfeld die größten Verdienste. So war die Schlacht für die Hugenotten verloren. Es sollten 8000 Mann von beiden Seiten gefallen sein. Auf dem rechten Flügel der Hugenotten, dem feindlichen Geschütz gegenüber, hatte der Oberst Heinrich vom Stein mit drei deutschen Fahnen und etlichen Wälschen gestanden, ihm zunächst der Oberst Johann v. Dirschen mit vier Fahnen und etlichen Wälschen; diese hatten auch tapfer Stand gehalten, bis ihnen die königlichen Reiter in die Seite fielen und sie zur Flucht zwangen. Bei diesem Angriff ist „Stephan von „Oertzen, des Johann von Dirschen Oberster Lieu-

„tenant" geblieben, sammt seinem Fähnrich und andern Junkern mehr; viele waren verwundet, unter andern Joachim Penz; der alte und junge Hans Barner sollten todt sein. Nach dem Berichte des Latomus dienten von den 6 Söhnen des Dietrich Hobe 3 in Frankreich und 3 in den Niederlanden; die Brüder Joachim und Curd Hobe kämpften in der Schlacht von Moncontour, in welcher Joachim todt geschossen ward; Henning Hobe starb als Lieutenant vor Rouen. Auf welcher Seite sie gestanden haben, ist nicht bekannt. Zwölf Meilen jenseit La Rochelle in einem „beflossenen Ländchen Sitten genannt" setzte sich der Admiral wieder, sammelte den übrig gebliebenen Haufen und brachte zusammen, was er konnte; er sollte noch 18 deutsche Fahnen haben, die aber „nicht allzu stark werden gewesen" sein. Mit diesen zog er weiter, bis er neue Verstärkungen aus Deutschland an sich würde gezogen haben. Er wollte nichts vom Frieden hören und den Deutschen war es unmöglich, aus dem Lande zu kommen, es sei denn über das Meer; auf diesem Wege waren denn auch die Obersten Heinrich vom Stein, Dietz von Schauenburg und Reinhold Krokow sammt dem Herrn von Heideck und etlichen Rittmeistern in Eile herausgekommen. Die Hugenotten hielten sich aber wacker. Die Königlichen hatten die Gelegenheit vorübergehen lassen, ihre Feinde zu vernichten und waren in ihren Mitteln erschöpft; sie bewilligten daher am 8. Aug. 1570 einen dritten Religionsfrieden. Endlich glaubte man die Hugenotten nur durch die Bluthochzeit der Bartholomäusnacht (24. Aug. 1572) vernichten zu können.

Nach Stephans v. Oertzen Tode bestätigte der Herzog Ulrich am 20. Junii 1570 das Leibgedinge seiner Frau, und in einem Familienberichte zu den Lehnacten vom 1. Jan. 1573 wird gesagt, daß er „vor vier Jahren in dem frankreichischen Zuge geblieben" sei.

Dagegen zogen andere Deutsche den Königlichen gegen die Hugenotten zu. So hatte Wigand Maltzan von Grubenhagen im J. 1570 bis in das dritte Jahr Rittmeisterbestallung bei dem Herzoge Johann Wilhelm von Sachsen-Weimar gehabt und im J. 1570 hatte die königliche Würde von Frankreich

diesem durch Gesandte zu erkennen gegeben, daß er ihm eine Anzahl Reiter zuführen möge. Da der Herzog Ulrich von Meklenburg aber den Wigand Maltzan erst zur Verantwortung zog, suchte dieser sich zu entschuldigen und trat in die Dienste des Herzogs Franz II. von Sachsen-Lauenburg (vgl. unten Vicke §. 23).

Stephan v. Oertzen hinterließ eine Wittwe und einen Sohn Stellan aus erster und eine Tochter Anna aus zweiter Ehe; beide Kinder waren bei des Vaters Tode unmündig. Am 14. Febr. 1571 wurden Joachim v. Karstedt zu Kaltenhof, Barthold v. Bülow zu Wedendorf und Professor Dr. Friedrich Heine zu Rostock zu Vormündern der Tochter bestellt, weil „ihres Vaters beide Brüder Kriegsleute und selten einheimisch" waren; jedoch stehen auf dem Rande des Conceptes der Vormundschaftsbestellung die beiden Brüder Joachim und Vicke v. Oertzen als Vormünder mit aufgeführt, vielleicht für den Fall, wenn sie „einheimisch" waren. Am 28. Oct. 1571 wurden Vicke v. Oertzen zu Gerdshagen, Curd v. Plessen zu Damshagen, Veit v. Lützow zu Lützow und Curd v. d. Lühe zu Pantzow zu Vormündern des Sohnes bestellt.

Stephan v. Oertzen hatte beschwerliche Schulden hinterlassen. So hatte er z. B. Antonii 1566 von seinem „Schwager" Veit v. Lützow auf Lützow 900 Mark lüb. geliehen und demselben dafür mehrere Bauern zu Radelübbe und Schossin zu Pfande gesetzt; außerdem hatte er aber noch viele bedeutende Schulden gemacht. Die Gläubiger drängten und es entstanden weitläuftige und lange dauernde Verwickelungen während der Vormundschaft des Sohnes.

Dagegen hatte Stephan v. Oertzen noch „einen Termin Kriegsbesoldung", „welche im Felde redlich verdient" und zu Fasten 1572 fällig war, zu fordern. Stephans Wittwe bewies, daß ihr verstorbener Mann ihr die Hälfte davon und eine goldene Kette laut seiner versiegelten Verschreibung „aus sonderlicher ehelicher Liebe und Treue" zugesichert habe, und erhob deshalb Klage bei dem Herzoge Johann Albrecht I., welcher für sie wiederholt Vorschreiben an den Grafen Vol-

rath von Mansfeld und den Obristen Johann v. Zersen erließ. Endlich erhob Joachim v. Oertzen das Geld und der Herzog befahl demselben im J. 1572 wiederholt, der Wittwe ihren Antheil auszuzahlen, was jedoch am 1. Jan. 1573 noch nicht geschehen war.

Stephans Wittwe Armgard v. Platen erscheint zuletzt im J. 1575.

Stephan v. Oertzen hinterließ zwei unmündige Kinder:

XI. 26. Stellan. 27. Anna.

---

22.

## Joachim.

1565 † 1598.

§. 120. G. X.

Joachim v. Oertzen, der zweite Sohn des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow, war bei seines Vaters Tode (um 1550) noch minderjährig. In der Theilung der väterlichen Güter erhielt er nach dem Berichte des Vertrages vom 22. April 1585 [CCCCXIV] das Gut („Land") Wustrow und den Hof Mühlenbek und späterhin bei der Theilung der verpfändeten und noch zu erstreitenden Güter die Anrechte an Cramonshagen und halb Gr. Eixen. Nach einer gelegentlichen Nachricht vom 29. Junii 1565 hatte der Ritter Mathias auch das Gut Wustrow an Siwert v. Oertzen verpfändet gehabt, von dem es aber sein Sohn Joachim vor dieser Zeit wieder einlösete.

In dieser Nachricht vom 29. Junii 1565 wird Joachim v. Oertzen auch zuerst genannt. Bald darauf tritt er am Tage Antonii 1566 handelnd auf, als er mit seinen Brüdern Vicke und Segeband eine Schuldverschreibung ihres Bruders Stephan auf 900 Mark lübisch für Veit v. Lützow mitbesiegelte.

Joachim stand in seinen jüngern Jahren in fremden Kriegsdiensten. Als am 14. Febr. 1571 die Vormünder für Stephans Tochter Anna bestellt wurden, kamen Stephans Brüder Joachim und Vicke einstweilen dabei nicht zur Berücksichtigung, weil diese beide „Kriegsleute und selten einheimisch seien". Ohne Zweifel diente Joachim v. Oertzen dem Herzoge Franz I. von Sachsen-Lauenburg. Am 25. Mai 1570 sandte der Herzog Franz I. „der ältere" seinen „lieben besondern Jochim v. Oertzen mit etlicher mündlichen Werbung" an den Herzog Christoph von Meklenburg mit der Bitte, ihm statt des Herzogs in seinem Anbringen Glauben zu schenken. Der Herzog Christoph war Administrator des Bisthums Ratzeburg und stand daher in vielfacher, oft nicht freundlicher Berührung mit dem Herzoge Franz (vgl. v. Kobbe Gesch. des Herzogth. Sachsen-Lauenburg, II, S. 256). Nachdem der Herzog Franz I. am 26. Julii 1570 von dem Kaiser die Belehnung erhalten hatte, wurden die Herzoge Ulrich und Christoph von Meklenburg zu kaiserlichen Commissarien ernannt, um die sachsen-lauenburgischen Urkunden wegen der Kurgerechtigkeit zu untersuchen (vgl. v. Kobbe a. a. O. S. 262). Im J. 1571 entwickelten sich die Streitigkeiten des Herzogs Franz I. mit seinen Söhnen und der Söhne unter einander (vgl. v. Kobbe a. a. O. S. 267 flgd.), in welchen Joachim v. Oertzen dem Herzoge vielleicht noch Dienste leistete. Im J. 1572 stand auch Joachims Bruder Vicke v. Oertzen bei dem Herzoge Franz II., dem Sohne des Herzogs Franz I., in Kriegsdiensten.

Bald nach dieser Zeit zog sich aber Joachim v. Oertzen nach Meklenburg zurück, da er im J. 1572 auf seinen Gütern wirkend erscheint. Hier ging er bald in die Dienste der Herzoge von Meklenburg. Im J. 1577 war er „Hofmarschall" und Rath des Herzogs Christoph von Meklenburg [CCCCXII], als der Herzog Ulrich am 26. Nov. 1577 die prompte Zahlung der Zinsen auf das von dem Ritter Mathias v. Oertzen dem Herzoge Albrecht verschaffte Capital verordnete (vgl. S. 218); der Herzog Christoph hatte ihn wahrscheinlich in seinen Beziehungen mit den Herzogen von Sachsen-Lauen-

burg kennen gelernt. In dieser amtlichen Stellung hatte er Gelegenheit, dem durch eine schwere Leidensschule gegangenen Herzoge Christoph durch Beförderung seiner Vermählung die wesentlichsten Dienste zu leisten, wenn nicht die Ernennung zum Hofmarschall, welche am Hofe eines apanagirten Prinzen ungewöhnlich war, durch die Vermählung des Herzogs hervorgerufen ward. Nachdem der Herzog seine erste Gemahlin, Dorothea von Dänemark, durch einen frühen Tod verloren hatte (1573 † 1575), dachte der Herzog nach einigen Jahren an eine Wiedervermählung mit des Königs Gustav I. von Schweden Tochter Elisabeth. Der Herzog hatte schon „bei „Zeiten weiland Königs Erich seliger Gedächtniß" um die Prinzessin geworben, die Vermählung aber „um vorgefallener „Veränderung und Verhinderung keinen Fortgang genommen." Da der Herzog aber die „damals gegen die Prinzessin gefaßte „freundliche Affection und freundliche Zuneigung nicht abgelegt „hatte", so ließ er im J. 1577 wieder um sie werben und sandte zu dem Zweck seinen Hofmarschall Joachim v. Oertzen und den Secretär Johann Köler nach Stockholm; Joachim v. Oertzen erreichte es glücklich, daß dem Herzoge die Prinzessin am 31. Aug. 1577 von dem Bruder der Prinzessin König Johann III. schriftlich zugesagt ward. Die Vermählung verzögerte sich aber bis zum 14. Mai 1581. Schon Pfingsten 1580 hatte der Herzog seinen Rath Dr. Zacharias Behling an den schwedischen Hof geschickt, um die Ehepacten zu bereden und festzustellen und in dem nächstfolgenden Winter war der Herzog mit seinem Gefolge zur Vermählungsfeier nachgegangen. Am 13. Febr. 1581 hatte sich der Herzog schon eine Zeit lang auf dem königlichen Schlosse Stekeburg aufgehalten und schickte seinen „Hofmarschall Joachim v. Oertzen auf Wustrow" nach Stockholm [CCCCXIII], um zu bewirken, daß der Herzog, „ehe Schnee und Eis aufgehen möchten", nach Stockholm kommen und nach vollzogenem Beilager mit seiner Gemahlin zu Schiffe förderlichst in sein Land abgefertigt werden könne. Am 14. Mai ward die Vermählung zu Stockholm gefeiert und am 18. Julii landete das fürstliche Ehepaar, von einer schwedischen Kriegsflotte begleitet, vor Wismar. Es ist sicher, daß

Joachim v. Oertzen während dieser langen Zeit mit großen Anstrengungen, Mühen und Sorgen dem Herzoge und dem Fürstenhause sehr wichtige Dienste leistete.

Nachdem Joachim v. Oertzen also dem Herzoge Christoph aufopfernd gedient hatte, trat er bei dem würdigen regierenden Herzoge Ulrich von Güstrow in Dienst. Wir sehen ihn als dessen Rath (vgl. Jahrb. IX, S. 170) auf der glänzenden Reise zum Reichstage nach Augsburg, 19. Febr. bis 24. Aug. 1582, begleiten (vgl. Jahrb. IX, S. 169—207). Dieses Dienstverhältniß läßt sich für diese Zeit nicht klar verfolgen und nachweisen. Michaelis 1591 bestellte aber der Herzog Ulrich den Joachim v. Oertzen fest zu seinem Rath und Hofmarschall (vgl. unten S. 253).

Besonders wichtig ist aber Joachim v. Oertzen für die Geschichte des Güterbesitzes der Linie Gammelin, da er die bedeutendsten Güter der Linie von der Familie brachte; daher ist seine Geschichte vorherrschend eine fortlaufende Geschichte von Güterveräußerungen. Er suchte sich freilich zu entschuldigen; aber seine Schulden scheinen dafür zu zeugen, daß er kein strenger Haushalter war oder doch in einem bewegten Leben zu viel gebrauchte. Am 18. Jan. 1586 schrieb er an den Herzog Ulrich, er habe von seinem Vater eine ansehnliche Summe Schulden ererbt und in der brüderlichen Erbtheilung Anfangs nicht mehr erhalten, als auf seinem Gute Wustrow den Wohnhof mit drei Hufen und drei Kossaten, alles Andere sei versetzt gewesen; da er aber seines Vaters Erb und Gut wieder frei machen wolle, so sei er gezwungen, von guten Leuten Geld aufzunehmen. Dennoch hatte er grade damals für sich 6000 Mark lübisch und 3000 Thaler Schulden gemacht.

Zuerst veräußerte Joachim v. Oertzen die ihm in der Theilung mit seinen Brüdern zugefallene Hälfte des Gutes Gr. Eixen. Sein Vater, der Ritter Mathias v. Oertzen, hatte dieses halbe Gut am 24. Nov. 1508 an die Johanniter-Priorei zu Gr. Eixen, welche die andere Hälfte des Gutes besaß, für 1000 Gulden verpfändet. Am 24. Junii 1531 hatte Mathias v. Oertzen die Wiedereinlösung des Gutes und

die allmählige Abbezahlung der Pfandsumme in bestimmten Fristen bis zum Jahre 1536 zu Gr. Eixen mit dem Prior verabredet (vgl. Jahrb. I, S. 221); aber aus der Abbezahlung des Geldes und der Wiedereinlösung des Gutes ward nichts, wahrscheinlich weil Mathias v. Oertzen in den nächsten Jahren von dem Herzoge Albrecht sehr in Anspruch genommen ward. Bald darauf griff die Kirchenreformation um sich, die Johanniter-Priorei Gr. Eixen ward aufgehoben, der Herzog Albrecht starb mit Hinterlassung großer Schulden und ihm folgte bald der Ritter Mathias v. Oertzen und hinterließ minderjährige Söhne, welche das Gut nicht wieder einlösen konnten. So ward der Pfandbesitz auf einige Zeit ganz vergessen, um so mehr als die Urkunden nicht vorlagen und während der Durchführung der Reformation lange nicht zum Vorschein kamen. Gleich nach dem Antritt der Regierung des ganzen Landes schenkte der Herzog Johann Albrecht I. am 29. Febr. 1552 seinem geliebten und geschätzten Canzler Johann v. Lucka, ohne daß man die Verpfändung gekannt hätte, oder „mit Verschweigung solcher Pfandschaft" durch Johann v. Lucka (vgl. Jahrb. I, S. 58 flgd. und 223), das ganze Gut Gr. Eixen. Da aber der Canzler bei dem Herzoge Ulrich nicht recht in Gnaden stand und den Consens desselben nicht hatte, so suchte er einen Landbesitz zu erlangen, der sicherer war. Deshalb vertauschte der Herzog Johann Albrecht am 8. Nov. 1558 den Hof Bresen und das halbe Dorf Pinnow an den Canzler gegen das Gut Gr. Eixen und brachte also das Gut Gr. Eixen wieder in herzoglichen Besitz (vgl. Jahrb. I, 61—62 und 225). Nachdem aber die Söhne des Ritters Mathias v. Oertzen ihre Volljährigkeit erreicht hatten, ermittelten sie ihre Rechte an Gr. Eixen und brachten die Ansprüche an das Gut mit zur Theilung, in welcher es dem Joachim v. Oertzen auf Wustrow zufiel. Dieser erhob denn auch sehr bald Beschwerde bei den Herzogen, da er von Schulden gedrückt ward, und forderte gegen Anerbietung des Pfandgeldes das Gut zurück. Der Herzog Johann Albrecht erkannte die Ansprüche als rechtmäßig an, wünschte aber im Besitze des Gutes zu bleiben, da er es im J. 1560 seiner Gemahlin Anna Sophie geschenkt hatte.

Am 28. Junii 1572 kaufte daher der Herzog Johann Albrecht dem Joachim v. Oertzen das halbe Gut Gr. Eixen für 4000 Gulden ab, so daß Joachim v. Oertzen den Pfandschilling von 1000 Gulden nicht zu bezahlen nöthig haben und der Herzog ihm 3000 Gulden dazu geben sollte; die 3000 Gulden sollten entweder für Joachim v. Oertzen oder für Joachim v. d. Lühe auf Buschmühlen, dem Joachim v. Oertzen 3000 Gulden schuldig war, bei dem Herzoge auf Zinsen stehen bleiben, oder auf gehörige Kündigung aus der herzoglichen Kammer ausgezahlt werden (vgl. Jahrb. I, S. 228). Nachdem der Herzog Johann Albrecht am 12. Febr. 1576 gestorben war, forderte Joachim v. Oertzen am 23. März 1577 das Geld; da aber des Herzogs unmündige Söhne durch die hinterlassene große Schuldenlast ihres Vaters in großer Bedrängniß waren, so befriedigte der Herzog Ulrich unter Zustimmung seiner Mitvormünder den Joachim v. Oertzen dadurch, daß er ihm am 26. Nov. 1577 für die schuldigen 3000 Gulden Capital und 900 Gulden verfessener Zinsen und gegen Zubezahlung von noch 1000 Gulden das im 15. Jahrh. oft an Adelige auf Lebenszeit vergebene, den Herzogen gehörende und nach 1552 zum Amte Doberan gelegte Gut Körchow im Amte Bukow, zu dem Werthe von 4900 Gulden, zu Besitze abtrat, jedoch unter der Bedingung, daß wenn die Herzoge zu ihren mündigen Jahren kommen würden, es ihnen frei stehen solle, das Gut Körchow gegen Abtretung von halb Gr. Eixen wieder an sich zu nehmen. Am 12. Dec. 1577 bestätigte der Herzog Ulrich diesen Tausch. Da aber die Herzoge des Gutes Gr. Eixen „nicht entrathen konnten" und es nicht theilen wollten, so blieb Joachim v. Oertzen im Besitze des Gutes Körchow. Am Tage Antonii 1587 mußte Joachim v. Oertzen seinem „Schwager" Christoph v. Cölln auf Gr. Grabow das Gut Körchow für 1000 Thaler zu Pfande setzen, welche dieser ihm zur Errettung seiner Ehre und Erhaltung seines guten Namens und Glaubens geliehen hatte, worauf der Herzog Ulrich am 13. März 1587 den Consens ertheilte. Als Joachim v. Oertzen immer schwerer von seiner Schuldenlast gedrückt ward, so verkaufte er am 23. Febr. 1591 das Gut Körchow an den Canzler und

Professor Dr. Michael Grasse zu Rostock für 6000 Gulden. Am 14. April („Ostern") 1591 bestätigte der Herzog Johann alle früheren Verträge über Gr. Eixen und Körchow und verlieh dem Joachim v. Oertzen, „weil er seine Güter zu veräußern gedrungen ward", das Gut Körchow zu Erbe und Eigenthum, wodurch er in den Stand kam, es zu veräußern, zugleich aber auch Gr. Eixen bestimmt von der Familie v. Oertzen kam. Michael Grasse starb am 4. Jan. 1594 und hinterließ das Allodialgut seiner Wittwe und seinen unmündigen 5 Söhnen und 4 Töchtern. Als nach dem am 23. Febr. 1599 erfolgten Tode der Wittwe Grasse das Gut Körchow großer Schulden halber verkauft werden sollte, entstanden bei der herzoglichen Regierung bei Ertheilung des Consenses noch große Irrungen, weil Joachim v. Oertzen das Gut acht Wochen früher verkauft hatte (23. Febr.), als das Gut zum erblichen Eigenthum verliehen war (14. April), und der Herzog Ulrich hatte im J. 1600 Neigung, es zu den Domainen zurückzukaufen, bis er am 27. Oct. 1600 den Verkauf bewilligte. Die Erben des Dr. Grasse verkauften das Gut an Hans v. Pressentin auf Prestin, der es im J. 1612 dem Herzoge Adolph Friedrich zu Kauf anbot und am 13. Jan. 1613 dem Bürger Jacob Schabbeld zu Wismar, erbgesessen zu Blumenhof, für gleich baar bezahlte 11,000 Gulden verkaufte. Seit dieser Zeit ist das Gut Körchow im Privatbesitze außerhalb der Familie v. Oertzen geblieben.

Das Gut Cramonshagen, welches im 16. Jahrh. häufig der Cremonsche Hagen, in der zweiten Hälfte desselben Jahrhunderts noch öfter nur „der Hagen" genannt wird, war seit der Mitte des 16. Jahrhunderts ununterbrochen verpfändet, obgleich es ebenfalls ununterbrochen den Frauen zum Leibgedinge verschrieben war. Schon der Ritter Mathias v. Oertzen hatte schon vor dem J. 1530 „seiner ehelichen Hausfrau das Gut zur Leibzucht" verschrieben (vgl. oben S. 223) und sein Sohn Joachim wird dasselbe gethan haben, da dessen Hausfrau zu einem Verkaufe aus diesem Gute im J. 1571 ihre Zustimmung gab. Dennoch war das Gut lange Zeit hindurch zu Pfande ausgethan. Zuerst (um das J. 1550)

verpfändete des Ritters Mathias Wittwe das Gut an Joachim v. Halberstadt für die 1470 Mark, welche dieser dem Reimar Penz auf Redevin aus des Ritters Mathias Bürgschaft für den Herzog Albrecht hatte bezahlen müssen [CCCCIX]. Joachim v. Halberstadt hatte am 17. Oct. 1571 das Gut „etliche zwanzig Jahre innegehabt". Am 19. Jan. 1571 verkaufte Joachim v. Oertzen mit Bewilligung seiner Gemahlin Anna v. Lützow dem Rath der Stadt Wismar 1500 Eichen aus Cramonshagen, worüber langer Streit entstand, indem die Herzoge die Verkleinerung der Waldung auf dem Lehngute verboten. Im J. 1573 verpfändete Joachim v. Oertzen zu Wustrow „seiner bedränglichen Schulden halber, zur Verhütung „seines Schimpfs und Schadens und zur Erhaltung gutes „Glaubens", sein Lehngut Cramonshagen auf 10 Jahre an Adam Penz für 4000 Gulden. Am 29. Junii 1573 gaben die v. Oertzen von der roggower Linie ihre Zustimmung zu dieser Verpfändung, weil ihnen das Gut zu weit abgelegen sei, um es selbst übernehmen zu können; am 8. Julii 1573 ertheilte der Herzog Ulrich und am 9. Oct. 1573 der Herzog Johann Albrecht seinen Consens zu der Verpfändung. Bald nach Ablauf der Pfandjahre mußte Joachim v. Oertzen das Gut wieder verpfänden. Er hatte „etliche Schulden" gemacht, zu deren Abtragung er von Katharine v. Restorf, des Balthasar Both auf Rankendorf Wittwe, 6000 Mark lübisch hatte aufleihen und ihr dafür das Gut Wustrow hatte verpfänden müssen. Ferner hatte er von dem Herzoge Christoph 3000 Thaler geliehen, welche er wieder abtragen mußte. Hiezu verpfändete er Antonii 1586 dem Joachim Fineke auf Karow, Hauptmann zu Gadebusch, sein Dorf Cramonshagen auf 5 Jahre für 6000 Mark lübisch und der Herzog Ulrich gab dazu am 19. Jan. 1586 seinen Consens.

Die Verlegenheiten Joachims v. Oertzen wurden immer größer. Im J. 1572 hatte er Gr. Eixen verkauft und im J. 1587 das dafür gewonnene Gut Körchow verpfändet, welches er im J. 1591 verkaufen mußte; im J. 1573 verpfändete er auch das Gut Cramonshagen. Endlich mußte er auch zur Veräußerung des alten Hauptstammlehns Wustrow schreiten.

Schon sein Vater Mathias hatte das Gut Wustrow dem Sivert v. Oertzen von der roggower Linie „versetzt", er es aber vor dem J. 1565 wieder eingelöset. Schon im J. 1565 beabsichtigte Joachim, das „Land" Wustrow an den Herzog Johann Albrecht zu verkaufen; der Herzog schickte auch Commissarien zur Besichtigung des Gutes ab: aus dem Handel ward aber nichts. Die Commissarien berichteten am 29. Junii 1565 über den Zustand des Gutes und schilderten ihn als nicht zufrieden stellend; das Korn stand schlecht, die Ritterhufen waren gering an Zahl und die Größe derselben war nicht bestimmt. Zu dem Hofe gehörten nur 4 Ritterhufen und 3 Hufen von wüsten Bauererben; die Hufen hatten nach Aussage der Bauern alle nur eine Größe von 30 Morgen. Nach dem Fehlschlagen dieser Verhandlungen glaubte Joachim wohl das Gut halten zu können, da er seine Wohnung mit Wällen und Gräben befestigte; die Gräben und Wälle umgaben im Viereck die Wohnung, an jeder Ecke war ein Rundeel, im Aufgange eine Zugbrücke. Aber schon bald nach dem Angriffe der Arbeit hatten sich die Arbeiter wegen der „Pest" und wegen Geldmangels verlaufen.

Im Antonii-Termine 1586 war aber Joachims Verlegenheit groß geworden. Er hatte mit geringen Mitteln angefangen und immer mehr Schulden gemacht. Er hatte von dem Herzoge Christoph 3000 Thaler geliehen, zu deren Abtragung ihm Joachim Fineke auf Karow Antonii 1586 gegen Verpfändung des Gutes Cramonshagen 6000 Mark lübisch lieh. Er hatte aber außerdem noch „etliche Schulden" gemacht, die er abzutragen hatte. Hiezu liehen ihm Katharine v. Restorf, die Wittwe des Balthasar Both auf Rankendorf, und deren unmündige Kinder auch 6000 Mark lübisch, wofür er denselben das Gut Wustrow mit Bewilligung des Herzogs Ulrich verpfändete. Obgleich er nun auch Antonii 1587 das Gut Körchow verpfändete, so verpfändete er doch noch an demselben Tage dem Otto v. d. Lühe auf Püttelkow für 600 Gulden zwei Bauerhöfe zu Wustrow, „zur Abwendung seiner gro„ßen Ungelegenheit und zur Erhaltung seiner Ehre und seines „guten Namens, indem damals Bürgen übel aufzubringen"

waren; der Herzog Ulrich bewilligte am 13. Mai diese Verpfändung. Als aber dennoch Joachim v. Oertzen von seinen Gläubigern hart bedrängt ward, lieh ihm „in seiner hochdringenden Noth" der Herzog Ulrich die Summe von 6666 Gulden 16 ßl. gegen Verpfändung des Gutes Wustrow, wozu der Herzog Johann am 6. März 1590 seinen Consens gab. Endlich mußte er aber zum Aeußersten schreiten und das Gut Wustrow verkaufen. Schon am 20. Sept. 1590 schrieb er „in hoher dringender Noth" an den Herzog Ulrich, daß er „wegen seiner hohen Beschwerung und Schuldenlast zur Errettung seiner Ehre und seines guten Namens" sein Gut Wustrow im nächsten Antonii-Termine „veräußern und verlassen müsse"; er habe jedoch noch „ein Stück Gutes Körchow genannt", das freilich erst einzulösen war, „auf welchem er „gerne die Zeit seines Lebens wohnen bleiben möchte"; da aber zum Gute Körchow kein Dienst gelegen und dasselbe deshalb mit Beschwer zu bewirthschaften sei, so bat er den Herzog, ihm das in der Nähe liegende, zum Stifte Schwerin (oder „Bützow") gehörende „Dörflein Zarfzow", in welchem „zwei „Pflugdienste und zwei Kossaten wohnten", zu Kaufe zu geben (vgl. oben S. 8 flgd.). Der Herzog erwiderte ihm am 24. Sept. 1590, daß „seiner Bitte nicht könne statt gegeben werden." Als ihm auch diese Aussicht fehlgeschlagen war, sah er sich endlich wegen „seiner obliegenden großen ansehnlichen Schulden, darein er gerathen", genöthigt, sein Gut Wustrow zu verkaufen; am Tage Martini 1590 verkaufte Joachim v. Oertzen auf Wustrow, Hagen und Körchow erbgesessen, mit Rath, Bewilligung, Wissen und Willen seines Sohnes Mathias v. Oertzen zu Hagen, seines Bruders Vicke v. Oertzen zu Gammelin und seines Vetters Jaspar v. Oertzen zu Roggow, Gerdshagen, Clausdorf und Gorow, seinem „Schwager" Mathias Vieregge zu Gr. Belitz „sein Land, Leute und Gut Wustrow" mit „allen alten und neuen Gerechtigkeiten, Diensten und Schiff„fahrten u. s. w." für 33,333 Gulden 8 Schilling lübisch zu einem beständigen ewigen Erbkaufe, und die Herzoge Ulrich und Johann gaben dazu am Dienstage nach Antonii 1591 ihren Consens. Auf den 14. Jan. 1594 ward Mathias Vier-

egge zur Ableistung des Lehneides geladen. — Am 23. Febr. 1591 mußte Joachim v. Oertzen auch das Gut Körchow verkaufen. — Auf diese Weise kam das „uralte Stammlehn Wustrow" von der örtzenschen Familie, wenn es auch Joachims jüngerer Sohn Stephan, welcher zur Zeit des Verkaufes außerhalb Landes war und seine Zustimmung nicht gegeben hatte, in einem Rechtsstreite gegen Mathias Vieregge vor dem Hof- und Landgerichte 1600—1603 versuchte, das Lehn zu revociren; die Klage scheint an der Forderung einer Cautionsleistung durch Stephan gescheitert zu sein.

Joachim v. Oertzen hatte endlich noch eine schwache Aussicht auf die Güter Helpte und Milzow im Stargardischen. Am 6. Dec. 1545 hatte Bernd v. Oertzen das Gut Helpte mit Zubehörungen in Milzow an seinen Vetter Jacob v. Oertzen auf Grammertin mit landesherrlicher Genehmigung und Zustimmung seiner Agnaten verpfändet und am 11. Nov. 1554 dieselben Güter an denselben verkauft. Da Bernd v. Oertzen auf Helpte der Linie Gammelin angehören sollte, so wollten die Söhne und Enkel des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow den Kauf ungültig machen, weil Helpte ohne Einwilligung der Agnaten und ohne Consens der Landesherren verkauft worden sei. In der Theilung der Güter waren nach der Urkunde vom 22. April 1585 [CCCCXIV] auch die verpfändeten und die zu erstreitenden Güter zur Theilung gekommen und die Anrechte auf Helpte an Stephan v. Oertzen gefallen. Nachdem von den vier Brüdern der älteste Stephan im J. 1569 und der jüngste Segeband um das J. 1573 gestorben waren, verglich sich Stephans Sohn Stellan mit seinem Oheim Joachim auf Wustrow am 22. April 1585 dahin, daß Stephan, in der Erwägung, daß er des Gutes Helpte „ohne „besondere Rechtfertigung und so bald nicht mächtig werden „könne", seinem Oheim Joachim die Rechte auf Helpte abtrat, wogegen dieser ihm den Hof Mühlenbek einräumte, für den Fall aber, daß Joachim v. Oertzen im Rechte obsiegen und das Gut Helpte erstreiten würde, sich verpflichtete, seinem Brudersohne Stellan 3000 Mark lübisch zu zahlen, jedoch nur dann, wenn Stellan noch am Leben sein sollte. Im August

1588 bewirkte es auch wirklich Joachim v. Oertzen, daß in seinem, seines Bruders Vicke und seines Neffen Stellan Namen die Klage gegen Jacobs v. Oertzen auf Helpte Söhne und Enkel wegen Wiederabtretung des Gutes Helpte vor dem herzoglichen Hof- und Landgerichte eingeleitet ward. Der Proceß war in erster Instanz im J. 1597 zum Urtheil gediehen und es erfolgte der Bescheid, daß, wenn die Partheien die im Processe producirten Urkunden recognosciren und Urtheilsgeld und Botenlohn erlegen würden, die Acten verschickt werden sollten. Da starb Joachim v. Oertzen im Jahre 1598. Am 20. Oct. 1598 erging, da es jetzt „an Klägern mangele", eine Citation an Joachims Erben, einen Procurator zu bestellen und das Urtheilsgeld zu erlegen, und hiemit schließen die Acten. Ohne Zweifel ist der Proceß, den die Beklagten einen „ganz muthwilligen" nennen, liegen und ohne allen Erfolg geblieben.

So hatte Joachim v. Oertzen im Anfange des J. 1591 alle seine Güter verloren. Wustrow, Gr. Eixen und das für Gr. Eixen erworbene Körchow hatte er verkauft, Mühlenbek hatte er für das sehr unsichere Recht auf Helpte an seinen Brudersohn Stellan vertauscht, und so war ihm nur das Lehn des verpfändeten Gutes Cramonshagen geblieben; die Aussichten auf die zu erstreitenden Güter waren sehr mißlich. Daher sah er sich genöthigt, bei dem Herzoge Ulrich eine feste Dienstbestellung anzunehmen, was er auch wohl aus Neigung und Beruf gerne that, da er in guten Verhältnissen zu dem Herzoge stand und im Hofdienst Erfahrung und Gewandtheit genug besaß. Am 29. Sept. 1591 bestellte der Herzog Ulrich den „Joachim v. Oertzen zu Cramonshagen" zu seinem Rath und Hofmarschall, auch zum Dienst in „Kriegshandlung" und versprach ihm zur jährlichen Besoldung für den Rathsdienst 200 Thaler und für das Hofmarschallamt 100 Thaler, „Hofkleidung, Futter und Mahl" für 5 Personen und 5 Pferde, Erstattung beweislichen Pferdeschadens und aufgewandter Zehrungskosten [CCCCXV]. Dieses Dienstverhältniß dauerte jedoch nicht lange, da Joachim v. Oertzen wohl schon alt war und ungefähr 7 Jahre später starb; am 8. Jan. 1596 war der Herzog Ulrich „in Mangel eines Hofmarschalls": in dem-

selben Jahre ward Lorenz v. Thüngen aus Preußen vorgeschlagen und angenommen, welchem am 29. Sept. 1599, nach Joachims v. Oertzen Tode, Abraham v. Winterfeld im Amte folgte (vgl. Lisch Gesch. des Geschl. Hahn II, S. 340 flgd.).

Gleich nach seiner Bestellung zum Hofmarschall gelangte Joachim v. Oertzen jedoch wieder zu einem größern Grundbesitze, indem er durch Vertrag das Familiengut Schoffin erwarb. Von den vier Brüdern Stephan, Joachim, Bicke und Segeband, Söhnen des Ritters Mathias v. Oertzen, war Stephan auf Schoffin Radelübbe, Rothe Krug und Rothe Mühle im J. 1569 und sein einziger Sohn und Lehnserbe Stellan vor dem J. 1591, der schwächliche Segeband aber, dem das Gut Mühlenbek eingeräumt war, um das J. 1573 gestorben. Nach Segebands Tode hätte das Gut Mühlenbek wohl an das Haus Schoffin zurückfallen müssen; aber Joachim hatte es während Stellans Minderjährigkeit an sich genommen, da er sich wiederholt, z. B. Antonii 1578, auf Wustrow, Cramonshagen und Mühlenbek erbgesessen nennt. Joachim suchte darauf in den sichern Besitz des Gutes zu kommen, indem er Ostern 1585 mit Stellan einen Vertrag [CCCCXIV] schloß, nach welchem Stellan seinem Oheim Joachim den zum Hause Schoffin gehörenden Hof Mühlenbek abtrat, wogegen dieser den Proceß wegen des zu erstreitenden Gutes Helpte übernahm (vgl. S. 252). Durch diese Erbfälle waren zuletzt zwischen den beiden übrig gebliebenen Brüdern Joachim auf Wustrow und Bicke auf Gammelin Streitigkeiten wegen der Theilung der angefallenen Güter, namentlich wegen des Gutes Mühlenbek, entstanden. Im J. 1587 sagt Joachim, als er Körchow verpfändet, daß „er mit seinem Bruder „Bicke nun etliche Jahre partheiisch gestanden habe, wel„ches er in seinen Würden lasse", aber er ließ deshalb die Verpfändung des Gutes Körchow von ihm nicht consentiren. Endlich am 20. Oct. 1591 verglichen sich die beiden Brüder Joachim und Bicke vollständig [CCCCXVI] dahin, daß Joachim Hof, Gut und Dorf Schoffin sammt den vier Pflugdiensten in Radelübbe, den Rothen Krug und die halbe Rothe Mühle und Bicke den Hof Mühlenbek mit

den dazu gehörenden Bauern erhielt, wogegen Joachim sich verpflichtete, alle auf dem Gute Schossin haftenden Schulden zu übernehmen, und Vicke alle Ansprüche und Forderungen fallen ließ.

Das Jahr 1591 war ungemein reich an Begebenheiten für Joachim v. Oertzen. Antonii 1591 mußte er sein Hauptgut Wustrow verlassen und am 23. Febr. 1591 das Gut Körchow verkaufen und damit zugleich Gr. Eixen aufgeben. Nach diesen bedeutenden Ereignissen hatte er das Glück, Michaelis 1591 zum Hofmarschall des Herzogs Ulrich ernannt zu werden, und vier Wochen später, am 20. Oct. 1591, gewann er durch Vertrag mit seinem Bruder das alte Familiengut Schossin und kam dadurch zu einem angemessenen Landbesitze. So schien sich seine Lage wieder günstig gestalten zu wollen und es verflossen ihm auch, wie es scheint, einige weniger bewegte Jahre in Ruhe. Aber das Glück dauerte nicht lange. Am 22. Jan. 1597 mußte er, Joachim v. Oertzen zu Schossin und Cramonshagen erbgesessen, zur Abwendung seines „vor Augen ste„henden großen Schimpfs und Schadens und zur Errettung „seines ehrlichen guten Namens", mit ausdrücklicher Bewilligung seiner beiden Söhne Mathias und Stephan, dem Herzoge Ulrich sein Gut Schossin zu „einem rechten Kaufe" für 12,000 Gulden auf 12 Jahre „zur wiederkäuflichen Veräußerung" verkaufen und denselben „in die wirkliche Possession setzen." Am 2. Oct. 1601 verehrte der Herzog Ulrich seiner Gemahlin Anna in Betrachtung ihrer großen Liebe und Treue die Güter Schossin und Beckentin, die er „mit seinem eigenen wohl ge„wonnenen Gelde an sich gebracht" und die bei ihren Leibgedingsämtern Walsmühlen und Grabow lagen; der Herzogin waren nämlich die Aemter Grabow, Grevismühlen, Gorlosen und Walsmühlen zum Leibgedinge verschrieben. Daher lösete auch Joachims v. Oertzen Sohn Stephan nach des Herzogs Tode das Gut Schossin von der Herzogin Anna wieder ein.

Joachim v. Oertzen überlebte diesen Schlag nicht lange. Am 19. Julii und 17. Oct. 1597 wird er in dem Processe wegen des Gutes Helpte noch als lebend aufgeführt; am 5. Oct. 1598 war er aber schon todt, da in demselben Pro-

ceſſe geſagt wird, daß es wegen ſeines Todes an einem Kläger mangele, und am 20. Oct. 1598 wurden ſeine Erben aufgefordert, in dieſem Proceſſe einen Procurator zu beſtellen. Am Dienſtage in den Oſtern 1599 mutheten ſeine Söhne ihre väterlichen Lehen, nachdem „verfloſſener Zeit ihr lieber und in Gott „ruhender ſeliger Vater Joachim von Oertzen Todes verfallen" war. Joachim v. Oertzen ſtarb alſo gewiß im J. 1598.

Die Gemahlin Joachims v. Oertzen war Anna v. Lützow, wahrſcheinlich aus dem Hauſe Lützow, welcher das Gut Cramonshagen zum Leibgedinge verſchrieben war, da Joachim am Tage Antonii 1571 „für ſich und ſeine liebe Hausfrau Anna Lützowen" und mit Rath ſeiner Brüder Vicke und Segeband, „zuvörderſt um ſeines, ſeiner lieben Hausfrau und ihrer beider Erben Nutzens willen", 1500 Eichen aus dem Holze zu Cramonshagen für 2000 Mark lübiſch an den Rath der Stadt Wismar verkaufte. Am Tage Antonii 1566 nennt Joachims Bruder Stephan den Veit v. Lützow zu Lützow ſeinen „Schwager", mit dem er wohl auch dadurch verwandt war, daß Wipert v. Lützow auf Thurow eine Schweſter ſeiner erſten Frau, geborenen v. Pleſſen, zur Frau hatte. Anna v. Lützow überlebte ihren Gemahl, da ihr Sohn Stephan am 21. Junii 1599 an den Herzog Ulrich berichtet, daß „ſeine „geliebte Mutter wegen ihrer fraulichen Gerechtigkeit, auch „ſeines Vaters Creditoren an dem Gute Cramonshagen merklich intereſſirten, ſo daß ſein und ſeines Bruders Theil daran „der geringſte" ſei. Sie war ſicher ſeit 1567 vermählt, da ſie, „Jochims von Oertzen zu Wuſtrow eheliche Hausfrau", in dieſem Jahre in dem Proceſſe ihres Schwagers Vicke v. Oertzen gegen Magdalene Vieregge, wegen Injurien, als Zeugin abgehört ward. Nach ihres Gemahls Tode wohnte ſie auf dem Gute Cramonshagen, das ſie gegen das Ende ihres Lebens „über 40 Jahre" als Leibgedinge „genutzt" hatte. Sie lebte noch am 15. Dec. 1610 „in hohem und ſchwerem Alter „als alte Matrone", unter dem Beiſtande „ihres Vormundes „Chriſtoph von Hagen auf Hanshagen" und ihres Schwiegerſohns Buſſe v. Penz, welcher mit ſeiner Frau nach dem Tode

ihres Vaters nach Cramonshagen gezogen war, um der Wittwe in der Haushaltung beizustehen.

Joachim v. Oertzen hinterließ 3 Kinder:

XI. 28. Mathias III. 29. Stephan II. 30. Eine Tochter N.N.

---

## 23.

## Vicke IV.

### 1562—1612.

§. 121. G. X.

Vicke v. Oertzen, der dritte Sohn des Ritters Mathias v. Oertzen auf Wustrow, war bei seines Vaters Tode noch minderjährig. Nach erlangter Volljährigkeit erhielt er in der Theilung der väterlichen Güter nach dem Berichte des Vertrages vom 22. April 1585 [CCCCXIV] das Gut Gammelin und die Lehnsansprüche an die Hälfte von Scharfstorf mit Beidendorf und an Kl. Tessin. Dieser Vicke v. Oertzen ist wohl von dem gleichzeitigen Vicke v. Oertzen aus dem Hause Roggow auf Gerdshagen zu unterscheiden, welcher im J. 1578 starb.

Vicke v. Oertzen war Kriegsmann und diente daher in seinen jüngern Jahren häufig in fremden Landen. Am 14. Febr. 1571 wurden bei der Vormundschaftsbestellung für die Tochter Stephans v. Oertzen auf Schossin dessen Brüder Joachim und Vicke übergangen, weil sie „Kriegsleute und selten einheimisch" seien.

Vicke v. Oertzen erscheint zuerst im J. 1562 in einem Zerwürfniß mit dem Fräulein Magdalene v. Vieregge von Wokrent. In einer Gesellschaft in der Familie v. Oertzen sollte diese den Vicke v. Oertzen einen Schelm und Böswicht genannt haben, der seines adeligen Herkommens nicht werth sei; Vicke v. Oertzen sollte ihr dagegen grobe Leichtfertigkeiten nach-

gesagt haben. Diese unangenehme Sache, welche wohl nur aus unbesonnenen jugendlichen Unterhaltungen hervorgegangen war, kam zu einem ernsthaften Processe, in welchem im J. 1567 viele Zeugen abgehört wurden.

In ernster Wirksamkeit tritt Vicke v. Oertzen zuerst in den J. 1568 und 1569 auf, als die niederländischen Unruhen ausgebrochen waren.

Nachdem der Herzog Alba im August 1567 in den Niederlanden angekommen war und die Bewegungen und Grausamkeiten hier überhand nahmen, drohten die Gewaltthätigkeiten auch die benachbarten Länder anzustecken, namentlich da beide Partheien ihre Heere aus Deutschland zu verstärken suchten und „allerhand Gefahr, Schaden und Nachtheil zum höchsten daraus zu besorgen" stand. Daher erließen die Herzoge Johann Albrecht und Ulrich von Meklenburg, „in Kraft des am „3. Octbr. 1568 zu Braunschweig verabschiedeten Kreis-Edicts", am 15. Octbr. 1568 eine schon früher wiederholt erlassene Patentverordnung, „daß keiner von ihren Unterthanen, Land„sassen und Lehnleuten, weder zu Roß, noch zu Fuß, sich in „fremder Herren Dienst aus ihren Landen und Gebieten „begeben, sondern mit seinen Knechten und Pferden, auch für „sich selbst sich anheim enthalten und in guter Bereitschaft „und Wartung sitzen und keiner bei Verlust aller Habe und „Güter, auch Leibes und Lebens, ohne ausdrückliche Erlaubniß, „in irgend eines fremden Potentaten und Herrn Dienst oder „Bestallung, vornämlich dem ausgekündigten allgemeinen Re„ligionsfrieden zuwider, sich begeben" solle. Die beiden Herzoge waren in ihrem ernsten und glühenden Eifer für die lutherische Kirche sehr besorgt um die Erhaltung des Friedens und der Freiheit in der Kirche. Namentlich bat der Herzog Ulrich am 26. Oct. 1568, den Druck der Patentverordnung zu beeilen, da „hin und wieder in ihren Fürstenthümern und „Landen allerlei Bewerbung vorhanden sei und zuvörderst ihrer „zwei, Christoph Schencke und Paul Wobeser, dem Duc „de Alba zum besten eine ziemliche Anzahl Reiter aufzubringen „im Werke sein sollten", und bemerkte dabei sehr richtig, daß obwohl solche Bewerbungen „der Kön. Majestät zu Hispa-

„nien Namen führten, doch leichtlich zu erachten stehe, was „darunter verborgen sei, denn wenn der Duca de Alba an „Leuten so stark und mächtig werden sollte, daß er die Ueber„hand behielte, so wäre zu besorgen, es würde solch Spiel die „Evangelischen auch treffen." — Christoph Schencke wird im J. 1578 „Freiherr zu Tautenburg und Pfandherr zu Schulenburg" genannt (vgl. unten S. 266). — Besonders griffen die Herzoge den Barthold v. Lützow auf Lützow, einen bewährten Kriegsmann, der im Kriegshandwerke alt ward, und den „Stephan von Oertzen auf Gammelin" an, welche sich „ohne „Erlaubniß von einem ausländischen Potentaten zu Kriegs„handlungen hatten bestellen lassen und sich damals abermals „mit etlichen Knechten und Pferden sollten gerüstet haben, in „Meinung, in kurzem einem fremden Potentaten zuzuziehen, „und verboten ihnen am 1. April 1569 bei Verlust aller „Lehen, Erb und Güter, in keines fremden Herrn Kriegs„gewerbe Bestallung anzunehmen". Der Sinn der Herzoge geht aus den im Concept freilich durchstrichenen Worten hervor, daß es verlaute, daß sie „zum Duca de Alba reiten woll„ten, der die reine Lehre und erkannte Wahrheit göttlichen „Wortes unter anderm Schein zu verfolgen und auszurotten „und dagegen des Antichrists Abgötterei anzurichten Vorhabens „sein solle." Barthold v. Lützow erwiederte, daß er das fürstliche Verbot nicht kenne, sondern weil er fast von Jugend auf sich des Krieges beflissen, um sich in seinem Stande der Ehre gemäß zu erhalten, indem seine Gelegenheit im Lande geringe sei, er vor etlichen Jahren eine jährliche Pension von der K. Majestät zu Spanien erlangt und darauf zur Beschützung der Erbländer einige Pferde in die Niederlande geschickt, sich auch nachmals neben einem Fürsten des niedersächsischen Kreises (Herzog Franz II. von Sachsen-Lauenburg) auf einige Reiter habe bestellen lassen. Die Herzoge verboten ihm aber am 8. Mai 1569 noch einmal die Theilnahme an diesem Zuge zur Unterstützung des Herzogs Alba. Bemerkenswerth ist hiebei jedoch, daß der Herzog Carl von Meklenburg im J. 1572 dem Prinzen Wilhelm von Oranien gegen den Herzog Alba zu Hülfe zog (vgl. Jahrb. IX, S. 106) und „im J. 1572 vor Bergen

„in Hennegau eine Summa Pferde hatte unter dem Herrn „General Obristen Grafen Wilhelm von Nassau und den „Staaten von Holland".

Stephan v. Oertzen, von welchem bei dieser Gelegenheit nicht weiter die Rede ist, achtete insoferne das fürstliche Gebot, als er nicht dem Herzoge Alba, sondern den Hugenotten in Frankreich zuzog, in deren Dienst er im J. 1569, wahrscheinlich am 3. October, den Tod fand. Es ist aber auch möglich, daß in dem fürstlichen Schreiben ein Versehen herrscht; das fürstliche Schreiben ist im Concept an Stephan v. Oertzen zu „Gammelin" gerichtet, während dieser zu Schossin wohnte; dagegen wohnte zu Gammelin sein Bruder Vicke v. Oertzen, welcher allerdings dem Herzoge von Alba zugezogen war und in dem fürstlichen Schreiben gemeint sein mag.

Vicke v. Oertzen war aber schon vorher dem Herzoge Alba zugezogen und blieb noch einige Zeit in dessen Dienst, als derselbe im J. 1568 sechs Fahnen deutscher Hofleute abdankte. Am 13. Januar 1569 schrieb der Herzog Ulrich an den Kurfürsten von Sachsen folgendes: „Es sind diese Tage „etlich unserer Unterthanen und Lehnleute, so sich dem Duca „de Alba zum Dienst verpflichtet gehabt, wiederum anheim „kommen, welche wir um allerhand verlaufene Geschichten und „feindliche Handlungen haben befragen lassen, von denen be„kommen wir diesen Bericht, wie sie und neben ihnen sechs „ganzer Fahnen deutscher Hofleute von dem von „Alba auf einmal entlassen („erlaubt"), auch gar wohl „abgelegt und bezahlt worden, und also gar wenig deutscher „Reiter, außer etlichen, so mit unter die andern Fahnen gesteckt „worden, bei demselben Haufen geblieben, denen aber, so Hans „Berner hinein geführt, obwohl sie gleich den andern abgedankt, „solle dennoch Vertröstung geschehen sein, woferne sie vierzehn „Tage nach geschehener solcher Abdankung aufwarten würden, „daß ihnen vom Duc von Alba weitere Bestellung solle ver„schaft werden, wissen aber keinen Bescheid, was daraus er„folget, und zeigen ferner an, daß sowohl auf der einen, als „auf der andern Seite sich ihres Wissens dermaßen keine „feindliche Handlungen begeben und zugetragen, daß einer dem

„andern merklichen Abbruch erzeigt, weil ihnen nicht mehr als „allein drei Personen, eine vom Adel und die andern zwei „Kriegsknechte bewußt, so von Deutschen auf ihrer Seite ge„blieben, und soll weiter nicht ohne sein, daß wohl beide Hau„fen gegen einander gehalten, auch wohl einer zum andern ge„schossen, aber gleichwohl sich keiner aus dem Vortheil begeben „wollen, und berichten weiter, als sie abgedankt und auf der „Reise heimwärts gewesen, daß sie gewisse Zeitungen hinterher „bekommen, welchergestalt der Duc von Alba fast in äußerster „Noth gelegen und wo er fast nicht gar todt sei, es doch mit „ihm auf den letzten Zügen gestanden habe."

Vicke v. Oertzen war beim Herzog von Alba geblieben und diente demselben noch eine Zeit lang als Rittmeister, zu derselben Zeit, als auch der junge Herzog Franz II. von Sachsen-Lauenburg, dem Barthold v. Lützow und Vicke v. Oertzen sehr anhingen, in spanischen Diensten stand. Denn der Herzog Alba verwandte sich am 29. März 1569 bei dem Herzoge Johann Albrecht für die ihm dienenden meklenburgischen Lehnleute, wie Barthold v. Lützow und Vicke v. Oertzen, und meldete zugleich, daß er kürzlich ein vom Papste in der Christnacht geweihetes Schwert zur Verbreitung des wahren Glaubens empfangen habe (vgl. Jahrb. VIII, S. 102, Note). Von dem Herzoge von Alba ward den meklenburgischen Herzogen auch am 15. Aug. 1569 durch einen Boten ein Schreiben überbracht, das aber nicht mehr vorhanden ist. Der weitere Verlauf ist nicht bekannt; jedoch geht aus dem ganzen Verlaufe der Begebenheiten hervor, daß Vicke v. Oertzen, da keine Schreiben von ihm vorliegen und er selbst auch nicht weiter genannt wird, dem Herzoge Alba schon zugezogen war, als das landesherrliche Abmahnungsschreiben vom 15. Oct. 1568 erlassen ward.

Einige Zeit darauf trat Vicke v. Oertzen zum zweiten Male in die Dienste des Herzogs Alba. Denn als in den Jahren 1574 und 75 wieder alte Bestallungen und Werbungen im spanischen Heere aufgelöset wurden, wird Vicke v. Oertzen als einer der ersten Rittmeister aufgeführt. Dies geht hervor aus einem „Verzeichniß des nachstehenden Restes wegen der

„beiden Anno 1574 und 75 abgedankten Fahnen (auch „die alten Fahnen" genannt), was der Oberster davon einem „jeden schuldig, auch was darauf Versicherung." Nach diesem Verzeichnisse war die Krone Spanien diesen Reitern die Summe von 101,649 Fl. 12 ßl. schuldig und zwar in folgenden zwei Posten: Erstens hatten sie 48,000 Fl. zu fordern; hiefür hatte die „Königliche Majestät von Spanien" ihnen das Amt Montfort in der Weise verschrieben, daß, so lange die Summe unbezahlt sei, der Obrist sammt den Reutern Macht haben solle, solches Amt zu versetzen oder zu verkaufen. Die königliche Verschreibung hatten die Reiter bei ihrer Abdankung von dem Obristen empfangen und bei den Burgemeistern von Aachen deponirt. Das Amt Montfort aber ward nach nicht langer Zeit durch Don Juans Kriegsvolk besetzt und Zinsen wurden auch nicht bezahlt. Zweitens hatten sie vermöge königlicher Obligationen 53,654 Fl. 12 ßl. zu fordern, welche die Königliche Majestät und die General-Staaten auf die Stadt Utrecht zur Bezahlung angewiesen hatten. Diese hatte aber die Bezahlung auch nicht möglich machen können und daher hatten die General-Staaten, da sonst keine Mittel zu finden waren, auf des Obristen vielfältiges Ansuchen „etliche der Kö„niglichen Majestät Erbgüter unter dem Amte von Vollenhoe, „Zallant und Drenthe" (Vollenhoven, Sallant und Twenthe in Over-Yssel) „unter gleicher Bedingung wie Montfort „den Reitern in Pfandschaft eingeräumt".

In dem Verzeichnisse der einzelnen Forderungen stehen die Rittmeister mit ihren Forderungen voran, Christoph Schwantener an der Spitze: viele derselben sind meklenburgische Lehnleute. Das Verzeichniß enthält folgende Namen und Summen:

| | | | |
|---|---|---|---|
| Christoph Schwantener . . . . | 5880 | Thaler | 20 ßl. |
| Vicke v. Oertzen . . . . . | 3045 | = | 26 = |
| Franz v. Lützow . . . . . | 3205 | = | 27 = |
| Joachim Ballich . . . . . | 1282 | = | 26 = |
| Reimar Pentz . . . . . | 1138 | = | 26 = |
| Viebt Krüger . . . . . | 861 | = | 20 = |
| Heinrich Krüger . . . . . | 775 | = | 5 = |
| Hans Pieft . . . . . | 1997 | = | 15 = |

| | | | |
|---|---|---|---|
| Heinrich Pieſt . . . . . | 514 | Thaler | 14 ßl. |
| Heinrich Stralendorf . . . . | 902 | = | 17 = |
| Peter Pieſt . . . . . | 1659 | = | 19 = |

Dann folgen unbekanntere Namen. Später kommen mehrere, welche unter der alten Fahne mit gelegen und welche der Obriſter zu bezahlen übernommen hatte; unter dieſen ſteht obenan:

Her Carl Schencke . . . . . 2524 Thaler — —.

Von der ganzen Summe ſollten unter andern 310 Thaler abgezogen werden, über welche „Heinrich Pieſt und Vicke v. Oertzen ſich vergleichen ſollten."

Dieſe bedeutenden Forderungen wurden in langer Zeit nicht, wahrſcheinlich nie, bezahlt und die Sache ſchleppte ſich über 30 Jahre hin. Vicke v. Oertzen und Peter Pieſt waren zu „Gevollmächtigten der Reiter" ernannt, welchen von den General-Staaten um 1575 die königlichen Güter in den Aemtern Vollenhoven, Sallaud und Twenthe in Over-Yſſel für ihre Forderungen zu Pfande eingeräumt waren. Auf Interceſſion des Herzogs von Meklenburg hatten dieſe bei den Gevollmächtigten mit der Ritterſchaft und den Städten der Landſchaft Over-Yſſel am 3. Oct. 1600 einen Accord aufgerichtet, nach welchem ihnen 20,000 Gulden erlegt werden ſollten, worauf ſie in die „geſchehene Alienation" der Güter willigten und „Vicke v. Oertzen aufs neue mit den Ständen contrahirte". Die Stände von Over-Yſſel zahlten aber nicht. Auf eine Interceſſion des Herzogs von Meklenburg wandten die Stände am 21. Dec. 1605 vor, „daß die Königliche Würde von „Spanien nicht berechtigt geweſen ſei, den aufgerichteten Con„tracten zuwider dominia provinciarum (Landesgüter) oder „Herrengüter zu verſetzen". Der Herzog Carl erließ hierauf am 20. Mai 1606 ein abermaliges Vorſchreiben an die Stände von Over-Yſſel für Barthold und Valentin Gevettern v. Lützow und deren Conſorten zur Erlangung ihrer abverdienten und nachſtelligen Kriegsbeſoldung in Grundlage des v. Vicke v. Oertzen abgeſchloſſenen Contracts und forderte von ihnen, daß ſie entweder baar bezahlten, oder die „ihnen verſchriebenen und „inne gehabten Güter wieder einräumten." Ueber das Ende

der Verhandlungen mit Over-Yssel ist nichts bekannt geworden; wahrscheinlich haben Tod und veränderte Verhältnisse und andere Begebenheiten diese Forderungen in das Meer der Vergessenheit versenkt, und Vicke v. Oertzen und seine Erben wurden eben so wenig wegen dieser Forderungen befriedigt, als wegen der Ansprüche an die General-Staaten für einen spätern Feldzug.

Nach diesem niederländischen Zuge stand Vicke v. Oertzen zunächst in den Diensten des Herzogs Franz II. des jüngern von Sachsen-Lauenburg, mit dem er sowohl in den Niederlanden, als auch schon früher in nähere Berührung gekommen war. Dieser junge Fürst erwarb sich als Krieger einen nicht unbedeutenden Ruhm; schon in seinem neunzehnten Lebensjahre machte er 1566 einen Feldzug in Ungarn mit. Am 2. Dec. 1568 setzte ihn der Herzog Alba zum Obristen über 1000 Reisige, mit denen er „im Heere des Königs Philipp II. rühmliche Dienste leistete" (vgl. v. Kobbe Gesch. des Herzogthums Lauenburg, II, S. 406 u. 283). Dies war also zu derselben Zeit, in welcher Barthold v. Lützow und Vicke v. Oertzen in unmittelbaren Beziehungen zu dem Herzoge Alba standen. In einer geschriebenen Zeitung aus Meklenburg vom 19. August (ohne Jahr: 1570?) wird über den Herzog Franz berichtet: „Vom niederländischen Kriege hat man allhie gar keine ge„wisse Zeitung. Heinrich Preen soll Herzog Franz von Sach„sen eine Fahne Reuter zuführen, kann aber übel zu Leuten „kommen. Auch führt Wigand Moltzan ihm auch Leute zu. „Sie geben eitel viel Geld aus, welches, wie sie sagen, von „einer Jungfer heimlich ist durchgebracht, weil alle Päße sehr „sollen verlegt sein". Wigand Maltzan von Grubenhagen hatte am 17. Junii 1570 „in das dritte Jahr eine Rittmeisterbe„stallung vom Herzoge Johann Wilhelm von Sachsen-Weimar „gehabt" und hielt sich damals in Meklenburg auf, als der Herzog Ulrich von Meklenburg ihn hart und ernst von Werbungen abmahnte. Der König von Frankreich hatte nämlich durch Gesandte den Herzog von Sachsen ersuchen lassen, ihm eine Anzahl Reiter wieder zuzuführen. Wigand Maltzan wies zwar die Beschuldigung des Herzogs Ulrich für den Augenblick

entschieden zurück, wird aber doch Gelegenheit gefunden haben, dem Herzoge Franz Leute zuzuführen. Bald nach der Rückkehr des Herzogs Franz II. entspannen sich die mehrjährigen kriegerischen Regierungsstreitigkeiten mit seinem ältern Bruder Magnus II. bei Lebezeiten ihres Vaters Franz I. (vgl. v. Kobbe a. a. O. S. 263 flgd.). In diesen heftigen Bewegungen dienten dem Herzoge Franz II. vorzüglich Barthold v. Lützow, Wigand Maltzan von der Linie Grubenhagen, welcher noch 1595 sein Obrister war (vgl. v. Kobbe S. 408), Vicke v. Oertzen und andere. In einem Schreiben des Dr. Johann Boucke zu Hamburg vom 30. Aug. 1572 heißt es: „Herzog „Franz von Sachsen der jüngere liegt jetzo noch alhie in der „Gamme und Kerckwerder des Amtes Bergedorf mit 700 „Pferden. Wigand Moltzan, Dietrichs Sohn, ist bei S. „F. G. und wird ein Obrister gescholten. Vicke v. Oertzen „ist auch ein Rittmeister bei S. F. G. Diese beiden sind von „S. F. G. vorgestern an den Rath alhie geschickt worden und „haben sich von Herzog Franzen wegen erklärt, daß S. F. G. „nicht über 3 Tage allda in dem Amte Bergedorf bleiben und „verharren wollen."

In den Zwischenzeiten während dieser Kriegszüge erscheint Vicke v. Oertzen wiederholt in Meklenburg. Im Sommer 1571 erschien er zu Schwerin vor dem Lehnhofe (pares curiae), um über seine Rechte an Scharfstorf vernommen zu werden. Nach einem Briefe, von Gammelin 4. August 1573 datirt, hatte er in diesem Jahre drei Zauberinnen „rechtfertigen" lassen, welche in ein im Amte Wittenburg weit verzweigtes Hexencomplott mit verwickelt gewesen waren. Im April des J. 1574 verlangte der Herzog Johann Albrecht I. von ihm die Ernährung der Köchin seines verstorbenen Bruders Segeband und deren Kinder (vgl. Segeband §. 122).

Im J. 1577 unternahm Vicke v. Oertzen einen dritten Zug in die Niederlande, diesmal aber nicht für die Spanier, sondern im Dienst der Niederländer. Es war in jenen Zeiten nichts Ungewöhnliches, daß die Edelleute, von denen eine große Anzahl den Krieg als Lebensarbeit ansah, den entgegenstehenden Partheien dienten, und so kam es dies-

mal, daß Vicke v. Oertzen, der früher lange Zeit den Spaniern gedient hatte, jetzt deren Gegnern diente und seinem eigenen Schwager gegenüber stand. Gegen den Dienst bei den Niederländern scheinen die Herzoge von Meklenburg trotz ihres Verbots nichts gethan, vielmehr denselben stillschweigend zugelassen zu haben. Vicke v. Oertzen sagt selbst, daß er „im J. 1577 den Statischen ins Niederland Reiter zugeführt" habe, und sein Sohn Franz Carl berichtet, daß sein „Vater Vicke v. „Oertzen weiland Rittmeister unter den General-Staaten „der unirten niederländischen Provinzen" gewesen sei; auch die Herzoge sagen wiederholt, daß Vicke v. Oertzen „im Dienst „der General-Staaten der Niederlande" gestanden habe. Vicke v. Oertzen scheint nun einige Jahre in den Niederlanden gelebt zu haben.

Obgleich im Februar 1577 in den Niederlanden Friede geschlossen war, so dauerte derselbe doch nicht lange, da der spanische Statthalter Don Juan zu gewaltsamen Maßregeln griff. Im Sommer 1577 begannen die Unruhen wieder. Die niederländischen Stände beriefen den Erzherzog Mathias von Oesterreich, Bruder des Kaisers Rudolph, zum Statthalter. Um die nöthigen Truppen zusammenzubringen, wurden in Deutschland wieder Werbungen angestellt. Am Ende des J. 1577 war „Herr Christoph Schencke," also derselbe, welcher im J. 1568 für den Herzog Alba in Meklenburg geworben hatte, wieder nach Meklenburg gekommen, um für die Niederländer Reiter zu werben. Am 5. Jan. 1578 berichtete der Herzog Ulrich dem Kaiser, daß „Herr Christoph Schencke „von den Staaten der Niederlande, jedoch unter dem Namen „des Königs zu Hispanien, über 1000 Pferde in der Gegend „von Meklenburg („unlängs meiner Fürstenthum und Lande") „zusammenzubringen im Werke sei, auch der Herzog Franz der „jüngere von Sachsen um Erlangung Geldes sich nach den „Niederlanden begeben habe, und daß er, der Herzog Ulrich, „diese Werbungen strenge verboten habe."

„Christoph Schencke, Freiherr zu Tautenburg und „Pfandherr zu Schulenburg, ward am 3. Septbr. 1578 von „dem Erzherzoge Mathias von Oesterreich Gubernator und

„den General-Ständen der Niederlande in der jetzigen Kriegs-„Expedition zur Beschützung der Niederlande gegen Don Jo-„hann d'Austria wieder zum Obristen auf 1400 Reisige" be-stellt. Die jetzt ausgestorbenen Freiherren Schencke von Tau-tenburg stammten von Tautenburg und Vargula in Thüringen bei Erfurt und Jena; Christoph Schencke führt im J. 1580 einen Schild mit drei oder vier rechten Schrägebalken, wie es scheint, im Siegel, also dasselbe Wappen, welches als das Wappen der Schencke von Tautenburg bekannt ist. Unter diesem Obristen Christoph Schencke diente Vicke v. Oertzen als Rittmeister einer Compagnie Reiter. Am 19. April 1609 berichteten die v. Bülow auf Scharfstorf, daß „vor et-„lichen Jahren, als Vicke v. Oertzen sich zu dem Herrn „Schencken in die Niederlande begeben, die Kirche zu „Gammelin durch Kirchenräuber, die auch hernach ge-„rechtfertigt worden, erbrochen und dabei die von ihm in der „Kirche in einem Kasten verwahrlich niedergelegten Urkunden, „namentlich der Lehnbrief über Scharfstorf, abhanden gekommen" seien. Dieses Dienstverhältniß ist nach den Worten der Ur-kunden und Actenstücke ganz sicher; es ist dabei nicht an den „Herrn Carl Schencke" zu denken, welcher für die „abgedankten Fahnen" der Spanier in den Jahren 1574 und 75 rückstän-digen Sold zu fordern hatte, auch nicht an den berühmten, kühnen Obristen Martin Schenck von Niederegge, der aus der alten Erbschenkenfamilie des Herzogthums Jülich von der Burg Niedeck oder Nydeghen in Geldern stammte, zuerst und zuletzt, auch 1578, den Niederländern, in der Zwischenzeit aber den Spaniern diente und im J. 1589 vor Nimwegen fiel.

Zu derselben Zeit nahm auch der Herzog Franz II. von Sachsen-Lauenburg, 1578 bis 1580, wieder Dienste in den Niederlanden bei den Spaniern unter dem Herzoge von Parma, welcher nach Don Juans Tode 1578 Statthalter geworden war; er ging während dieser Zeit im Mai 1579 auf einige Zeit bis zum August nach Sachsen-Lauenburg zurück und ver-ließ endlich das spanische Lager erst am 4. Sept. 1580 (vgl. v. Kobbe a. a. O. S. 406 flgd. und S. 291). Curd v. Penz auf Redefin bekannte am 31. Aug. 1578 dem Herzoge Ulrich,

daß er von dem Herzoge Franz als Rittmeister angenommen sei und mit demselben in die Niederlande ziehen müsse. Nach dem Berichte des Latomus dienten 3 Brüder Hobe: Heinrich, Levin, Dietrich, in den Niederlanden und Dietrich blieb daselbst, wann und unter wem, ist nicht bekannt; ihre 3 andern Brüder dienten in Frankreich.

Während Vicke v. Oertzen sich zu diesem Zuge nach den Niederlanden rüstete, war der Rittmeister Christoph Schwantener, welcher zuletzt mit Vicke v. Oertzen den Spaniern gedient und mit diesem 1575 Urlaub erhalten hatte, in Meklenburg und hielt sich bei Vicke v. Oertzen auf. Schwantener hatte früher längere Zeit im Dienste des Königs Philipp von Spanien gestanden und im J. 1577 von neuem von demselben Bestallung genommen. Während seines Aufenthalts in Meklenburg hatte Schwantener sich mit Vicke's v. Oertzen Schwester Adelheid verheirathet und Antonii 1578 das v. örtzensche Gut Schossin zu Pfande genommen (vgl. Adelheid §. 123). In dieser Lage fing er an, Reiter für die Spanier in Meklenburg zu werben, während auch Curd v. Penz Rüstungen zum Zuge machte. Sogleich erneuerte der Herzog Ulrich, nach dem Tode seines Bruders Johann Albrecht, am 2. Jan. 1578 das Verbot fremder Bestallungen und schritt gegen diejenigen, welche spanische Bestallungen angenommen hatten, namentlich gegen Curd v. Penz und Christoph Schwantener, in besondern wiederholten Befehlen mit ernstem Nachdruck ein, bis er endlich am 14. Sept. 1578 bewilligte, daß Schwantener, nachdem dieser „sein Kriegsvolk bereits fortgeschickt hatte", für seine Person mit seinen eigenen Knechten und Pferden abziehen könne, um seine Verpflichtungen zu erfüllen.

Vicke v. Oertzen war aber schon im J. 1577 den Niederländern zugezogen und diente denselben bis in die ersten Monate des J. 1579, bis zum Abschluß der utrechter Union, da noch am 12. Januar 1579 Joachim v. Oertzen im Namen seines „abwesenden Bruders" handelte. Vicke v. Oertzen war Rittmeister einer Compagnie Reiter, Georg Wagel sein Lieutenant und Georg Raben Fähnrich.

Es dienten in diesem Feldzuge, trotz des Verbotes, viele Meklenburger. So hatte sich auch Christoph v. Bülow in den Niederlanden als Kriegsmann gebrauchen lassen und war Rittmeister unter dem Obristen Herrn Martin Schencke von Niederegge gewesen; seine Frau Catharina, geborne von Danitz, hatte sich mit ihm dahin begeben. Diese Frau blieb in den Niederlanden und heirathete nach dem Tode ihres Mannes den Otto v. Limburg zu Zwoll wieder; Vicke v. Oertzen wünscht ihr am 30. Dec. 1607 von Mühlenbek „zu ihrer neuen Ehe Glück und Heil". Auch Henneke Manteuffel, Jürgen v. Holstein, Vicke Staffeld und andere machten diesen Kriegszug mit. — Jürgen v. Bülow aus dem Hause Rahden hatte als Rittmeister den Spaniern über drittehalb hundert Pferde zugeführt, welche in den Niederlanden blieben.

Bei den Niederländern ging es dem Vicke v. Oertzen und den übrigen Meklenburgern nicht besser, als bei den Spaniern. Er hatte sich „mit seinen untergehabten Reitern in ihrem „Dienst, mit Verspildung des Ihrigen, mit Auffsetzung Leibes „und Lebens, getreu und ritterlich, wie es ehrlichen Kriegs„leuten geziemt, gehalten," wie der Herzog Carl schreibt, aber für den Dienst keinen Sold erhalten. Der „Rittmeister „Vicke v. Oertzen hatte auf seine Compagnie", oder nach andern Berichten „Vicke v. Oertzen Rittmeister, Georg Wagel „Lieutenant und Georg Raben Fähnrich" hatten noch 55,533 fl. rückständiger Kriegsbesoldung zu fordern und der „Gubernator „und die General-Staaten der sämmtlichen niederländischen „Provinzen" hatten ihnen in Anerkennung „ihrer treu geleiste„ten Kriegsdienste dafür eine Obligation, unter des Erzherzogs „Mathias und sämmtlicher Deputirten der vereinigten Staaten „eigenhändiger Unterschrift", gegeben, durch welche sich diese „Provinzen, eine für alle, auch für alle ihre Einwohner, mit „Hab und Gut" zur Bezahlung dieser rückständigen Kriegsbesoldung verpflichtet hatten. Die Niederlande erfüllten ihre Verpflichtungen aber nicht und weder Vicke v. Oertzen, noch die übrigen Meklenburger wurden für ihre Forderungen befriedigt. Alle Meklenburger hatten Forderungen, welche zum Theil sehr bedeutend waren. Am 2. Febr. 1580 schrieb Christoph

Schencke, Freiherr zu Tautenburg, von seinem Wohnsitze Schulenburg an Christoph v. Bülow, daß von den „Renten wegen des alten Restes" vom J. 1575 „keinem etwas da„von ausgegeben sei, außer Vicke v. Oertzen und Hans Piest, „welche dieselbe, was zur Zeit davon fällig gewesen, empfangen „und hinterlegt hätten, bis die Rente vollkommen gefallen sei „und vertheilt werden" könne. Von weitern Zahlungen ist aber nicht die Rede. Zwar erließen die Herzoge Ulrich, Carl (am 27. Mai 1606), Adolph Friedrich I. (am 20. März 1618) und Johann Albrecht II. wiederholt Vorschreiben für die Erben der Gläubiger an die General-Staaten, und diese erkannten auch immer, z. B. noch am 18. Nov. 1619, nachdem im J. 1609 ein Waffenstillstand gewonnen war, die Forderung an, baten aber, daß die Gläubiger „so lange Geduld haben möch„ten, bis die sämmtlichen niederländischen Provinzen verglichen „und in Friede und Ruhestand sein würden". Es erfolgte aber keine Zahlung. Vicke v. Oertzen war nach dem J. 1612 gestorben und hatte einen unmündigen Sohn Franz Carl hinterlassen. Als dieser mündig ward (nach 1626), war der dreißigjährige Krieg ausgebrochen, welcher alle andern Bestrebungen verschlang und auch die Forderung Vicke's v. Oertzen eine lange Zeit vergessen machte, wenn auch die v. örtzenschen Erben Bevollmächtigte zur Betreibung in den Niederlanden bestellt hatten und im J. 1635 die Zahlung in Aussicht zu stehen schien. Während der Zeit ging die Originalschuldverschreibung verloren, wenn auch die Original-Berechnungen vorhanden waren.

Endlich, nachdem der Friede in Deutschland und in den Niederlanden hergestellt war, machte Vicke's v. Oertzen Sohn Franz Carl noch einen Versuch, zu seinem Gelde zu kommen. Nachdem fast hundert Jahre verlaufen waren und die vereinigten Niederlande durch den westphälischen Frieden 1648 schließliche Anerkennung erreicht hatten, bat Franz Carl v. Oertzen am 29. Julii 1661 den Herzog Christian von Meklenburg um ein Vorschreiben an die General-Staaten, damit er zu seinem Gelde gelange. Im Octbr. 1661 erfüllte auch der Herzog zu Antwerpen diese Bitte und sein Obrist Balthasar Gebhard v. Halberstadt, Oertzens Schwager, sorgte auch für die richtige

Beförderung und möglichste Berücksichtigung dieses Vorschreibens; im J. 1663 ward über die Einforderung der Gelder noch ein lebhafter Briefwechsel geführt, aber es ist keine Spur vorhanden, daß diese Forderungen je befriedigt worden seien. Schon im J. 1672 starb Franz Carl v. Oertzen und mit ihm erloschen die ganze Linie Gammelin im Mannesstamme, und so gerieth wahrscheinlich die ganze Angelegenheit für immer in Vergessenheit.

Im Anfange des J. 1579 kam Vicke v. Oertzen wieder nach Meklenburg. Im Mai 1579 reiste auch der Herzog Franz II. von Sachsen-Lauenburg auf kurze Zeit von den Niederlanden nach Niedersachsen. Vicke v. Oertzen, der noch am 12. Jan. 1579 „abwesend" war, war aber schon vor dem Herzoge Franz in der Heimath. Denn als des Herzogs Franz Bruder Magnus während dessen Abwesenheit wieder aufbrach und mit kriegerischer Gewalt umherschwärmte, vorgebend, sein Bruder sei vor Mastricht erschossen, und Artlenburg, Lauenburg und Boizenburg bedrohte (vgl. v. Kobbe a. a. O. S. 291), bot der Herzog Ulrich 36 Vasallen mit 56 Pferden und die Hofjunker auf einige Tage auf, um Boizenburg gegen den Herzog Magnus zu beschützen. In dem „Verzeichniß der „Reuter, so zu Boizenburg gewesen, wie Herzog Magnus von „Sachsen einen Lärm angerichtet im Mai 1579", werden unter andern auch Barthold v. Lützow zu Lützow mit 6 Pferden auf 3 Nächte und „Vicke v. Oertzen zu Gammelin" mit 4 Pferden auf 1 Nacht aufgeführt.

Seit dem Anfang Mai 1580 tritt Vicke v. Oertzen öfter mit seinem Bruder Joachim handelnd in Meklenburg auf.

Seitdem scheint Vicke v. Oertzen Meklenburg auf längere Zeit nicht verlassen zu haben. Als im Mai 1586 der Herzog Adolph von Holstein mit seiner Familie in Schwerin war, um einen Haus- und Regierungsvertrag zwischen dem Herzoge Ulrich und dessen Neffen Johann und Sigismund August zu vermitteln, war auch Vicke v. Oertzen mit 5 Pferden zu Hofe entboten und auf der „jungen holsteinschen Herren Gemach als Marschall" bestellt. Im J. 1588 war er einer der Vormünder der Kinder des Hartwig v. Lützow auf Salitz und Mar-

tini 1590 willigte er in Verkauf des Gutes Wustrow durch seinen Bruder Joachim.

Nach seiner letzten Rückkehr aus den Niederlanden suchte Vicke v. Oertzen seine Besitzverhältnisse in Meklenburg in Ordnung zu bringen, wobei er ohne Zweifel auf seine spanischen und niederländischen Forderungen große Rechnung machte.

Zuerst suchte Vicke v. Oertzen die ihm laut des Vertrages vom 22. April 1585 zugefallenen Lehnsansprüche an Scharfstorf und Kl. Tessin geltend zu machen. Er war aber in diesen Angelegenheiten nicht glücklich, sondern kam in die Lage, seine Ansprüche auf Scharfstorf zu verkaufen und sein vermeintliches Anrecht an Kl. Tessin aufzugeben, so daß beide Güter mit der Zeit ganz aus der v. örtzenschen Familie kamen. Vicke v. Oertzen besaß eine Zeit darauf nur das Gut Gammelin mit Zubehörungen.

Am 25. April 1524 hatte der Herzog Albrecht dem Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow zur Führung des Ritterstandes und seinen rechten Leibeserben die eine Hälfte des Gutes Scharfstorf mit Beidendorf zu einem rechten Gnadenlehn gegeben. Das Gut war das Lehn der Familie von Lohe gewesen, welche mit Johann von Lohe ausgestorben war, und an die Lehnherren heimgefallen. Die zweite Hälfte des Gutes hatte der Herzog Heinrich am 22. April 1526 dem Cord v. Bülow auf Plüskow geschenkt, welcher die ältere Tochter des letzten von Lohe, Anna, heirathen wollte. Johann von Lohe hatte nämlich eine Wittwe und zwei Töchter, Anna und Ilse, hinterlassen, denen für ihre Lebenszeit das Erbjungfernrecht an dem Gute gebührte. Anna, vermählte v. Bülow, starb erst im Jahre 1595, und Ilse, welche an Dinnies v. Pressentin vermählt ward, lebte als Wittwe noch im J. 1595 als die letzte des Geschlechts. Mathias v. Oertzen kam also nicht zum Besitze des Gutes, da ihn die von Loheschen Erbtöchter lange überlebten, während Cord v. Bülow durch die Verheirathung mit einer von Loheschen Tochter gleich in den Besitz kam und denselben durch seinen Sohn Paul auf seine Nachkommen vererbte. Vicke v. Oertzen, dem das halbe Gut in der brüderlichen Theilung zugefallen war, sah keinen Vortheil

in dem Besitze, weil das Gut nur klein war und entfernt lag und er selbst mit Schulden belastet war. Er glaubte sich nicht anders helfen zu können, als vor dem Jahre 1571 seine Hälfte von Scharfstorf an Paul v. Bülow für den Fall der Erledigung zu verkaufen, unter der Bedingung, daß er den Consens seines Bruders und seines Landesherrn erlangen könne, und hatte auch schon „ein Stück Geldes darauf abgekehrt" erhalten. Sein Bruder verweigerte aber, vor der brüderlichen Auseinandersetzung von 1585, seinen Consens und daher suchte Vicke v. Oertzen auch den landesherrlichen Consens nicht nach und die Sache blieb in der Schwebe. Am 29. Junii 1571 bestellten die Herzoge, vorzüglich auf Betrieb des Herzogs Johann Albrecht I., ein Lehnsgericht (judices parium curiae), um über 4 zwischen den Herzogen und den Lehnträgern obwaltende Dunkelheiten und Streitigkeiten zu entscheiden. Einer dieser Fälle betraf das Gut Scharfstorf mit Beidendorf. Die Herzoge und der Lehnhof, welche vielleicht die Art der Verleihung nicht kannten, forderten in der ersten Sitzung am 29. Julii 1571 auf dem Rathhause zu Schwerin, daß „die Oertzen das Kaufgeld herausgeben und „Bülow das Gut abtrete"; im Besondern erging an Vicke und Joachim v. Oertzen und Stephans Erben von den Herzogen die wiederholte Erklärung, daß „sie dieselben um das pretium, „so sie für dasselbe Gut Scharfstorf von Paul Bülow erlangt, „sintemal sie solches ohne ihren als der Lehnsherren Willen „und Consens verkauft, vor den paribus curiae rechtlich zu „besprechen gemeint seien und ihnen deshalb das Lehnrecht an„geboten" hätten. Die Verklagten erklärten dagegen sogleich, daß „sie ihr Leben lang nicht anders gedacht und gethan, daß „solches ihren Pflichten widerlich sein sollte, und Gegenbericht „thun würden, weil die Lehnherren unrecht möchten berichtet „sein." Namentlich erklärte Vicke v. Oertzen, daß er, da er den Consens seines Bruders zu dem Verkaufe nicht habe erhalten können, von dem Verkaufe abgestanden sei und dahin trachten werde, Paul v. Bülow sein Geld wieder zu verschaffen. Die Herzoge erklärten darauf, daß sie „ihnen „mit keinen Ungnaden gewogen seien, sondern allein Recht

„wider sie gebrauchen wollten." Die Sache zog sich aber sehr lange hin, namentlich dadurch, daß sich fortwährend Lehnträger weigerten oder zu entschuldigen suchten, an dem Gerichte Theil zu nehmen. Im J. 1575 wurden über die Vorbereitungen viele Verhandlungen gepflogen, bei denen sich der Herzog Johann Albrecht oft sehr reizbar zeigte. Aus den Jahren 1576 und 1577 sind nur einzelne Actenstücke vorhanden und die ganze Sache wird mit dem Tode des Herzogs Johann Albrecht († 12. Febr. 1576), der sie vorzüglich betrieb, ohne Erfolg eingeschlafen sein, um so mehr da die Lehnträger großen Widerwillen gegen das Gericht gehabt zu haben scheinen. Die Klage gegen die v. Oertzen war überdies unbegründet.

Außerdem führten des Ritters Mathias v. Oertzen Erben, nämlich Vicke, Joachim und Stephans Erben, gegen die v. Raben auf Stük, wegen des verkauften halben Gutes Scharfstorf vor dem Hof- und Landgerichte einen Proceß; es ist aber von dem Inhalte nichts bekannt, da die Acten verloren gegangen zu sein scheinen und nichts weiter vorhanden ist, als ein Acten-Protocoll mit der angegebenen Ueberschrift vom 10. Jan. 1575. Die v. Raben auf Stük werden mit den v. Oertzen von Gammelin und Schossin verwandt gewesen sein, da zwischen beiden zu Stük verhandelt wird.

Bald darauf verkaufte aber Vicke v. Oertzen seinen Anspruch an die Hälfte von Scharfstorf an Paul v. Bülow. Die Brüder Hartwig und Joachim v. Bülow auf Plüschow und Scharfstorf, Pauls Söhne, berichten am 19. April 1609 dem Herzoge Carl, daß ihr Vater von Joachim und Vicke v. Oertzen die Anwartschaft an halb Scharfstorf durch einen rechtmäßigen und beständigen Kauf auf landesherrlichen Consens, den die Verkäufer zu verschaffen sich verbindlich gemacht, an sich gebracht und nach Dinnies v. Pressentins Hausfrau Tode (nach 1595) diesen gekauften Theil in Besitz bekommen und vererbt habe, wie solches zwischen den v. Bülow und v. Oertzen unstreitig sei. Die v. Bülow sind auch bis tief in das 18. Jahrh. im ungestörten Besitze des Gutes Scharfstorf geblieben.

Mit den Ansprüchen auf Kl. Tessin war Vicke v. Oertzen nicht glücklich. Am 12. Jan. 1579 leitete Joachim v.

Oertzen für sich, seinen abwesenden Bruder Vicke und seines verstorbenen Bruders Stephan hinterlassenen Sohn die Klage ein und klagte, daß seine verstorbene Mutter, als er und seine Brüder noch unmündig und mit Vormündern unversorgt gewesen seien, ihr Dorf Kl. Tessin, das zu ihren altväterlichen Stammlehen mitgehörig und von ihrem seligen Vater auf sie verstammt sei, an ihre Vettern Jürgen und Vicke Gebrüder v. Oertzen auf Gorow und Gerdshagen verkauft habe; nachdem sie zu ihren Jahren gekommen seien, hätten sie das Dorf wieder einlösen, ihre Vettern sie aber nicht dazu kommen lassen wollen, worauf nach dem Tode derselben das Gut jetzt an ihren Vetter Sivert v. Oertzen auf Clausdorf gefallen sei. Sie stellten daher eine Reluitionsklage an, da ihre Mutter nicht die Macht gehabt habe, das Gut zu verkaufen, und sie ohne Vormünder gewesen seien. Am 3. Mai und 5. Nov. 1580 und 2. Dec. 1581 wiederholten Joachim und Vicke die Klage, jedoch ohne Erfolg; es fehlen auch die ferneren Acten. Gewiß ist, daß die v. Oertzen von der Linie Roggow im Besitze des Gutes blieben. Am 15. Sept. 1619 verkaufte Sivert v. Oertzen auf Gerdshagen und Clausdorf das Gut Kl. Tessin an den fürstlichen Rath und Hauptmann Otto Preen auf Vietkow und Wehnendorf, und dadurch kam das Gut auf immer von der Familie v. Oertzen.

Seit Segebands v. Oertzen unbeerbtem Abgange († vor 1574) hatten zwischen den Brüdern Joachim und Vicke v. Oertzen lange Irrungen über die Familiengüter, namentlich über das Gut Mühlenbek geherrscht, welche endlich ausgeglichen werden mußten, als auch ihres Bruders Stephan einziger Sohn Stellan vor dem J. 1591 ohne männliche Leibeserben mit Tode abgegangen und Joachim Antonii 1591 sein Gut Wustrow zu verlassen genöthigt war. Daher verglichen sich die beiden Brüder Joachim und Vicke am 20. Oct. 1591 zu Schossin schließlich und vollständig dahin, daß Joachim das Gut Schossin mit Zubehörungen und Vicke das Gut Mühlenbek übernahm [CCCCXVI].

So war Vicke v. Oertzen im J. 1591 im Besitze der Güter Gammelin und Mühlenbek.

Gegen das Ende des 16. Jahrh. scheint sich Vicke v. Oertzen bei zunehmendem Alter, nach einem bewegten Leben, von der Oeffentlichkeit zurückgezogen zu haben; vielleicht mögen ihn auch drückende Vermögensverhältnisse dazu veranlaßt haben; da er aller angewandten Mühe ungeachtet nicht zu dem rückständigen Solde für seine gewiß angestrengten Kriegsdienste gelangen konnte.

Ueber die Vermählung des Vicke v. Oertzen sind die Nachrichten nicht ganz ausreichend. Wahrscheinlich war er zwei Male vermählt. In Acten des Archivs zu Wismar wird „Catharina von Penz des Vicke von Oertzen zu Gammelin Hausfrau" genannt, jedoch ist die Zeit, in welcher er mit dieser Frau vermählt war, nicht zu ermitteln. Diese wird aber seine erste Frau gewesen sein, da eine andere Frau ihn überlebte. Wahrscheinlich starb die erste Gemahlin früh und Vicke v. Oertzen blieb während seiner Kriegszüge unvermählt. Sicher ist es, daß er aus der ersten Ehe keine Kinder hatte.

Im Jahre 1599 hatte er noch keine Kinder, als seines Bruders Joachim Sohn Stephan nach seines Vaters Tode am 21. Junii 1599 berichtet, daß „Gott der Allmächtige seines „Vaters Bruder Vicke von Oertzen mit Leibeserben „bisanher nicht begabt habe, daß also, wenn derselbe ohne „Erben zergehen würde, er und sein Bruder zu seinen Gütern „Gammelin und Mühlenbek die nächsten Lehnsfolger" seien. Es ist jedoch auch das gewiß, daß Vicke v. Oertzen im J. 1602 mit Margarethe Maltzan vermählt war und 1614 einen Sohn hinterlassen hatte, welcher um das Jahr 1609 (vor October) geboren und bei seines Vaters Tode minderjährig war; Margarethe Maltzan war eine Tochter Wedege's II. Maltzan von der Linie Grubenhagen, da ihr älterer „Bruder „Christoph" Maltzan zu Grubenhagen war, dem sie, „Vicke's „von Oertzen zu Gammelin eheliche Hausfrau", im J. 1602 die Summe von 500 Thalern lieh. Es ist wahrscheinlich, daß Vicke v. Oertzen schon im J. 1601 vermählt war, da Margarethen's jüngerer Bruder Jürgen Maltzan von Gruben-

hagen die Verpfändung von Mühlenbek mit unterhandelte und besiegelte.

Am Ende des J. 1601 war, nach einem Berichte E. Cothmanns Vicke v. Oertzen wegen Todtschlags in Untersuchung und hatte das „Handgelübde" gegeben und genugsame Caution geleistet.

Mit der Zeit mehrten sich die Bedrängnisse Vicke's v. Oertzen. Daher sah er sich „wegen etlicher Gelübde und „merklicher Bezahlung für andere Leute und seiner eigenen „fast beschwerlichen Angelegenheiten" genöthigt, sein Gut Mühlenbek zu verpfänden. Er hatte es seinen Neffen Mathias und Stephan angeboten, diese es aber abgelehnt und am 14. Jan. 1602 ihren schriftlichen Consens zu der Verpfändung gegeben. Daher hatte „Vicke v. Oertzen auf Gam„melin und Mühlenbek" am 8. Junii 1601 „dem Hans Sper„ling zu Gr. Eixen sein Erbgut Mühlenbek mit 4 Drömt „Mattenkorn aus der Rothen Mühle auf 6 Jahre für 11,000 „Mark" verpfändet; Curd Penz auf Ragut, Henneke v. Lützow auf Wölzow und Jürgen Maltzan auf Grubenhagen hatten die Verpfändung unterhandelt und den Pfandbrief mit unterstegelt. Der Herzog Ulrich ertheilte seinen Consens am 18. Jan. 1602.

Vicke v. Oertzen gerieth aber immer tiefer in Bedrängniß. Im J. 1605 machten er und seine „eheliche Hausfrau „Maltzan" ein gegenseitiges Testament, indem sie „sich mit „einander aus ehelicher Liebe und Freundschaft einer freiwilli„gen Uebergabe und Donation ihrer beiderseits habenden und „zusammengebrachten Güter vereinigten", und Herzog Carl bestätigte am 28 Nov. 1605 dieses Testament. In der Zeit von 1600 bis 1606 bemühte sich der Herzog Carl, daß Vicke's Forderungen an die General-Staaten der Niederlande für rückständigen Kriegssold von Over-Yssel bezahlt würden, jedoch vergeblich. Daher mußte sich Vicke v. Oertzen endlich entschließen, „nicht allein wegen seiner obliegenden Beschwerungen „und großer Schuldenlast, sondern auch wegen der vielfältigen „Zahlungen, die er für andere Leute gethan, ohne etwas „wieder erlangen zu können, zur Erhaltung seines wohl herge-

„brachten guten Namens seine anererbten väterlichen Lehngüter „Gammelin und Mühlenbek zu veräußern". Er hatte seinen Lehnsvettern die Güter zum Kaufe angeboten, aber keiner sich darauf einlassen wollen, bis es ihm endlich „gar be„schwerlich vorfiel, solche große Schuldenlast länger zu ertragen". Daher verkaufte „Vicke v. Oertzen zu Gammelin und Müh„lenbek" am 17. Jan. 1607 seine anererbten väterlichen Lehn„güter Gammelin und Mühlenbek mit 1½ Pflugdiensten „in Nadelübbe, wie sie sein Vater Mathias v. Oertzen Ritter „und ihre Vorfahren besessen und er selbst in die 48 Jahre „in unverändertem Besitz gehabt" hatte, mit Bewilligung des Lehnherrn und seiner Vettern an Margarethe v. Winterfeld, Curd's v. Penz, nachgelassene Wittwe, und ihre beiden Söhne Curd und Hans für 32,300 Gulden mit Consens seiner „nächsten Agnaten", seiner „Vettern Mathias und „Stephan zu Cramonshagen und Jaspar, Jürgen und Sivert „zu Roggow, Gorow, Gerdshagen und Clausdorf, zu einem „ewig währenden, beständigen Erbkaufe", und der Herzog Carl gab seinen landes- und lehnsherrlichen Consens am 20. Januar 1607. Die Wittwe v. Penz wohnte seitdem mit ihren Kindern zu Gammelin. Wegen dieser Güter entstand zunächst 1609 bis 1611 ein langer Streit zwischen Franz v. Winterfeld, als Vormund der beiden Brüder Curd und Hans Penz, und seinen Mitvormündern, von der einen, und der Wittwe Margarethe Penz, gebornen v. Winterfeld, von der andern Seite, indem Franz v. Winterfeld behauptete, die Wittwe habe die Güter, welche höchstens 24,000 Gulden werth seien, zu theuer gekauft und sei überhaupt ohne ihrer Mitvormünder Einwilligung gar nicht befugt gewesen, die Güter zu kaufen. Dieser Streit führte aber zu keinem Ergebniß, da die Brüder Penz bald volljährig wurden. Der ältere Bruder Penz nahm zuerst das Gut Gammelin an und die beiden Güter kamen mit der Zeit aus der Familie v. Oertzen. Gammelin kam gewiß gleich aus der Familie.

Mit dem Gute Mühlenbek verhielt es sich jedoch etwas anders. Dieses Gut war am 8. Junii 1611 dem Hans Sperling zu Gr. Eixen, welcher einer Tochter der Margarethe

v. Winterfeld, also eine Schwester der Brüder Penz, zur Frau hatte, für 11,000 Mark verpfändet und daher hatte Hans Sperling Pfandrechte an dem Gute; deshalb mochte sich Vicke v. Oertzen dem Pfandnehmer gegenüber noch als Lehnträger betrachten, da die Penz vor Erlegung des Pfandgeldes „nicht „in den Besitz des Gutes kommen konnten." Vicke v. Oertzen hatte auch Neigung, „nachdem Gott ihm nunmehr (vor Oct. „1609) „einen Erben gegeben", das Gut Mühlenbek wieder „erblich an sich bringen". Er wird in einem Register von 1609 „zu Mühlenbek Pfandinhaber" und im J. 1612 in einem Pfandcontracte „auf Mühlenbek jetzo pfandge- „sessen", in einem andern „zu Mühlenbek erbgesessen", in den herzoglichen Bestätigungen aber immer nur „zu Mühlenbek", also wohnhaft, genannt. Die besondern Umstände seiner Berechtigung sind nicht bekannt, werden aber sicher in den geschilderten Verhältnissen begründet sein. Nach seinem bald darauf erfolgten Tode zahlte aber Curd Penz den Pfandschilling von 11,000 Gulden an die Vormünder des Sohnes Vicke's v. Oertzen zur Entrichtung an Hans Sperling aus, und so kam auch Mühlenbek bestimmt aus der örtzenschen Familie. Am 9. August 1619 war „Mühlenbek dem Curd Penz zu- „ständig, jedoch hatte es wegen nachstehender Gelder Wipert's „Raven Hausfrau" im Besitze. Im Junii 1626 wird ausdrücklich gesagt, daß Franz Carl v. Oertzen, der „unmündige „Sohn Vicke's mit keinen unbeweglichen Gütern in den mekle- „burgischen Landen gesessen" sei. In dem Erbvertrage zwischen den Brüdern Penz ward dem Curd Penz das Gut Mühlenbek zugeschlagen und nach großen Rechtsverhandlungen, welche sogar an das Reichskammergericht gelangten, ward zwischen den Brüdern Penz am 15. Mai 1624 ein Vergleich geschlossen.

Es ward in der Folge angenommen, daß die Wittwe Penz, geborne v. Winterfeld, das Gut mit ihrem eigenen Gelde gekauft habe. Daher behielt es in der Folge ihre Enkelin Elisabeth v. Penz, welche an Vicke v. Zülow verheirathet war; es ward dieser als Wittwe aus dem Concurse ihres Vaters wegen ihrer „mütterlichen Forderungen" in Ge-

mäßheit des Distributions-Abschiedes vom 5. März 1653 für 6204 Gulden adjudicirt, wodurch das Gut Mühlenbek an die Familie von Zülow kam, bei welcher es hundert Jahre blieb.

Gammelin ward im J. 1655 von den Gläubigern des Curd Penz für 14,000 Gulden an Jaspar v. Lützow auf Perlin verkauft.

Vicke v. Oertzen muß sich aber in seinen Verhältnissen bald wieder erholt haben, da er in den nächsten Jahren zwei nicht unbedeutende Summen auf Pfand auslieh. Am 18. Jan. 1611 lieh er dem Georg Raben auf Stük auf drei Jahre 2666 Mark lübisch, wofür dieser, mit Einwilligung seiner Frau Catharina v. Lützow, ihm, dem „edlen, gestrengen und „ehrenfesten Vicke v. Oertzen, Rittmeister, auf Mühlenbek „jetzt pfandgesessen", drei Bauern im Dorfe Böken verpfändete; die Herzoge gaben dazu am 20. Febr. 1612 ihren Consens. Am 17. Jan. 1612 lieh er seinem „Schwager" Christoph Maltzan zu Grubenhagen 3000 Gulden, wofür dieser ihm, dem „Vicke v. Oertzen auf Mühlenbek erbgesessen", die Mühlenpächte zu Grubenhagen, zwei Bauleute, einen halben Pflüger und einen Kossaten zu Steinhagen, den Acker auf dem Böbelinschen Felde, den sein Vater gekauft hatte, und einen Ochsen jährlich aus Steinhagen verpfändete; die Herzoge gaben dazu am 17. Febr. 1612 ihren Consens.

Nicht lange nach dem Febr. 1612 starb Vicke v. Oertzen, da er am 15. Oct. 1614 todt war und eine Wittwe und einen unmündigen Sohn hinterlassen hatte. Er wird im J. 1614 gestorben sein, da Margarethe Maltzan sich am 12. Julii und 29. Aug. seine „hochbetrübte" Wittwe nennt, dieses Beiwort späterhin aber nachläßt. Er wird über 70 Jahre alt geworden sein, da er im J. 1607 seine Güter in die 48 Jahre in ununterbrochenem Besitze, also nach Erlangung seiner Volljährigkeit, gehabt hatte und nach dem J. 1607 noch ungefähr 6 Jahre lebte.

Vicke v. Oertzen war zuerst mit Catharina v. Penz in kinderloser Ehe, darauf mit Margarethe Maltzan vermählt, welche schon Antonii 1602 seine eheliche Hausfrau genannt wird, aber sicher vor dem J. 1599 mit ihm verhei-

rathet war (vgl. oben S. 276). Margarethe Maltzan stammte aus dem Hause Grubenhagen und Trechow und war eine Tochter des Wedege Maltzan und eine Schwester der Brüder Christoph und Jürgen, deren Antheile an Grubenhagen in Creditoren Hände und aus diesen 1618 an das maltzansche Haus Ulrichshusen kamen; von den Vettern Christoph und Johann Friedrich Maltzan wird im J. 1626 gesagt, daß sie damals „keinen gewissen Sitz hatten", sondern sich gewöhnlich zu Stük auf dem Hofe Wiperts Raben aufhielten. Christoph Maltzan nennt im J. 1612 bei der Verpfändung der Mühlenpächte aus Grubenhagen den Vicke v. Oertzen wiederholt seinen „freundlichen, lieben Schwager", und Christoph Maltzan war einer der Vormünder des nachgelassenen unmündigen Sohnes Vicke's v. Oertzen. Margarethe Maltzan „zu Mühlenbek" überlebte ihren Gemahl noch mehrere Jahre, sicher noch bis in den September 1616, da sie in einem Rechtsstreite wegen einer Forderung ihres verstorbenen Mannes von 1000 Gulden an Jürgen v. Halberstadt auf Brütz wiederholt genannt wird.

Vicke v. Oertzen hinterließ nur einen Sohn Franz Carl, welcher ihm erst gegen das Ende seines Lebens, gegen das Jahr 1609, ungefähr 4 Jahre vor seinem Tode, geboren ward und daher lange Zeit minderjährig war. Es wird am 21. Junii 1599 ausdrücklich gesagt, daß „Vicke v. Oertzen bis dahin mit Leibeserben nicht begabt" sei, am 15. Oct. 1609 aber, daß „Gott ihm nunmehr einen Erben gegeben" habe.

XI. 31. Franz Carl.

---

24.

## Segeband.

1566—1572 † vor 1574.

§. 122. G. X.

Der Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow hatte auch einen Sohn Segeband, welcher bisher völlig unbekannt ge-

wesen ist. Er wird nur einige Male mit allen seinen Brüdern genannt, zuerst, als am Tage Antonii 1566 die „Brüder „Joachim, Vicke und Segeband von Oertzen ihres Bruders „Stephan" Schuldverschreibung auf 900 Mark lübisch an Veit v. Lützow zu Lützow mitbesiegelten; es geht aus der Reihenfolge in dieser und in andern Urkunden hervor, daß Segeband der jüngste Sohn des Ritters Mathias war. Er lebte noch am 19. Jan. 1571, als Joachim v. Oertzen auf Wustrow und Cramonshagen mit Bewilligung „seiner Brüder Vicke und Segeband" an den Rath der Stadt Wismar 1500 Eichen aus Cramonshagen verkaufte, und im Januar 1572, als die Brüder Joachim, Vicke und Segeband v. Oertzen mit ihres verstorbenen Bruders Stephan Erben bei den Herzogen wegen des Gutes Eixen, wegen der Hafengerechtigkeit von Wustrow und wegen anderer Forderungen bei den Herzogen Beschwerde führten. Segeband wird nicht lange darauf (vor dem J. 1574) gestorben sein.

Von seinem Leben ist nicht viel bekannt geworden, jedoch so viel, daß es in den Hauptzügen völlig klar erscheint. An der gleichmäßigen Theilung der väterlichen Güter, wie sie aus dem Vertrage von 1585 hervorgeht, nahm er nicht Theil. Er wohnte zu Mühlenbek; nach „der seligen Mutter Tode" war ihm, laut des Vertrages vom 20. Oct. 1591, dieses „Gut „Möllenbeke mit sammt 4 Drömt Korn in der Rothen „Mühle" für 1000 Mark lübisch mit 25jährigen Zinsen, im Ganzen für 1500 lüb. Mark, abgetreten. Er war „lahm" und gebrechlich und blieb unverheirathet. In seinem hülflosen Zustande ward er von seiner „Köchin" Catharina Hancke treu gepflegt, mit welcher er drei Kinder zeugte. Er starb vor dem J. 1574 und sollte seiner Köchin durch sein Testament etwas vermacht haben, was ihr aber vorenthalten ward. Sie verklagte daher Segebands Bruder Vicke bei dem Herzoge Johann Albrecht, welcher am 3. April 1574 von diesem verlangte, die treuen Dienste der Dienerin zu belohnen und ihre Kinder zu ernähren.

25.

## Adelheid,

Gem. 1. Christoph Schwantener.
2. Volrath v. Penz.
1578–1614.

§. 123. G. X.

Der Ritter Mathias v. Oertzen hinterließ auch eine Tochter, Adelheid, welche zuerst an Christoph Schwantener vermählt ward. Ohne Zweifel war Christoph Schwantener ein fremder Edelmann, welcher in den niederländischen Kriegen mit Adelheids Bruder Vicke v. Oertzen bekannt geworden und mit demselben nach Meklenburg gekommen sein wird; dies wird sicher die Veranlassung zu der Vermählung gewesen sein, da alle Zeitangaben zutreffen. Schwantener hatte als Rittmeister geraume Zeit in der Königlichen Majestät von Spanien Diensten gestanden und war wahrscheinlich spätestens 1569 in diese Dienste getreten. Als in den Jahren 1574 und 1575 die alten Bestallungen („Fahnen") der deutschen Reiter aufgelöset wurden, stand unter denen, die noch rückständigen Sold zu fordern hatten, an der Spitze Christoph Schwantener mit 5880 Thlr. 20 ßl., und auf ihn folgte unmittelbar Vicke v. Oertzen mit 3045 Thlr. 26 ßl.

Ueber die Herkunft Schwantener's hat sich nichts erforschen lassen; das einzige, was sich angeben läßt, ist sein Wappen: er führt im Siegel in einem vierfach getheilten Schilde: 1. eine Figur, wie ein lateinisches C oder einen halben Mond, 2. einen rechts gekehrten Schwan (wohl ein redendes Zeichen für den Namen Schwantener), 3. einen schräg rechts gewecken Schild, 4. einen wilden Mann mit einem Kruge oder dgl. in der rechten Hand, auf dem Helme einen links gekehrten Schwan, und zu beiden Seiten die Buchstaben C S.

Im J. 1577 hatte Christoph Schwantener eine neue Bestallung von dem Könige Philipp von Spanien angenommen.

In Meklenburg wird Christoph Schwantener zum ersten Male Antonii 1578, und zwar als Ehemann der Adelheid v. Oertzen, genannt, als Joachim v. Oertzen auf Wustrow und Wipert v. Lützow auf Turow, für sich und in Vollmacht ih-

res Bruders und Schwagers Vicke v. Oertzen auf Gammelin, zum Besten des unmündigen Stellan v. Oertzen auf Schossin, ihres verstorbenen Bruders und Schwagers Sohnes, ihrem „Schwager Christoph Schwantener und dessen Hausfrau „Alheid von Oertzen, ihrer Schwester und Schwägerin", Stellan's Lehngut Schossin m. Z., nämlich das Gut und Dorf Schossin, das Dorf Radelübbe, den Rothen Krug, sammt der Mühle daselbst, auf 8 Jahre lang für 9000 Mark lübisch zum wirklichen Besitze verpfändeten, worauf der landes- und lehnsherrliche Consens am 27. Oct. 1578 erfolgte. Von dem fernern Verlaufe dieser Verpfändung ist nichts weiter bekannt; im J. 1585 war Stellan v. Oertzen wieder im Besitze des Gutes Schossin.

Als im J. 1578 der Herzog Franz II. von Sachsen-Lauenburg einen neuen Zug in die Niederlande (vgl. oben S. 267) vorbereitete, ward der Herzog Ulrich wieder auf den Zuzug aufmerksam und suchte das im J. 1568 erlassene Verbot (vgl. oben S. 258) gegen fremde Dienste wieder in Anwendung zu bringen. Schwantener war gerade in Meklenburg anwesend und Pfandträger eines meklenburgischen Lehngutes geworden, und daher verbot ihm der Herzog den Zug in die Niederlande. Bei diesen Verhandlungen kam die Stellung Schwanteners zur Sprache. Schwantener war Rittmeister in spanischen Diensten und „eine geraume Zeit vor etlichen „Jahren in der Königlichen Majestät zu Hispanien Bestallung „gewesen und derselbigen nie ohnig geworden"; seine letzte Rittmeisterbestallung war vom J. 1577 datirt und von dem Könige Philipp von Spanien eigenhändig unterschrieben und besiegelt. Er hatte „sich mehrentheils außerhalb der meklenbur„gischen Fürstenthümer und Lande verhalten". Als nun der Herzog Ulrich erfahren hatte, daß der „Rittmeister Christoph „Schwantener nicht allein für seine Person sich wieder in spa„nische Bestallung begeben wolle, sondern auch des Herzogs „Lehnleute und Unterthanen zu solcher Bestallung bereden und „mit Gelde aufwiegeln solle", so verbot er ihm bei schwerer Strafe am 28. Aug. 1578 die Ausführung seines Vorhabens. Obgleich Schwantener am 8. Sept. 1578 dagegen einwandte,

daß er seit langer Zeit in des Königs von Spanien Bestallung stehe, aus derselben noch ansehnliche Forderungen habe, die spanische Bestallung nicht gegen das Römische Reich und dessen Fürsten, sondern allein gegen des Königs von Spanien „widerwärtige und rebellische Unterthanen" gerichtet sei, daß es endlich seine Ehre und das Recht fordere, seine Bestallung zu halten, um so mehr da auch „etliche von den deutschen Kreisfürsten in eigener Person sich selbst in die Bestallung begäben „oder ihr Kriegsvolk fortschickten", so forderte doch der Herzog Ulrich am 10. Sept. 1578, daß er die meklenburgischen Unterthanen, die er etwa in seine Bestallung genommen, ihrer Verpflichtung erlasse, da er als ein gehorsamer Fürst des Reichs sich schuldig erkenne, auf die Befolgung der Reichssatzungen und der Kreisabschiede mit gebührendem Ernst zu halten. Nachdem Schwantener am 11. Sept. noch einmal dagegen vorgestellt hatte, daß er seine „merklichen" Forderungen und sein „allbereits fortgeschicktes Kriegsvolk" seinen Sold nicht erhalten und sie alle dadurch das Ihrige, er auch seine Ehre und seinen wohl hergebrachten Namen verlieren würde, wenn er als redlicher Kriegsmann seine Bestallung nicht halten und seinem Volke nicht folgen sollte, er auch versprochen hatte, sich auf diesen Zug für seine Person allein mit seinen Pferden und eigenen Dienern zu begeben und keine meklenburgischen Lehnleute und Unterthanen mitzunehmen, erlaubte ihm endlich der Herzog am 14. Sept. 1578 den Zug für seine Person mit seinen eigenen Knechten und Pferden, unter der Bedingung, daß er keine meklenburgische Lehnleute und Unterthanen mit sich führe. Von der Theilnahme Schwantener's an diesem Zuge ist nichts weiter bekannt geworden; er war zur Zeit dieser Verhandlungen sehr krank. — Zu gleicher Zeit ward dem Curd Penz auf Redevin in sehr starken Ausdrücken bei Verlust aller Lehen und Güter am 25. Aug. 1578 verboten, sich in spanische Bestallung zu begeben und den „Erzfeinden ihres christlichen Namens und Geblüts zuzuziehen, in Betrachtung, daß „die Spanier allen Deutschen, insonderheit aber den augsburgischen Confessionsverwandten, von Herzen feind und alle ihre „Anschläge und Gedanken allein auf Ausrottung und Vertilgung

„Gottes Wortes und deutschen Namens und Geblüts und also „auf Ausbreitung ihres tyrannischen und blutdürstigen Regi„ments gerichtet seien". Curd Penz erwiderte darauf von Ratzeburg am 31. Aug. 1578, daß er eine geraume Zeit her dem Herzoge Franz dem jüngern von Sachsen-Lauenburg mit Diensten und Pflichten verwandt gewesen und als der Herzog von der Krone Hispanien Bestallung und Geld empfangen habe, von demselben als Rittmeister angenommen sei und mit demselben in die Niederlande ziehen müsse; er habe von dem Verbote des Herzogs nichts gewußt, sondern annehmen müssen, daß, da der Herzog Franz als ein hochlöblicher Fürst des Reichs sich zu diesem Zuge gebrauchen lasse, derselbe nicht gegen das deutsche Vaterland und die Religion, sondern auf Errettung der Königlichen Majestät zu Hispanien Niederburgundischer Erblande gerichtet sei, und bat um Erlaubniß, mitziehen zu dürfen, da er sich zur Erhaltung seines adeligen Standes und seiner Ehre dazu verpflichtet habe. Weiter ist hierüber nichts bekannt.

Es ist überhaupt die Frage, ob Schwantener diesen Zug nach den Niederlanden wirklich mitgemacht habe. Er war zur Zeit der Rüstung sehr krank und scheint überhaupt leidend gewesen zu sein. Am 23. Sept. 1580 machte er „in Schwach„heit seines Leibes, wiewohl er noch gehen und stehen" konnte, zu Schwerin, in Gegenwart des Hofraths Andreas Mylius, des Burgemeisters Georg Fueß, dreier Rathsverwandten und zweier Bürger von Schwerin, sein Testament, durch welches er seine „liebe Hausfrau Adelheid von Oertzen zur Erbin aller „seiner Nachlassenschaft, mit der er reichlich gesegnet" war, einsetzte, da Gott ihnen keine Leibeserben gegeben hatte; er bestimmte besonders Folgendes: von den 9000 Mark lüb. Pfandgeldern, welche er für das Gut Schossin vorgestreckt hatte, sollte seine Frau für ihren eingebrachten Brautschatz und ihre vermachte Leibzucht 2000 Thaler und außerdem noch 2000 Thaler vor seinen Gläubigern und Blutsfreunden voraus haben und den übrigen ganzen Rest seines Nachlasses, nach Bezahlung seiner Schulden, mit seinen nächsten Blutsverwandten gleichmäßig theilen; jedoch sollten vor dieser Theilung den

Armen im Heiligen-Geist-Hause zu Schwerin 100 Thaler verreicht werden. Zu Testamentsvollstreckern setzte er seine „Schwäger und guten Freunde" Joachim und Vicke v. Oertzen auf Wustrow, Henneke v. Penz auf Besendorf und Barthold v. Bülow auf Holdorf ein. Der Herzog Ulrich bestätigte am 10. Oct. 1580 dieses Testament.

Da Schwantener wiederholt sehr schwach war, so wird er wohl bald nach Errichtung seines Testaments im J. 1580 gestorben sein. Im J. 1585 erscheint Stellan v. Oertzen wieder im Besitze des Gutes Schossin. Schwantener wird nach 1580 nicht wieder genannt und Adelheid v. Oertzen kommt als seine Frau nicht wieder vor.

In den Jahren 1603 und 1614 erscheint aber wieder noch ein Mal eine Adelheid v. Oertzen als die Wittwe des Volrath v. Penz auf Bandekow und Gößlow. Es ist möglich und wahrscheinlich, daß diese die Adelheid v. Oertzen ist, welche im J. 1578 die Gemahlin des Christoph Schwantener war, und daß dieselbe sich nach dessen Tode mit Volrath Penz wieder verheirathete. Im J. 1614 lag sie mit ihres Mannes Bruder Chrysostomus Penz in Streit, weil sie ohne Bewilligung der nächsten Agnaten das Gut Gößlow, eine Pertinenz von Warlitz, an sich zu bringen unterstanden hatte.

---

## 26.

## Stellan.

1569 † vor 1591.

§. 124. G. XI.

Stellan v. Oertzen, welcher von seinem mütterlichen Großvater Stellan v. Plessen auf Großenhof den Vornamen trug, war der einzige Sohn Stephan's v. Oertzen auf Schossin aus dessen erster Ehe und noch unmündig, als sein Vater im J. 1569 im Hugenottenkriege in Frankreich blieb. Am 28. Octbr. 1571 wurden Vicke v. Oertzen zu Gerdshagen, Curd v.

Pleſſen zu Damshagen, Veit v. Lützow zu Lützow und Curd v. d. Lühe zu Pantzow zu ſeinen Vormündern beſtellt. Im J. 1578 war Stellan v. Oertzen noch minderjährig. Sein Vater hatte große und beſchwerliche Schulden hinterlaſſen. Daher verpfändeten Antonii 1578 Joachim v. Oertzen auf Wuſtrow und Wipert v. Lützow auf Thurow, „ſeligen Stephans v. „Oertzen Bruder und Schwager", für ſich und in Vollmacht „ihres Bruders und Schwagers Vicke v. Oertzen auf Gam„melin", „zum Beſten ihres unmündigen Vetters" Stellan v. Oertzen, ihres ſeligen Bruders und Schwagers Stephan Sohnes, deſſen Lehngut Schoſſin mit deſſen Zubehörungen, nämlich „das Gut und Dorf Schoſſin, das Dorf Radelübbe, den „Rothen Krug ſammt der „Mühle daſelbſt", für 9000 Mark lübiſch auf acht Jahre lang zum Beſitze ihrem „Schwager „Chriſtoph Schwantener und deſſen Hausfrau Alheid „von Oertzen, ihrer Schweſter und Schwägerin". Sivert, Vicke und Jaſpar, Vater, Sohn und Vetter, die v. Oertzen zu Clausdorf, Gerdshagen, Gorow und Roggow", der Verpfänder „Vettern und Schwager", geben dazu ihre Einwilligung, und der lehnsherrliche Conſens erfolgte am 27. Oct. 1578.

Stellan v. Oertzen wird um das J. 1585 ſeine Volljährigkeit erreicht und um dieſe Zeit es möglich gemacht haben, das Gut Schoſſin wieder einzulöſen, da er im J. 1585, wenn auch noch „jung", doch als Beſitzer des Gutes ſelbſtſtändig handelnd auftritt.

Am 22. April 1585 ſchloß Stephan v. Oertzen mit ſeines Vaters Bruder Joachim auf Wuſtrow einen wichtigen Vertrag [CCCCXIV], aus welchem zugleich die beſonderen Verhältniſſe der Linie Gammelin während des 16. Jahrhunderts klar werden. In der Theilung der von dem Ritter Mathias v. Oertzen hinterlaſſenen Güter war von den verpfändeten und noch zu erſtreitenden Gütern das Gut Helpte, welches die ſtargardiſche Linie beſaß (vgl. oben S. 252), aber von der gammeliner Linie beanſprucht ward, an Stephan v. Oertzen und von dieſem an deſſen Sohn Stellan gefallen. Da es aber vorauszuſehen war, daß Stellan dieſes Gut nicht ohne beſondern langwierigen Rechtsſtreit von ſeinen „Vettern" im

Lande Stargard, Jakobs Söhnen, werde erstreiten können, er sich aber zu einem solchen Unternehmen wohl für zu jung und zu wenig erfahren hielt, so trat er seinem Oheim Joachim alle seine vermeintlichen Rechte an Helpte vollständig ab, wogegen dieser sich, für den Fall, daß er das Gut Helpte erstreiten würde, verbindlich machte, seinem Neffen Stellan dafür den Hof Mühlenbek einzuräumen und ihm, wenn er die Gewinnung des Gutes Helpte erleben würde, 3000 Mark lübisch zu zahlen; sollte aber Stellan vor dem Ende des Rechtsstreites sterben, so sollte Joachim v. Oertzen nicht verbunden sein, die 3000 Mark an Stellans Erben zu erlegen. Stellan v. Oertzen muß bei Abschließung dieses Vertrages, wenn auch mündig, doch noch nicht volljährig gewesen oder seine Volljährigkeit erst so eben erreicht haben, da noch ausdrücklich bedingt wird, daß ihm seine „Jugend nicht zur Unmündigkeit gerechnet" werden solle; jedoch besiegelte Stellan v. Oertzen den Vertrag schon mit seinem erblichen Pitschier. Der Rechtsstreit über Helpte nahm für die gammeliner Linie keinen günstigen Ausgang und die stargardische Linie blieb im Besitze des Gutes Helpte und nennt sich daher noch heute die „helpter Linie".

Im J. 1586 wird Stellan v. Oertzen sicher volljährig gewesen sein, da er Antonii 1587 seine Einwilligung gab, als sein Oheim Joachim auf Wustrow seinem Schwager Christoph v. Cölln auf Gr. Grabow für eine Anleihe von 1000 Thalern das Gut Körchow zum Pfande setzte.

Nicht lange darauf vermählte sich Stellan v. Oertzen mit Magdalene v. Schack, welche jedoch nur als Stellans Wittwe vorkommt. Bei der Abschließung des Vertrages vom 22. April 1585 wird er noch nicht verheirathet gewesen sein, da in demselben unter Stellans „Freundschaft" die Schacksche Familie noch nicht vorkommt.

Diese Ehe war nicht lange von Bestand. Schon vor dem Jahre 1591 schied Stellan v. Oertzen aus diesem Leben, und mit ihm starb das Haus Schossin im Mannesstamme aus, nachdem ein Sohn von ihm in früher Jugend gestorben war.

Nach Stellans Tode gerieth „Magdalene v. Schack, sel. „Stellans v. Oertzen hinterlassene Wittwe, und deren Mutter „Sophie, geb. von der Wische, („die alte Schackſche")", wegen ihres Witthums mit den Brüdern Joachim und Vicke v. Oertzen in Streit, den die Juristen-Facultät zu Rostock am 12. Mai 1591 dahin entschied, daß die Lehnsfolger ihr aus dem Lehn 1000 Thaler Brautschatz, 500 Mark Vater- und Mutter-Erbe, die Hälfte der von ihrem Manne hinterlassenen fahrenden Habe und den Werth der ihr ausgesetzten Ketten und Kleinodien folgen zu lassen und ihr eine Behausung oder die Miethe dafür zu geben schuldig seien. Die Wittwe wird noch am 28. Dec. 1591, jedoch nicht weiter genannt.

In das Lehn Schossin folgte auf Stellan nach dessen Tode sein Oheim Joachim v. Oertzen auf Wustrow.

Stellan v. Oertzen hatte einen Sohn, der jedoch in jungen Jahren starb.

XII. 32. Stellans Sohn N. N.

27.

## Anna.

1569—1591.

§. 125. G. XI.

Stephan v. Oertzen auf Schossin hatte aus seiner kurzen zweiten Ehe mit Armgard v. Platen eine Tochter Anna hinterlassen, welche bei ihres Vaters Tode im J. 1569 unmündig war. Sie wird in dem Vertrage vom 20. October 1591 [CCCCXVI] „Jungfer Anna v. Oertzen, seligen Stellans „Schwester", genannt. Weiter kommt sie nicht vor. — Im J. 1597 wird Anna v. Oertzen Wittwe des Volrath Sperling (wahrscheinlich auf Keetz) genannt; da sich aber der Vorname

Anna in der Familie öfter findet, so läßt es sich nicht bestimmen, ob hier die Tochter Stephans gemeint ist: sie wird sich daher nur als Stephans Tochter annehmen lassen, wenn sich keine andere Anna v. Oertzen als eine Gemahlin eines v. Sperling nachweisen läßt.

## 28.
## Mathias III.
1586—1622.

§. 126. G. XI.

Mathias III. v. Oertzen war der ältere Sohn Joachims auf Wustrow. Er tritt schon früh neben seinem Vater auf, ohne daß eine Zeit lang seines jüngern Bruders Stephan gedacht würde. Als Joachim v. Oertzen Antonii 1586 sein Gut Wustrow verpfändete, besiegelte er den Pfandbrief „neben seinem freundlichen lieben Sohne Mathias v. Oertzen", und als derselbe Antonii 1587 sein Gut Körchow verpfändete, berichtete er dem Herzoge Ulrich, daß er die Verpfändung nicht von seinem Bruder Vicke, mit dem er etliche Jahre partheiisch gestanden, sondern „von seinem erwachsenen Sohne, welchen er für den nächsten Agnaten zu seinen Gütern halte", habe consentiren lassen, und „sein lieber Sohn Mathias v. Oertzen auf Wustrow" willigt auch in die Verpfändung. Eben so verpfändete Joachim v. Oertzen Antonii 1587 zwei Bauern zu Wustrow mit Consens, Wissen und Bewilligung „seines freundlichen lieben Sohnes Mathias", und der wichtige Verkauf des ganzen Gutes Wustrow Martini 1590 geschah ebenfalls „mit Rath, Bewilligung, Wissen und Willen" desselben, während sein Bruder Stephan damals „außerhalb Landes" war. Martini 1590 wohnte Mathias v. Oertzen schon zu Cramonshagen, da er „Mathias v. Oertzen zum Hagen" genannt wird, und hatte bis zu seinem Tode seinen Wohnsitz

auf diesem Gute. Cramonshagen war freilich Antonii 1586 auf fünf Jahre an Joachim Fineke verpfändet; Joachim v. Oertzen wird es aber durch den Anfall von Schossin im J. 1591 möglich gemacht haben, das Gut Cramonshagen vor dem Ablauf der Pfandjahre einzulösen, oder es war auch das Leibgedinge seiner Gemahlin auf diesem Gute von der Verpfändung ausgenommen und dem Sohne zum Wohnsitze überwiesen. Kurz vor dem Tode Joachims erscheinen am 22 Jan. 1597 mit ihm zuerst seine beiden Söhne Mathias und Stephan, als er mit Einwilligung derselben das Gut Schossin an den Herzog Ulrich auf 12 Jahre verpfändete.

Nachdem sein Vater im J. 1598 gestorben war, ging Mathias v. Oertzen in die Niederlande, wahrscheinlich in Kriegsdienste, vielleicht auch aus Rücksicht gegen seines Vaters Bruder Vicke, welcher dort noch bedeutende Forderungen für seinen Kriegsdienst hatte. Am 13. April 1599 muthete Stephan v. Oertzen die väterlichen Lehngüter „in Abwesenheit „seines Bruders Mathias, welcher sich damals in den Nieder„landen aufhielt", und am 7. Julii 1599 war dieser noch „abwesend", als Stephan die Muthung wiederholte.

In der Folge erscheint Mathias mit seinem Bruder Stephan zu Cramonshagen wohnhaft. Als ihr Oheim Vicke am 14. Jan. 1602 sein Gut Mühlenbek verpfändete und am 17. Jan. 1607 seine Güter Gammelin und Mühlenbek verkaufte, gaben die „Brüder Mathias und Stephan v. Oertzen zu Cra„monshagen erbgesessen ihren Consens" zu diesen Veräußerungen. Am 6. Febr. 1616 und am 17. Jan. 1619 willigte Mathias v. Oertzen „zu Cramonshagen" wiederholt in die Verpfändung des Gutes Schossin durch seinen Bruder Stephan. Zuletzt erscheint Mathias v. Oertzen im Febr. 1622, als er seine Einwilligung zu dem Verkaufe von Radelübbe durch seinen Bruder Stephan gab.

Mathias v. Oertzen scheint, wenn er nicht im Auslande war, ein zurückgezogenes Leben auf dem Gute Cramonshagen geführt zu haben, da sein Bruder Stephan immer allein mit der Verwaltung der Güter beschäftigt erscheint; Mathias tritt nur auf, wenn er seinen Consens giebt. Wahrscheinlich war er

nie vermählt, da weder von Gemahlin, noch von Kindern und Leibeslehnserben je die Rede ist. Er wird bald nach dem J. 1622, ungefähr 55 Jahre alt, gestorben sein.

---

## 29.

## Stephan II.

1590—1642 († 1645).

§. 127. G. XI.

Stephan v. Oertzen war der jüngere Sohn Joachims auf Wustrow ꝛc. In seinen jüngern Jahren scheint er lange Zeit im Auslande gelebt zu haben, während sein älterer Bruder Mathias 1586–1597 immer neben dem Vater handelnd auftritt. Martini 1590 wird ausdrücklich gesagt, daß „Stephan v. Oertzen außerhalb Landes" sei, als sein Vater sich genöthigt sah, sein Lehngut Wustrow zu verkaufen. In der Folge erscheint er aber lebhaft mit der Verwaltung der Güter beschäftigt, während sein älterer Bruder Mathias, den er längere Zeit überlebte, ein mehr zurückgezogenes Leben führte.

Sein Vater Joachim hatte in kurzer Zeit seine Erbgüter verkaufen müssen, mit Ausnahme von Cramonshagen, welches jedoch verpfändet war. Durch den Tod seiner Brüder Stephan und Segeband war er wieder zum Besitze gelangt, indem ihm durch Vergleich mit seinem Bruder Vicke am 20. Oct. 1591 das Lehngut Schoffin mit Antheil in Radelübbe, dem Rothen Kruge und der Rothen Mühle zufiel. Aber auch dieses Gut konnte er nicht lange halten, sondern mußte es am 22. Jan. 1597 dem Herzoge Ulrich zu einem wiederkäuflichen Kaufe auf 12 Jahre einräumen. Bei dieser Gelegenheit tritt Stephan zuerst auf, indem er mit seinem Bruder Mathias seine Einwilligung zu dieser Verpfändung gab.

Nachdem sein Vater gegen Ende des Jahres 1598, wahrscheinlich in Abwesenheit seiner beiden Söhne, gestorben war,

muthete Stephan, in Abwesenheit seines ältern Bruders Mathias, der sich in den Niederlanden aufhielt, am 13. April 1599 die väterlichen Lehngüter. Nachdem der Herzog am 8. Junii 1599 den Bescheid erlassen hatte, daß er erst angeben möge, welche Lehngüter auf ihn und seinen Bruder vererbt seien, berichtete Stephan v. Oertzen am 21. Junii 1599, daß ihm und seinem Bruder folgende Lehen gehörten:

1. Cramonshagen, welches unverkauft sei, ihnen jedoch jetzt nur zum geringsten Theile zustehe, da ihre Mutter wegen ihres Leibgedinges und seines Vaters Gläubiger „an dem Gute merklich interessirten";

2. Schossin, welches (1597) nur auf 12 Jahre an den Herzog verpfändet sei, nach deren Ablauf er es aber wieder einlösen müsse, wenn er zu Gelde kommen könne und der Herzog das Gut nicht länger behalten wolle;

3. Gammelin und Mühlenbek, da ihres Vaters Bruder Vicke bis dahin mit Leibeserben nicht begabt sei, er und sein Bruder aber für den Fall seines unbeerbten Abganges die nächsten Lehnsfolger seien;

4. Scharfstorf und Beidendorf zur Hälfte, da ihnen für denselben Fall die Anwartschaft darauf zustehe;

5. Wustrow, da er in den Verkauf nicht gewilligt habe und er beabsichtige, das Gut wieder an sich zu bringen.

Von diesen Gütern war aber Wustrow mit herzoglichem Consense verkauft und Gammelin, Mühlenbek, halb Scharfstorf und Beidendorf seinem Oheim Vicke zuständig, der nicht allein noch spät, um das J. 1609, mit einem Lehnserben, Franz Carl, beglückt ward, sondern auch vor seinem Tode alle seine Güter verkaufte. Da nun auch Schossin verpfändet war, so hatten die beiden Brüder nach ihres Vaters Tode in der That keinen andern Besitz, als einen kleinen Antheil an Cramonshagen und das Recht der Einlösung von Schossin. Deshalb beschied sie der Herzog Ulrich am 7. Julii 1599 auch dahin, daß er und sein Bruder mit dem, was ihnen an Lehngütern offen stehe, auf Meldung belehnt werden sollten, daß sie aber mit den Gütern, die ihres Vaters Bruder noch besitze und die ihr Vater erblich verkauft habe, nicht belehnt

werden könnten, bevor sie dieselben mit Recht wieder an sich gebracht hätten.

Daher wohnte Stephan v. Oertzen mit seinem Bruder längere Zeit zu Cramonshagen auf dem Leibgedinge ihrer Mutter, welche noch am Ende des J. 1610 „in hohem und schwerem Alter" „als alte Matrone" mit ihrer Tochter und deren Gemahl Busso v. Peuz zu Cramonshagen lebte; es wird auch späterhin ausdrücklich gesagt, daß Stephan v. Oertzen „vor diesem zu Cramonshagen gewohnt" habe. Am 17. Dec. 1600 datirte er ein Schreiben an den Herzog Ulrich von Cramonshagen und am 14. Jan. 1602 und am 17. Jan. 1607 werden die Brüder Mathias und Stephan v. Oertzen als zu Cramonshagen wohnhaft aufgeführt, als sie zu der Veräußerung der Güter ihres Oheims Vicke ihre Zustimmung gaben; auch wird in Adelsregistern aus den Jahren 1602, 1605 und 1609 Stephan v. Oertzen allein als Lehnträger von Cramonshagen aufgeführt.

Stephan v. Oertzen machte jedoch früh ernsthafte Anstalten, wieder zum festen Güterbesitze zu gelangen. Schon bald nach seines Vaters Tode hatte er nach seiner Heimkehr den Mathias Vieregge persönlich um Wiederabtretung des Gutes Wustrow gebeten, jedoch vergeblich. Deshalb stellte er im J. 1600 gegen denselben eine Klage vor dem Hof- und Landgerichte wegen Herausgabe des Gutes an, weil er bei dem Verkaufe außerhalb Landes gewesen sei, in den Verkauf nicht gewilligt, vielmehr demselben stets widerstritten habe. Der Proceß wandte sich zuerst 1600—1603 auf Cautionsleistung durch Stephan v. Oertzen und schlief darüber bei dem Mangel an hinreichenden Mitteln für immer ganz ein.

Bald darauf suchte Stephan v. Oertzen das Gut Schoffin m. Z. wieder an sich zu bringen. Am 22. Jan. 1597 hatte Stephans Vater sein Gut Schoffin dem Herzoge Ulrich zu einem rechten Kaufe unter Vorbehalt des Wiederkaufes auf 12 Jahre für 12,000 Gulden verkaufen und dem Besitze entsagen müssen. Der Herzog hatte das Gut mit seinem eigenen Gelde erworben und daher ging es nach seinem am 14. März 1603 erfolgten Tode auf die herzogliche Wittwe Anna über. Beim

Ablaufe der Pfandjahre konnte Joachims Sohn Stephan das Gut „von der fürstlichen Wittwe dadurch wieder einlösen", daß Margarethe v. Winterfeld, des Curd v. Penz nachgelassene Wittwe, dieselbe, welche Gammelin und Mühlenbek im J. 1607 von Vicke v. Oertzen kaufte (vgl. oben S. 278), ihm dazu 8000 Gulden lieh. Diese Summe verzinsete Stephan v. Oertzen, bis sich die Söhne der vor 1616 verstorbenen Margarethe Penz, gebornen v. Winterfeld, Curd und Hans Penz, auseinandersetzten. Als bei dieser Gelegenheit dem Hans Penz diese 8000 Gulden überwiesen wurden, konnten die Vormünder des noch minderjährigen Hans Penz sich nicht mit dem Versprechen der Verzinsung begnügen. Daher mußte Stephan v. Oertzen am 16. Febr. 1616 den Vormündern des Hans Penz, nämlich dem Franz v. Winterfeld zu Tützen und dem Heinrich Sprengel auf Grese, für diese Schuld sein ganzes Vermögen, namentlich sein Lehngut Schossin, mit Einwilligung „seiner „ehelichen Hausfrau Dorothea Sprengel, wegen ihrer „fräulichen Gerechtigkeit, seines Bruders Mathias zu Cramons„hagen, seiner Agnaten und Vettern Jaspar, Jürgen und Si„vert, von der roggower Linie, und der Vormünder des un„mündigen Franz Carl v. Oertzen", auf 2 Jahre zum Unterpfande setzen. Um dieselbe Zeit führte Stephan gegen diese Brüder v. Penz einen Proceß wegen streitiger Grenzen zwischen Schossin und Gammelin, welcher lange währte und 1625 zum Vergleiche stand.

Seit der Wiedereinlösung des Gutes Schossin wird „Ste„phan v. Oertzen als zu Schossin" wohnhaft in den Adelsregistern, z. B. am 9. Aug. 1619, und bei der Landestheilung im J. 1621 aufgeführt und er selbst datirt auch seine Briefe von Schossin. Als nach Ablauf der zwei Jahre Hans v. Penz das Geld nicht länger in Schossin stehen lassen wollte, lieh Hans v. Driberg zu Gotmansförde 4000 Gulden, wofür Stephan v. Oertzen ihm Antonii 1619 wieder das Gut Schossin zu Pfande setzte, ebenfalls mit Bewilligung seiner „lieben Haus„frau Dorothea Sprengel" und seines „Bruders Ma„thias, als nächsten Lehnsfolgers". — Späterhin ist von einer

Verpfändung des Gutes Schoſſin durch Stephan v. Oertzen keine Rede.

Um ſich aber von ſeiner Schuldenlaſt zu befreien, verkaufte Stephan am 30. Nov. 1619 ſeinen Antheil an dem Dorfe Radelübbe mit etlichen zu ſeinem Gute Schoſſin gehörenden Lehnſtücken, nämlich zu Rothen-Mühle und Rothen-Krug, mit Bewilligung ſeines Bruders und nächſten Agnaten Mathias und der Vormünder des Franz Carl v. Oertzen, dem Curd v. Penz zu Gammelin und Mühlenbek. Curd v. Penz hatte 1628 ſeinen Beſitz in Radelübbe einem Schäfer in Pacht gegeben. Wegen des Gutes Radelübbe entſtand am Ende des 17. Jahrhunderts ein langer, vielſeitiger Streit. Stephan v. Oertzen hatte ſeiner Tochter Eliſabeth Margarethe bei ihrer Verheirathung mit Moritz v. Lützow einen Antheil von Radelübbe, beſtehend aus 4 Hufen mit Antheil in Rothen-Krug und Rothe-Mühle, zum Brautſchatze mitgegeben und dieſer Antheil war auf v. Lützow's Tochter Lucia, welche an Johann Georg v. Scharffenberg verheirathet ward, vererbt. Hiedurch blieb v. Scharffenberg im Beſitze dieſes Antheils von Radelübbe, welchen ſpätere Beſitzer reluiren wollten. Die Anſprüche von verſchiedenen Seiten waren ſehr zahlreich und die Verhandlungen ſehr verwickelt, bis in der Zeit von 1698—1701 die Sache durch Vergleich und Verkauf beigelegt ward. Radelübbe aber kam ſeit 1619 aus der v. örtzenſchen Familie.

Nachdem Stephans Bruder Mathias im J. 1622 zuletzt aufgetreten und wohl bald darauf geſtorben war, erſcheint Stephan v. Oertzen allein als Beſitzer von Schoſſin und Cramonshagen. Das Gut Cramonshagen verpachtete er und zwar zuerſt an Ulrich v. Blücher, ſpäter an einen v. Lützow; er ſelbſt nahm ſeinen Sitz zu Schoſſin. In dem Berichte der Beamten über die Vaſallen vom J. 1628 heißt es: „Stephan „v. Oertzen zum Cramonſchenhagen, iſt ein Lehngut, hat aber „Ulrich Blücher in Penſion; Stephan v. Oertzen zu Schoſſin „iſt ein alt Stammlehn und er ſelbſt Beſitzer". Bei der wallenſteinſchen Huldigung im J. 1632 wird „Stephan v. Oertzen „zu Schoſſin und Cramonshagen" aufgeführt; dabei wird berichtet: „Stephan v. Oertzen zu Schoſſin. Dieſer hat das Gut

„schon ohnlängst innegehabt, und ist ein Meierhof Cramon-„schenhagen genannt dabei belegen".

Wenn der dreißigjährige Krieg auch im westlichen Meklenburg nicht so ungeheure Verwüstungen anrichtete, als im östlichen Theile, so waren die Leiden im Gefolge des Krieges doch hart genug. Und so hatte auch Stephan v. Oertzen schwer zu leiden. „Nachdem er in diesem betrübten Kriegswesen nicht allein „um alle seine beweglichen Güter, Vieh und Fahrniß, sondern „auch um die zu seinen Gütern Schossin und Cramonshagen „gehörenden Unterthanen, die durch Pest und Hunger zu nichte „geworden, gekommen, auch die Zimmer bei dem Gütlein Cra-„monshagen meistentheils heruntergerissen waren und er nichts „im Vermögen hatte, nur etwas aufzurichten, es seine Noth-„durft erheischte, zur Erhaltung seines von seinen Aeltern und „Vorältern auf ihn vererbten Gutes Schossin" alles Mögliche aufzubieten, sah er sich genöthigt, am 1. Mai 1642 das „Gut-„lein" Cramonshagen an des verstorbenen Hans v. Driberg zu Gotmansförde hinterbliebene Wittwe Adelheid, geborne Fineke, ihren Sohn Joachim Heinrich, dessen Brüder und ihre Erben für 6000 Gulden erblich zu verkaufen, und am 8. Oct. 1645 gab der Herzog Adolph Friedrich diesen das Gut zu einem neuen Lehn.

Ueber diese Vorgänge giebt auch der Bericht des Pastors Alexander Gipsen zu Cramon vom 24. Febr. 1651 Kunde: „Der andere adelige Sitz (in der Pfarre) ist Cramonschen „Hagen, Daselbst hat vor diesem Stephan v. Oertzen gewohnt, „vor 20, 30 und mehr Jahren, hat auch solches Gut Andern „eine Zeit lang in Pension gethan, als Blüchern und Lützowen, „die aber vor 12 Jahren (also in dem schrecklichen Jahre 1638) „gestorben, bis nun etwa vor 8 Jahren ein richtiger Kauf zwi-„schen Stephan v. Oertzen seligen und der Wittwe Frau Dri-„bergschen getroffen, welche ihr Gut dem jüngsten Sohne über-„geben und sich mit ihrem ältesten Sohne nach dem Cramon-„schen Hagen begeben, woselbst sie sich aufhalten". — So kam auch das schöne Gut Cramonshagen aus der v. örtzenschen Familie.

Von allen Gütern der schwerinschen Linie oder der Linie Wustrow-Gammelin war der Familie v. Oertzen aber allein das durch den Krieg sehr entwerthete Gut Schoffin ohne Zubehörungen übrig geblieben, welches Stephan v. Oertzen aus der großen Kriegsbewegung rettete und auf einige Zeit auf seine Familie vererbte.

Stephan II. v. Oertzen war mit Dorothea v. Sprengel, wahrscheinlich von Greffe, dem alten v. sprengelschen Lehn, vermählt; sie wird am 6. Febr. 1616 und 17. Jan. 1619 seine eheliche Hausfrau genannt und zeugte mit ihm vier Töchter und einen Sohn Joachim Heinrich, der noch minderjährig war, als er nach seines Vaters Tode das Gut Schoffin erbte, freilich nur auf sehr kurze Zeit.

Stephan v. Oertzen starb zwischen 1. Mai 1642 und 30. Aug. 1645, wahrscheinlich im J. 1645, da am 30. Aug. 1645 über die Ansprüche seiner Kinder ein Vergleich geschlossen ward. Stephan v. Oertzen hatte einen Sohn Joachim Heinrich, welchen er in Minderjährigkeit hinterließ, und vier Töchter. Von diesen vier Töchtern war Elisabeth Margarethe an Moritz v. Lützow zu Horst verheirathet gewesen, aber schon im J. 1645 Wittwe, die zweite Tochter an Christoph v. Hünicke, Hauptmann zu Walsmühlen, verheirathet gewesen, aber schon vor dem J. 1639 gestorben, die beiden jüngsten Marie und Dorothea an die Vettern Christian und Jürgen Christoph v. Bischwang auf Zühr und Körchow verheirathet. Gleich nach Stephans Tode entstanden Streitigkeiten zwischen den Vormündern des Sohnes und den Ehemännern der beiden jüngsten Töchter, da deren Mitgift noch nicht ausgekehrt war. Die Gevettern v. Bischwang forderten für ihre Frauen „eine solche „Aussteuer, wie den andern, an seligen Moritz v. Lützow zu „Horst und Christoph v. Hünichen, gewesenen fürstlichen Haupt„mann zu Walsmühlen, verheiratheten Schwestern wiederfahren", und bewiesen, daß sie wegen der Aussteuer namentlich Christian v. Bischwang 6626 Fl. und Jürgen Christoph v. Bischwang 5771 Fl. 20 ßl. ihrer Frauen halber noch aus dem Gute Schoffin zu fordern hatten. Da nun das „Gut Schoffin durch „das verderbliche Kriegswesen bei Zeit der beiden erst ausge-

„steuerten Schwestern merklich depretiirt und in Abnehmen ge„rathen war", so ward am 30. Aug. 1645 zu Schossin ein Vergleich geschlossen, daß jede von den Schwestern sich mit 4000 Fl. begnügen wolle, wenn ihr derzeit noch unmündiger Bruder dereinst eheliche Erben hinterlassen würde, daß sie aber den völligen Nachstand nach dem Verzeichniß aus dem Gute zu fordern berechtigt seien, wenn derselbe ohne Leibeserben sterben sollte. Zur Haltung dieses Vergleichs ward den Vettern v. Bischwang das Gut Schossin zu Pfande gesetzt. Nach einem Berichte wohnte am 26. Jan. 1650 einer v. Bischwang, Stephans v. Oertzen Tochtermann, auf dem Gute Schossin. Die Ordnung und Bestätigung dieses Vertrages gerieth aber in Stocken und war im Anfange des J. 1650 nicht geregelt, als Joachim Heinrich v. Oertzen bald darauf in demselben Jahre 1650 starb. Am 8. Julii 1650 ward zwischen seinem Lehnsfolger Franz Carl und den an die Vettern v. Bischwang verheiratheten Schwestern v. Oertzen ein Vergleich dahin geschlossen, daß diesen alle ihre Forderungen vorbehalten bleiben, und, da beide Theile dem Besitze nicht entsagen wollten, Franz Carl zwei Drittheile, die v. Bischwang aber ein Drittheil des Gutes einnehmen sollten, bis die Sache durch Urtheil und Recht entschieden worden sei. Zur Vermeidung von Uneinigkeit ward bestimmt, daß die Schwestern v. Oertzen das Haus vor dem Hofe mit den dazu gehörenden Wirthschaftsgebäuden beziehen sollten.

Die Kinder Stephans v. Oertzen waren also:

XII. 33. Elisabeth Margarethe. 34. Tochter N.N. 35. Maria. 36. Dorothea. 37. Joachim Heinrich.

30.

## Joachims Tochter N.N.

Gem. Busso v. Penz.

(1599) † 1614.

§. 128. G. XI.

Joachim v. Oertzen auf Wustrow, Schossin ꝛc. hatte auch eine Tochter, deren Name nicht bekannt geworden ist. Sie ward an Busso v. Penz, aus dem Hause Bandekow, verheirathet, da dieser am 30. Dec. 1609 sagt, daß er „zu seiner „Hausfrauen Mutter, seligen Joachims v. Oertzen nachgelassener „Wittwe, um ihr in ihrem hohen und schweren Alter aus kind„lichem Gehorsam in der Haushaltung Hülfe zu beweisen und „so viel wie möglich Vorschub und Beistand zu thun, nach Cra„monshagen" gezogen sei; das Gut Cramonshagen war über 40 Jahre lang bis an ihren Tod der Gemahlin und Wittwe Joachims v. Oertzen zum Leibgedinge verschrieben gewesen. Am 15. Dec. 1610 lebte Busso v. Penz mit seiner Frau noch bei seiner Schwiegermutter zu Cramonshagen; am 16. April 1614 berichtete sein Bruder Chrysostomus Pentz, daß „sein lieber Bruder Busso Pentz kurz verstorben" sei.

---

31.

## Franz Carl.

1609 † 1672.

§. 129. G. XI.

Der Rittmeister Vicke IV. v. Oertzen auf Gammelin und Mühlenbek hinterließ nur einen Sohn Franz Carl. Vicke v. Oertzen hatte in der zweiten Hälfte des 16. Jahrh. wiederholt und lange in den Niederlanden als Rittmeister gedient und dabei für die Werbungen und seine eigene Erhaltung große Summen vorgeschossen, welche nie bezahlt wurden. Er sah sich daher genöthigt, seine Güter Gammelin und Mühlen-

bek und seine Anrechte an Scharfstorf zu verkaufen und seine Ansprüche an Kl. Tessin wegen Mangels an Rechtsgründen aufzugeben. Jedoch war er nach dem Verkaufe seiner Güter noch Pfandinhaber von Mühlenbek. So hinterließ Vicke v. Oertzen seinem Sohne nichts. Vicke v. Oertzen hatte, da er Kriegsmann war, sich erst spät mit Margarethe Maltzan von Grubenhagen vermählt. Am 21. Junii 1599 berichtete sein Vetter Stephan, Joachims v. Oertzen auf Schossin Sohn, daß „Gott „der Allmächtige seines Vaters Bruder Vicke v. Oertzen mit „Leibeserben bis anher nicht begabt" habe, und muthete dessen Lehn. Aber im J. 1605 wird Vicke's Gemahlin Margarethe Maltzan genannt, und am 15. Oct. 1609 berichtet Margarethe v. Winterfeld, des Curd v. Penz Wittwe, welche Gammelin und Mühlenbek von Vicke v. Oertzen gekauft hatte, daß „dem Vicke „v. Oertzen Gott nunmehr einen Erben gegeben" habe. Dieser war Franz Carl v. Oertzen, welcher also um das J. 1609 geboren sein wird. Vicke v. Oertzen starb ungefähr im J. 1612 und hinterließ seinen Sohn in unmündigen Jahren und seine Frau als Wittwe. Franz Carl war noch im J. 1626 minderjährig und erscheint zuerst im J. 1632 selbstständig; aus der Zeit seiner Minderjährigkeit geht auch hervor, daß er im J. 1609 oder einige Jahre früher geboren war. Seine Vormünder waren Christoph Maltzan zu Grubenhagen, wahrscheinlich ein Bruder seiner Mutter, Caspar v. Penz zu Warsow und Henneke v. Lützow zu Wöltzow, welcher im J. 1616 starb und für welchen Johann Friedrich Maltzan von Grubenhagen eintrat; am 28. Dec. 1626 wird gesagt, daß die „Gevettern „Christoph und Johann Friedrich Maltzan keinen gewissen Sitz „im Lande hatten, sondern sich meistentheils auf dem Gute „Stük, auf Wiperts Raben Hofe, aufhielten."

Als Stephan v. Oertzen am 6. Febr. 1616 sein Gut Schossin, welches er von der verwittweten Herzogin Anna eingelöset hatte, den Vormündern des Hans Penz auf zwei Jahre zum Pfande setzte, da er zu der Einlösung Geld aufgeliehen hatte, versagten die Vormünder des Franz Carl v. Oertzen ihre Einwilligung, vorzüglich deshalb, weil Stephan in ihres Mündels „fast unnöthige Veräußerung des Gutes Gammelin

gewilligt" hatte; der Herzog Adolph Friedrich I. erkannte jedoch diesen Einwand nicht für rechtsbeständig, gab seinen Consens zu der Verpfändung und „supplirte den Dissens und Defect" der Vormünder aus landesherrlicher Macht.

Am 15. Mai 1624 stand Franz Carl noch unter Vormundschaft und am 12. Junii 1626 wird berichtet, daß der „unmündige Franz Carl v. Oertzen mit keinen unbeweglichen Gütern im Lande Meklenburg angesessen" sei. In den nächsten Jahren wird er volljährig geworden sein, da er im J. 1632 selbstständig handelnd erscheint.

Von der Jugend des Franz Carl v. Oertzen ist weiter nichts bekannt. In der schweren Zeit des dreißigjährigen Krieges hatte er seinen Aufenthalt auf den den Gütern seiner Linie nahe gelegenen Gütern der damals blühenden Familie v. Halberstadt, mit der er die engsten Familienbande knüpfte.

Franz Carl v. Oertzen verheirathete sich, etwa um das Jahr 1632, mit Margarethe Elisabeth v. Halberstadt, einer Tochter des Hans Jürgen v. Halberstadt auf Gr. und Kl. Brütz u. s. w. und der Dorothea v. Moltke von Wesselstorf. Hans Jürgen v. Halberstadt, früher Kammerherr („Cammerierer") des Herzogs Johann Albrecht II., der einzige Sohn erster Ehe Christophs v. Halberstadt, besaß Anfangs die Güter Vietlübbe, Gottesgabe und Brütz, von denen er zuerst das Gut Vietlübbe, welches er 1611 nach dem Aussterben des Geschlechts v. Curdshagen von dem Herzoge Johann Albrecht II. „verehret" erhalten hatte, im J. 1633 an Hans Jürgen v. Hobe verkaufte. Da er in den Kriegszeiten in Geldverlegenheiten kam, so geschah es, daß Franz Carl v. Oertzen ihm sein ererbtes Geld lieh und für ihn Bürgschaften übernahm, wofür ihm zur Sicherheit das Gut Gottesgabe eingeräumt ward; ein amtlicher Bericht vom J. 1632 sagt: „Franz Carl von „Oertzen zu Gottesgabe. Dies Gut gehöret Hans Jürgen „von Halberstadt und ist dem Oertzen auf etliche Jahre ein„geräumet." Im J. 1633 verkaufte nun Hans Jürgen v. Halberstadt mit Bewilligung seiner Frau und seiner Söhne wegen drückender Schuldenlast seinem Schwiegersohne Franz Carl v. Oertzen, welcher ihm alle seine väterlichen und mütter-

lichen Erbgelder angeliehen hatte, das Lehngut Gottesgabe nebst den dazu gehörenden Meierhöfen Gr. Brütz und „Wendischhof für 32,000 Gulden, „worunter der Frau „Margarethe Elisabeth v. Halberstadt versprochene Ehegelder „von 4000 Gulden mit eingerechnet" waren. Die Ausfertigung des Kaufcontracts verzögerte sich aber, bis Hans Jürgen v. Halberstadt im J. 1636 „eines unvermuthlichen, schleunigen „Todes" starb. Am 26. Febr. 1651 berichtet über diese auch urkundlich verbürgten Vorgänge der Pastor Christian Albertus zu Gr. Brütz: „Dem Christoph v. Halberstadt sel. hat succe- „diret sein ältester Sohn Hans Jürgen v. Halberstadt sel., „welcher, nachdem er sein Gut Bietlübbe verkauft, anfänglich das „Gut Gottesgabe und darauf auch das ganze Gut Brütz auf „etliche Jahre possediret hat. Nachdem aber Hans Jürgen v. „Halberstadt sel. Anno 36 hier im Lande plötzlich und zwar „erbärmlich umkommen, haben etliche Jahre seine beiden Halb- „brüder (Joachim Friedrich und Cuno Hans) die beiden abe- „ligen Höfe zu Kl. Brütz possediret. Das Gut Gottesgabe „aber belangend, so hat dasselbe Franz Carl v. Oertzen, er- „melten Hans Jürgen v. Halberstadts Schwiegersohn, nunmehr „etliche Jahre possediret". Als Dethlof Hahn auf Damerow Johannis 1633 von Hans Jürgen v. Halberstadt auf Brütz 2046 Gulden 6 ßl. 6 pf. anlieh, stellte dieser auch den „Franz Carl „v. Oertzen zu Gottesgabe" zum Bürgen. Nach dem Tode des Hans Jürgen v. Halberstadt drang aber Franz Carl v. Oertzen auf die Ausfertigung eines Kaufcontracts. Nun aber trugen die ältesten Söhne des Hans Jürgen v. Halber- stadt Bedenken, die hinterlassenen Güter ihres Vaters anzu- treten, und glaubten, kein Recht zu haben, in den Verkauf des Gutes Gottesgabe nachträglich schriftlich zu willigen, und für seine jüngern Söhne waren noch keine Vormünder bestellt. Auf herzoglichen Befehl gaben aber die beiden ältern Söhne des Hans Jürgen v. Halberstadt, Johann Albrecht und Christoph, am 13. Junii 1637 ihren Consens, und hierauf ertheilte der Herzog Adolph Friedrich als oberster landesfürstlicher Vormund und Lehnherr die Confirmation des Verkaufs, welche am 30. Jan. 1638 ausgefertigt ward, indem der Herzog „sein richter-

„liches Decret und Auctorität interponirte". So gelangte das Gut Gottesgabe in den rechtlichen Besitz des Franz Carl v. Oertzen; das Gut Kl. Brütz nahmen aber einstweilen die Gläubiger des Hans Jürgen v. Halberstadt an, da dessen Söhne sich auf die Erbschaft ihres Vaters einzulassen weigerten. Seit dem Januar 1639 widersprachen aber die Gläubiger des Hans Jürgen v. Halberstadt dem Verkaufe des Gutes Gottesgabe, indem sie die im J. 1633 gepflogene Verabredung nicht für gültig anerkennen wollten. Es entstanden daher bis zum Jahre 1645 viele Streitigkeiten zwischen den Gläubigern und Franz Carl v. Oertzen, indem die Gläubiger den Handlungen des letztern, namentlich dem wiederholten Holzverkaufe, widersprachen. Franz Carl v. Oertzen war dagegen auch nicht mit dem Kaufe des Gutes Gottesgabe zufrieden, da er das Gut, in welches er alle Baarschaft gesteckt, um einen hohen Preis habe annehmen und „in seiner Minorennität „hohe beschwerliche Bürgschaften für seinen Schwiegervater „habe übernehmen müssen, so daß er bei währenden Kriegs„lasten fast um alle zeitliche Wohlfahrt gebracht" sei. In der Folge (am 29. Julii 1661) klagt Franz Carl, „daß „er durch den dreißigjährigen Krieg und darauf erfolgte be„schwerliche Durchzüge ansehnlicher starker Armeen und deren „Einquartirung gänzlich ruinirt und erschöpft sei", und am 20. Oct. 1639 sagt er nach den schrecklichen Jahren, daß ihn „die „äußerste, kundbare, unumgängliche Noth treibe, aus Mangel „anderer Mittel, wodurch er sein Weib, Kinder und Ge„sinde bei dem Leben erhalten könne", 200 Eichen von Gottesgabe für 600 Gulden nach Hamburg zu verkaufen. Am 1. Mai 1642 verkaufte er dem bekannten Amtmann Andreas Hund, damals zu Walsmühlen, 20 Balken und 30 Schneidehölzer Eichenholz für 50 Thlr. „zur Wiedereinrichtung und „Herbeischaffung bedürftigen Saatkorns und Viehes seines „Gutes Gottesgabe", und im J. 1643 verkaufte er wieder 200 Eichen zur Wiedereinrichtung seines Gutes Gottesgabe, da er „durch das landverderbliche Kriegswesen dermaßen mit„genommen war, daß er dadurch nicht allein um alle seine „Mobilien und fahrende Habe gekommen, sondern auch sein

„mit großem Schaden erkauftes Lehngut dermaßen devastiret „war, daß er dasselbe bis zur Stunde wenig, ja gar nicht „hatte gebrauchen und genießen können."

Während dieser Zeiten hatten nicht allein die übrigen Güter der Linie durch den Krieg ebenfalls bedeutend gelitten, sondern es waren auch in der Familie Ereignisse eingetreten, welche von der höchsten Bedeutung für die Linie Gammelin waren. Von der Linie Gammelin lebte außer Franz Carl nur noch Stephan auf Cramonshagen und Schossin mit mehreren Töchtern und einem einzigen Sohne Joachim Heinrich. Um seine ebenfalls durch den Krieg verwüsteten Güter wieder aufzurichten, sah Stephan sich genöthigt, am 1. Mai 1642 sein Gut Cramonshagen zu verkaufen „mit Wissen und „Beliebung seines nächsten Vetters Franz Carl v. Oertzen zu „Gottesgabe". Und so war Schossin das einzige alte Gut, welches noch der gammeliner Linie gehörte. Stephan v. Oertzen starb in der Zeit von 1642—1645 und hinterließ seinen Sohn Joachim Heinrich in minderjährigem Alter als künftigen Lehnträger von Schossin. Aber auch Joachim Heinrich starb schon im J. 1650 (zwischen 1. Febr. und 8. Julii), und so war Franz Carl der einzige und letzte männliche Sproß der Linie Gammelin und zugleich der letzte Erbe und Lehnsfolger des Gutes Schossin, da er keine männliche Erben hatte. Franz Carl nahm auch sogleich Besitz von dem Gute, gerieth aber mit den beiden jüngsten Töchtern Stephan's, Maria und Dorothea, welche an zwei Vettern v. Bischwang, Christian auf Zühr und Jürgen Christoph auf Körchow, verheirathet waren, in Streit, da sie noch ihre Mitgift zu fordern hatten. Um einstweilen Ruhe zu schaffen, verglich sich Franz Carl am 8. Julii 1650 mit den beiden Frauen v. Bischwang und deren Ehemännern dahin, daß ihnen ein Drittheil des Gutes Schossin mit einem Hause vor dem Hofe eingeräumt ward, bis es gerichtlich entschieden würde, ob ihre Forderung aus dem Lehn rechtmäßig sei oder nicht. Diese Vereinbarung ward aber für Franz Carl v. Oertzen sehr drückend und dadurch noch schwieriger, daß in demselben Jahre 1650 Jürgen Christoph v. Bischwang auf Körchow starb und

Christian auf Zühr sein Gut seinen Gläubigern abtreten und verkaufen mußte. Die Wittwe des Jürgen Christoph v. Bischwang verheirathete sich zwar im J. 1652 mit Hartwig v. d. Lühe auf Berenshagen wieder, aber Maria blieb mit ihrem Manne Christian v. Bischwang auf dem Gute Schossin wohnen. Da diese Theilnahme an der Verwaltung des Gutes aber sehr störend war, so verglich sich Franz Carl mit Maria dahin, daß sie sich mit 4000 Gulden abkaufen lassen wollte. Franz Carl konnte aber diese Summe nicht bezahlen, bestritt die Rechtmäßigkeit der Forderung aus dem Lehn und klagte endlich gegen Maria wegen unrechtmäßigen Besitzes. Da ward am 30. Oct. 1668 durch Verhandlung der Justiz-Canzlei vermittelt, daß Franz Carl die Administration des Gutes „zum „Versuche" drei Jahre lang allein haben, Maria aber mit ihrem Manne so lange als Nutznießerin eines Drittheils des Gutes auf dem Gute wohnen bleiben solle, bis Franz Carl ihr ihre Forderungen mit 4600 Gulden bezahlt haben würde. Grade beim Ablauf dieser Frist starb aber Franz Carl v. Oertzen.

Da Franz Carl v. Oertzen das alte Familiengut Schossin nicht in fremde Hände kommen lassen wollte, seine beiden Güter Gottesgabe und Schossin aber sehr verwüstet und mit Schulden belastet waren, so sah er sich genöthigt, sein Gut Gottesgabe an seiner Frauen Bruder Balthasar Gebhard v. Halberstadt zu verkaufen, um Schossin halten zu können. Balthasar Gebhard v. Halberstadt, ein Sohn des Hans Jürgen v. Halberstadt auf Gr. und Kl. Brütz ꝛc., hatte seit dem Tode seines Vaters 1636 von früher Jugend an in schwedischen Diensten gestanden und war gegen das Jahr 1651 als Rittmeister zurückgekehrt; am 24. Nov. 1651 hatte er sich mit Hedwig Clara v. Thun aus dem Hause Schlemmin vermählt, ward 1658 Obrist, 1673 General-Major im Dienste des Herzogs Christian Louis, später auf kurze Zeit des Herzogs Friedrich Wilhelm von Meklenburg, und starb am 9. Nov. 1692. Dieser hatte zuerst das väterliche Gut Kl. Brütz wieder an sich gebracht. Am 27. April 1651 verkaufte nun Franz Carl v. Oertzen „zu Gottesgabe und Schossin seinem Schwager

„dem Rittmeister Balthasar Gebhard v. Halberstadt zu Kl. „Brütz sein Erb- und Lehngut Gottesgabe mit den Meierhöfen „Wendischhof und Gr. Brütz für 18,000 Gulden, da das „landverderbliche Kriegswesen ihn so hart getroffen, daß er sich „seiner vielfältigen schweren Schulden nicht anders entheben „konnte, als durch den Verkauf des Gutes". Am 6. Aug. 1651 bestätigte der Herzog Adolph Friedrich den Kaufcontract.

Franz Carl v. Oertzen konnte aber seine Vermögensumstände nicht in Flor bringen. Er hatte das Gut Schossin, welches 1650 nicht höher als auf 9000 Gulden in der Taxe bestanden, ganz öde und wüste angetreten, ein Drittheil des Gutes den Schwestern v. Oertzen einräumen müssen und war bei schlechten Zeiten mit Schulden belastet. Noch am 29. Julii 1661 klagte er, daß er „durch den dreißigjährigen Krieg „total ruinirt und erschöpft" sei. Daher suchte er im J. 1661 die bedeutenden Forderungen seines Vaters an die Niederlande für rückständigen Kriegssold, welche im J. 1578 die Summe von 55,533 Gulden betrugen, nach fast hundertjährigem Warten einzutreiben. Hiezu bot ihm sein Schwager der Obrist Balthasar Gebhard v. Halberstadt hülfreiche Hand, indem er nicht allein ein Vorschreiben des Herzogs Christian Louis an die General-Staaten der Niederlande auswirkte, sondern auch im October 1661 von Antwerpen aus für die richtige Einhändigung des Schreibens im Haag sorgte. Aber dieses Vorschreiben hatte eben so wenig erfolgreiche Wirkungen, als alle früheren, und nach diesem letzten Versuche und dem bald darauf erfolgten Tode des Franz Carl v. Oertzen ist von diesen Forderungen nicht wieder die Rede (vgl. oben S. 269 flgd.).

Als Franz Carl v. Oertzen über 60 Jahre alt war, ward er kränklich und sah seinem nahen Tode entgegen. Er hatte keine männliche Leibeserben. Am 26. Febr. 1651 berichtet der Pastor Christian Albertus zu Gr. Brütz, daß er dem Franz Carl v. Oertzen, so lange dieser das Gut Gottesgabe besessen, „keine männliche Erben getauft" habe. Jedoch hatte Franz Carl zwei Töchter, welche schon im J. 1639 geboren gewesen sein müssen, da er am 20. Octbr. 1639 von „Weib und Kindern" redet. Da er kein Allodialvermögen

hatte, so ging ihm der Zustand „seiner Töchter" nach seinem Tode zu Herzen; daher bat er den Herzog, das Gut in die Allodialität zu versetzen, „weil seiner Töchter Wohlfahrt, indem „der liebe Gott ihn mit keinen männlichen Erben begabt, „daran hange, da er in das verödete Gut Schossin auch seiner „Töchter Gelder, die sie von ihrer Großmutter (gebornen v. „Moltke von Wesselstorf und Toitenwinkel) ererbt, habe ver„wenden müssen." Am 23. Sept. 1669 wiederholten Franz Carl v. Oertzen und seine Frau Margarethe Elisabeth v. Halberstadt diese Bitte bei dem Herzoge, jedoch ohne Erfolg. Als nun Franz Carl v. Oertzen im Anfange des J. 1672 auf das Siechbett geworfen ward und „nicht anders vermerkte, als „daß der liebe Gott bald ein Ende mit ihm in diesem irdischen „Leben machen werde, so flehte er den Herzog am 13. März „1672 gleichsam in seiner Todesstunde an, das Gut Schossin „mit der Allodialität zu begnadigen, weil er seine Frau und „besonders seine Töchter in kümmerlichem Zustande und Herzens „Trübseligkeit hinterlassen würde, indem bei ihm keine baare „Mittel vorhanden seien, deren sie sich zu ihrer Erhaltung er„freuen könnten"; er berichtete zugleich, daß die Lehnsvettern des guten Erbietens seien, darein zu willigen, wenn der Herzog die Bitte erfüllen würde, wie auch die damals im Lande gewesenen weitläuftigen Verwandten ihren Consens unter ihrer eigenen Hand und ihrem Siegel ertheilten. Auf diese wehmüthige Bitte des Franz Carl v. Oertzen, besonders aber auf die fleißige Fürbitte seines Schwagers des Obristen Balthasar Gebhard v. Halberstadt, erfüllte der Herzog den Wunsch und verlieh am 19. April 1672 dem Gute Schossin die Eigenschaft eines Allodialgutes.

Franz Carl v. Oertzen wird im J. 1672 gestorben sein, da er seine letzte Bitte um Allodialisirung von Schossin „gleichsam in seiner Todesstunde" ausspricht und seine Wittwe späterhin sagt, daß die Zinsen auf ihre Mitgiftgelder vom J. 1673 angehen. Mit ihm starb die schwerinsche Linie oder die Linie Gammelin in männlicher Linie aus und hinterließ nichts weiter als das mit Schulden belastete und allodialisirte Gut Schossin.

Franz Carl v. Oertzen hinterließ eine Wittwe, welche ihn über ein Vierteljahrhundert überlebte, und zwei Töchter. Diese blieben nach ihres Mannes und Vaters Tode während ihres Lebens im ungestörten Besitze des Allodialgutes Schossin. Im J. 1677 kaufte die Wittwe von dem Herzoge ein in dem Gute liegendes Bauergehöft, welches bisher zum Amte Walsmühlen gehört hatte, nachdem sie schon seit dem Frühling des J. 1675 darüber verhandelt hatte. Am 16. Dec. 1693 machte „Margarethe Elisabeth Wittwe v. Oertzen" ihr ausführliches Testament in folgender Weise: nach ihrem Tode sollten zunächst ihre beiden Töchter das Gut behalten; wenn ihr Schwiegersohn, der Lieutenant Hans Curd v. Halberstadt ihre beiden Töchter überleben würde, so sollte dieser das Gut erben, nach dessen Tode ihres Bruders Balthasar Gebhard Sohn, der Oberschenk Otto Christoph v. Halberstadt. Sie hatte großes Geld in das verwüstete Gut Schossin gesteckt und an Ehegeld, Morgengabe, Erbschaften und erhaltenen Schenkungen 10,891 Gulden zugebracht, welche auf das Gut gewandt waren. Hiezu berechnete sie sich noch 10,891 Gulden, welche sie für rückständige Zinsen, Ankäufe zum Gute, Verbesserung desselben und Aussteuer der Töchter durch ihr Geld zu fordern hatte, so daß das Gut eigentlich ihr gehörte und daher bei der Familie v. Halberstadt blieb. Als im J. 1696 der General-Major v. Francke auf Bakendorf und Gammelin den Antheil wailand Stephan's v. Oertzen an Radelübbe, welcher an dessen Enkelin übergegangen war (vgl. §. 33), von Johann Georg v. Scharffenberg reluiren wollte, intervenirte die „Frau Wittwe v. Oertzen „zu Schossin, um auch für sich und ihre Kinder" zu reluiren, und tritt in dieser Angelegenheit im J. 1696 häufig auf. Als im J. 1696 allen Besitzern adeliger Güter befohlen ward, ein Verzeichniß ihrer Güter einzusenden und dabei zu berichten, wann und wie sie dieselben erlangt hätten, berichtete sie am 26. Junii 1696, daß, da das Gut Schossin in die Allodialität versetzt worden sei, Niemand anders als ihre Kinder und Erben die Anwartschaft daran hätten. Nachdem am 24. März 1698 über das Gut Radelübbe von allen streitenden Partheien zu Schossin ein Vergleich geschlossen war, gab Margarethe

Elisabeth am 20. Dec. 1698 zu Schwerin ihre Einwilligung und unterschrieb den Vergleich eigenhändig. Aus allen diesen Handlungen geht hervor, daß Margarethe Elisabeth v. Oertzen, geborne v. Halberstadt, eine thatkräftige, einsichtsvolle Frau war. Sie wird über 80 Jahre alt geworden sein, da sie schon im J. 1632 verheirathet war, und im J. 1699 gestorben sein, da sie noch am 20. Dec. 1698 den Vertrag unterschreibt und im J. 1700 ihr Schwiegersohn Hans Curd v. Halberstadt als Besitzer von Schossin auftritt. Als sie am 16. Dec. 1693 ihr Testament machte, erkannte sie es mit Dank an, daß sie „im hohen Alter bei ziemlicher Gesundheit und vollkommenem „Verstande" sei. Sie ward, nach ihrem letzten Willen, in der Kirche zu Parum begraben, in welcher sie 1681 den Altar hatte restauriren lassen.

Franz Carl v. Oertzen auf Schossin, der letzte männliche Sproß seiner Linie, hatte zwei Töchter, welche wiederholt genannt werden. Bisher waren keine Erben von ihm bekannt und die Erforschung derselben ist schwierig gewesen; jedoch lassen sich ihre Lebensverhältnisse, welche für die Nachfolge im Gute Schossin von Wichtigkeit sind, ziemlich klar darstellen. Die Töchter des Franz Carl v. Oertzen sind:

XII. 38. Margaretha Dorothea. 39. Elisabeth Ilse.

## 32.

## Stellans Sohn N.N.

† vor 1591.

§. 130. G. XII.

Stellan v. Oertzen hatte aus seiner kurzen Ehe einen Sohn, der in seinen Kinderjahren starb, dessen Name aber nicht genannt wird. Es wird in dem (oben S. 290) erwähnten Urtheil der Juristen-Facultät zu Rostock vom 12. Mai

1591 nur im Allgemeinen gesagt, daß Stellans Wittwe einen damals auch schon „verstorbenen" Sohn gehabt habe.

---

33.

## Elisabeth Margarethe.

1644 - 1671 († vor 1689).

Gem. Moritz v. Lützow.

† vor 1645.

§. 131. G. XII.

Von Stephans v. Oertzen auf Schossin Kindern war Elisabeth Margarethe das älteste, da sie mit einer andern Schwester vor den beiden mit den Gevettern v. Bischwang verheiratheten Schwestern zuerst und einmal ausdrücklich Stephans „älteste Tochter" genannt wird. Sie ward an Moritz v. Lützow zu Horst verheirathet, welcher schon am 30. Aug. 1645 gestorben war. Bei ihrer Verheirathung hatte sie das halbe Dorf Radelübbe, nämlich 4 Bauern in Radelübbe, den Rothen Krug und die halbe Rothe Mühle, von ihrem Vater zum Brautschatz erhalten. Diese Aussteuer gab in der Folge zu vielen Streitigkeiten und Weitläuftigkeiten Veranlassung. Elisabeth Margarethe, welche ihren Gemahl lange, sicher bis ins Jahr 1671, überlebte und vor dem J. 1689 starb, hatte zwei Töchter: Catharina Dorothea, welche im J. 1671 noch unvermählt war und vor dem J. 1696 starb, und Lucia, welche am 30. Sept. 1671 mit Johann Georg von Scharffenberg vermählt ward; dieser wird im J. 1665 „Pächter des Hofes Zühr" genannt, auf welchem früher eine Schwester seiner Schwiegermutter, Maria, gewohnt hatte. Durch den Ehevertrag vom 30. Sept. 1671 gab die verwittwete Elisabeth Margarethe v. Lützow, geb. v. Oertzen, ihrer Tochter Lucia ihren Antheil an Radelübbe für 3000 Gulden als Brautschatz, behielt sich dabei aber für sich und ihre unverheirathete Tochter Catharine

Dorothea Wohnung und Unterhalt in Radelübbe bevor. So nahmen Johann Georg v. Scharffenberg mit seiner Frau, Schwiegermutter und Schwägerin Wohnsitz zu Radelübbe. — Den andern Theil von Radelübbe hatte Stephan v. Oertzen auf Schossin im J. 1619 an Curd v. Penz auf Gammelin und Möllenbek verkauft, aus dessen Concurs dieser Antheil nach und nach in verschiedene Hände, zuletzt in den Besitz des General-Majors und Geheimen-Raths v. Francke auf Bakendorf und Gammelin gekommen war. Gegen das Ende des 17. Jahrh. begannen die Streitigkeiten. — Schon im J. 1689 mußte Scharffenberg nachweisen, mit welchem Rechte er seinen Antheil an Radelübbe besitze; er berichtete, daß derselbe seiner seligen Frau zum Brautschatze mitgegeben sei. Der Besitz gehörte also eigentlich nicht ihm, sondern seiner Tochter, wenn er überhaupt auf die weibliche Linie vererbt werden konnte. Im J. 1696 forderte daher v. Francke, den Scharffenbergischen Antheil reluiren und mit dem Gute wieder consolidiren zu können. Als dies des Franz Carl v. Oertzen auf Schossin Wittwe Margarethe Elisabeth, geborne v. Halberstadt, erfuhr, wollte auch diese im J. 1696 den Antheil reluiren und wieder an Schossin bringen. Zunächst entstand nun viel Streit darüber, ob dieser Antheil ursprünglich zu Gammelin oder zu Schossin gehört habe und wodurch er ursprünglich von seinem Hauptgute abgerissen worden sei. Endlich machten Tod und Vergleich dem Streit ein Ende. Nachdem der Geheime-Rath v. Francke gestorben und seine Güter auf seine Tochter und deren Mann, den Geheimen-Rath Ernst Christoph v. Koppelow übergegangen waren, schloß dieser mit Hans Curd v. Halberstadt als damaligem Besitzer von Schossin, unter Zustimmung der Wittwe Margarethe Elisabeth v. Oertzen, gebornen v. Halberstadt, am 20. Dec. 1698 einen Vergleich und Johann Georg v. Scharffenberg verkaufte am 19. Jan. 1700 dem Geheimen-Rath v. Koppelow seine Rechte für 6700 Gulden oder 3350 Thaler. Scharffenberg hatte aus seiner Ehe mit Lucia v. Lützow eine Tochter, Lucia Dorothea v. Scharffenberg; diese machte auf das von ihrem Vater erhobene Kaufgeld als ihr mütterliches Erbtheil Anspruch, nachdem Scharffenberg sich

wieder verheirathet hatte, und ward auch am 19. Jan. 1700 deshalb befriedigt. Im J. 1709 ging Radelübbe mit Bakendorf, Gammelin und andern Gütern durch Tausch gegen das Amt Ivenack von dem Geheimen-Rath v. Koppelow in fürstlichen Besitz über.

---

## 34.

## N.N. Stephans Tochter.

† vor 1639.

Gem. Christoph v. Hünicke.

§. 132. G. XII.

Eine andere Tochter Stephans v. Oertzen ist dem Vornamen nach unbekannt, wenn sich auch ihre Lebensumstände ziemlich klar bezeichnen lassen. Sie war die zweite Tochter Stephans, da sie nach ihrer Schwester Elisabeth Margarethe, welche einmal ausdrücklich Stephans älteste Tochter genannt wird, aufgeführt wird, und sie schon gestorben war, als ihre jüngsten Schwestern verheirathet wurden. Sie starb schon vor dem J. 1639, vielleicht in dem schrecklichen Jahre 1638. Als „Stephan v. Oertzen auf Schossin erbgesessen" am 7. Febr. 1639 dem Rathsverwandten Jürgen Klercke zu Boizenburg 250 Eichbäume auf der Feldmark Schossin, das Stück zu 2 Thalern, verkaufte, ward dem Käufer gestattet, „von dem „Kaufgelde die 215 Thaler, so Stephans v. Oertzen liebe, in „Gott ruhende Tochter die Hünigsche selige zu ihrer „Hochzeit an Waaren empfangen, abzurechnen." In dem Vergleiche mit den Vettern v. Bischwang vom 30. Aug. 1645 wird ausdrücklich gesagt, daß eine Schwester der an die Gevettern v. Bischwang verheiratheten Geschwister „an Christoph „von Hünichen, gewesenen fürstlich-meklenburgischen Haupt„mann zu Walsmühlen, verheirathet" gewesen sei. Ueber diesen Christoph v. Hünicke ist nichts bekannt. Im J. 1629 zur wallensteinschen Zeit war Cuno Hünecke Hauptmann zu

Walsmühlen, derselbe welcher 1631 „Pensionair" daselbst war. Vielleicht war Christoph ein Sohn dieses Cuno Hünicke. Wahrscheinlich waren beide mit Joachim v. Hünicke, einem brandenburgischen Edelmann, verwandt, welcher 1612—1615 „zu „Satzker (oder Satzka) in der Mark Brandenburg erbgesessen, „1612 fürstlich-holsteinscher Hofjunker und 1622 fürstlich-pom„merscher Capitain" war, im J. 1622 das Gut Poppendorf in Meklenburg kaufte und im J. 1683 als Obristlieutenant auftritt. Dieser Joachim v. Hünicke hatte im J. 1630 Salomons v. Plessen auf Müsselmow Tochter Dorothea in zweiter Ehe zur Frau und diese im J. 1653 als Wittwe hinterlassen. Die Familie v. Hünicke war eine alte, noch jetzt blühende Adelsfamilie der Mark Brandenburg.

---

35.

## Maria.

Gem. Christian v. Bischwang.

1644—1668.

§. 133. G. XII.

Maria v. Oertzen, die dritte Tochter Stephans v. Oertzen auf Schossin, ward mit Christian v. Bischwang auf Zühr, einem Sohne des Balthasar v. Bischwang, vermählt. Die v. Bischwang waren eine fremde adelige Familie, angeblich aus Schwaben stammend, welche seit dem Ende des 15. Jahrh. in Meklenburg die Lehngüter Körchow und Zühr besaß. Um das Jahr 1644 wurden die beiden jüngsten Töchter Stephans v. Oertzen, Maria und Dorothea, mit den Vettern Christian v. Bischwang auf Zühr und Jürgen Christoph v. Bischwang auf Körchow wahrscheinlich zu gleicher Zeit verheirathet und waren nach den Worten des Vertrages vom 30. Aug. 1645 „damals bei dem verderblichen Kriegswesen erst ausgesteuert." Am 30. Aug. 1645 wird Maria als Gemahlin des Christian

v. Bischwang auf Zühr zuerst genannt, als ihr und ihrer Schwester Ehemänner mit den Vormündern ihres minderjährigen Bruders Joachim Heinrich über ihre rückständigen Brautschatzgelder einen Vergleich schlossen, nach welchem die Forderung der Maria von 6626 Gulden anerkannt, und ihr und ihrer Schwester dafür das Gut Schossin zum Pfande gesetzt ward, jede der beiden Schwestern sich aber mit 4000 Gulden zufrieden erklärte, wenn ihr Bruder dereinst Leibeserben hinterlassen sollte. Im J. 1650 wohnte auch ein v. Bischwang, „Stephans v. Oertzen Tochtermann", wahrscheinlich Christian v. Bischwang, zu Schossin. Unverhofft starb aber der junge Joachim Heinrich in der ersten Hälfte des J. 1650. Am 8. Julii 1650 schlossen die beiden Schwestern v. Oertzen und ihre Ehemänner mit ihres Bruders Lehnsfolger Franz Carl, dem letzten männlichen Sproß der Familie, einen Vergleich, nach welchem den beiden Schwestern zur Sicherung ihrer Ansprüche ein Drittheil des Gutes Schossin mit einem Wohnhause vor dem Hofe eingeräumt werden sollte, bis die Sache gerichtlich entschieden sei (vgl. oben Stephan §. 306). Aber schon in der zweiten Hälfte desselben Jahres 1650 starb auch Jürgen Christoph Bischwang, der Gemahl der Dorothea v. Oertzen, welcher zwei Söhne hinterließ, wodurch die Familienverhältnisse augenblicklichnoch verwickelter wurden.

Die betrübenden Verhältnisse in der Familie griffen aber noch tiefer, als am 21. Sept. desselben Jahres 1650 Christian v. Bischwang mit seinen Gläubigern sein durch das Kriegswesen entwerthetes Gut Zühr an den Lieutenant Michael Ritter verkaufen mußte; das Gut kam hiedurch ganz von der Familie v. Bischwang und gelangte späterhin auf längere Zeit in den Besitz der Familie v. Zülow. — Durch den Verkauf des Gutes Zühr kam Maria augenblicklich in große Bedrängniß; sie „klagte flehentlich" und bat, „da sie ein Ehrliches in ihres „Junkers Güter gekehrt" habe, „bei den Gläubigern allen Fleiß „anzuwenden, daß ihr nur etwas von den baaren Kaufgeldern „könnte zugekehrt werden", worauf ihr auch die Aussicht auf einige hundert Gulden eröffnet ward. Ihre Zuflucht war das Gut Schossin, von welchem ihr und ihrer Schwester ein Drit-

theil mit Wohnhaus und Hof eingeräumt war. Ein Glück war es, daß ihre jüngere Schwester Dorothea sich im J. 1652 mit Hartwig v. d. Lühe auf Berenshagen zum zweiten Male verheirathete und dadurch der Wohnsitz zu Schossin für Maria und ihren Gemahl allein frei ward. Maria hatte von ihrem Brautschatz noch nicht viel erhalten; dieser war ihr in dem Gute Schossin versichert, während ihre Schwester Dorothea bei ihrer Verheirathung Forderungen überwiesen erhalten und zuletzt nur wenig aus Schossin zu fordern hatte. Daher nahm sich Maria des Drittheils des Gutes lebhaft an und zur Sicherung festen Wohnsitz daselbst, während Dorothea ihrer Schwester nur „inhärirte". Diese Theilnahme an dem Besitze war aber dem Franz Carl v. Oertzen sehr lästig, da das Gut sehr verschuldet und durch das abgetrennte Drittheil zerstückelt war, und er verglich sich im J. 1654 mit Maria dahin, daß sie sich mit 4000 Gulden abkaufen lassen wollte. Franz Carl erfüllte dies aber nicht und bestritt überhaupt die Rechtmäßigkeit der Forderung aus dem Lehn. Da die getheilte Verwaltung des Gutes großen Schaden brachte, so klagte endlich Franz Carl gegen Christian v. Bischwang und dessen Frau wegen unbegründeten Besitzes. Am 30. Oct. 1668 ward durch Verhandlung der Justiz-Canzlei vermittelt, daß Franz Carl „zum Versuch" die Administration des Gutes drei Jahre lang allein haben, Bischwang mit seiner Frau auf dem Gute während der Zeit wohnen bleiben und Franz Carl diesen ihre Forderung mit 4600 Gulden zu bezahlen schuldig sein solle. Weiter ist von Christian v. Bischwang und seiner Frau nichts bekannt geworden.

36.

## Dorothea.

1644—1668.

Gem. 1. Jürgen Christoph v. Bischwang.
1644 † 1650.
2. Hartwig von der Lühe.
1652—1668.

§. 134. G. XII.

Dorothea v. Oertzen, die jüngste Tochter Stephans von Oertzen auf Schossin, ward mit Jürgen Christoph von Bischwang auf Körchow, wahrscheinlich einem Sohne des Cyriacus von Bischwang, vermählt. Sie brachte ihrem Gemahle „keine andere Baarschaften" mit, als 2000 Gulden Capital, welche ihr Vater dem Magnus v. Lützow geliehen, 1200 Gulden baar, welche sie selbst an Jürgen v. Lützow auf Lützow und Wöltzow lieh, und 800 Gulden, welche sie aus dem Gute Schossin zu fordern hatte. Sie wird zugleich mit ihrer ältern Schwester Maria im J. 1644 verheirathet worden sein, da die Ehemänner der beiden Schwestern am 30. Aug. 1645 ausdrücklich sagen, „daß damals die beiden Schwestern bei dem „verderblichen Kriegswesen erst ausgesteuert" seien, und da Dorothea von den bei Magnus v. Lützow ausstehenden 2000 Gulden Brautschatz im J. 1652 achtjährige Zinsen zu fordern hatte. Ihre Verhältnisse waren nach den traurigen Zeiten nicht sehr glänzend, da ihr Mann noch am 20. Aug. 1651 berichtet, daß „sein Vorwerk und andere ansehnliche Gebäude, „wie auch die Bauerhäuser durch den ungewöhnlichen Sturm„wind und die Kriegsgewalt niedergeworfen und verwüstet, der „Kirchthurm abgebrannt" sei u. s. w. Am 30. Aug. 1645 tritt Dorothea v. Oertzen als Gemahlin des Jürgen Christoph v. Bischwang auf Körchow bestimmt auf, als ihr und ihrer Schwester Maria Ehemänner nach dem Tode ihres Vaters mit den Vormündern ihres unmündigen Bruders Joachim Heinrich über ihren noch nicht ausgekehrten Brautschatz einen Vergleich dahin schlossen, daß die rückständige Brautschatzforderung von 5771 Gulden 20 ßl. anerkannt ward, sie sich aber, wie ihre Schwester, mit 4000 Gulden zufrieden erklärte, wenn ihr da-

mals noch unmündiger Bruder dereinst Leibeserben hinterlassen würde. Zur Sicherung des Vertrages ward den beiden Schwestern das Gut Schossin verpfändet, auf welchem sie mit ihren Männern zur Vergewisserung ihrer Ansprüche auch zu wohnen pflegten (vgl. oben S. 299 flgd.). Im J. 1650 wohnte wenigstens einer v. Bischwang zu Schossin. Antonii 1647 lieh „Dorothea v. Oertzen, des Jürgen Christoph v. Bischwang „Hausfrau", dem Jürgen v. Lützow auf Lützow und Wöltzow 1200 Gulden von ihren Aussteuergeldern, wofür er ihr seine Schäferei zu Pfande setzte. Der Vertrag vom J. 1645 war aber noch nicht bestätigt, als ihr einziger Bruder Joachim Heinrich v. Oertzen auf Schossin in der ersten Hälfte des J. 1650 in minderjährigem Alter starb und dadurch das Gut Schossin in entferntere Hände kam. Als sein Lehnsfolger Franz Carl v. Oertzen, Vicke's Sohn, der einzige noch lebende männliche Sproß der ganzen Linie, von dem Gute Schossin Besitz nahm, erhoben die beiden Schwestern v. Oertzen und ihre Ehemänner Widerspruch; der Streit ward daher am 8. Julii 1650 durch einen Vertrag dahin geschlichtet, daß die Geldforderungen der Schwestern zwar anerkannt wurden, daß aber, da der Besitz des Gutes zweifelhaft erschien, Franz Carl vorläufig zwei Drittheile, die Schwestern ein Drittheil des Gutes einnehmen sollten, bis die Sache auf dem Wege des Rechts entschieden sei; zu gleicher Zeit ward bestimmt, daß die Schwestern mit ihren Männern und Kindern ein Haus vor dem Hofe beziehen und die Einrichtungen dazu möglichst bald getroffen werden sollten. So schienen die Umstände für Dorothea v. Oertzen einstweilen geordnet und gesichert zu sein, als sie im Spätsommer desselben Jahres 1650 das Schicksal erleben mußte, daß ihr Mann Jürgen Christoph v. Bischwang starb. Genau zu derselben Zeit gerieth auch ihre Schwester Maria in Bedrängniß, indem deren Mann Christian v. Bischwang wegen großer Schulden in Folge des Kriegswesens sein Gut Zühr verkaufen mußte. So ward das J. 1650 besonders verhängnißvoll für die ganze Familie, welche ihre Zuflucht auf dem Gute Schossin finden mußte. — Das Gut Körchow blieb noch eine Zeit lang im Besitze der Familie v. Bischwang, bis

diese es im J. 1726 an den Geheimen-Rath v. Clausenheim verkaufen mußte. Der letzte v. Bischwang, Christian Heinrich, starb als preußischer Hauptmann unverheirathet am 31. Jan. 1783.

Im Spätsommer des J. 1650 starb Jürgen Christoph v. Bischwang und hinterließ eine Wittwe und zwei minderjährige Söhne, Stephan und Cyriacus, von denen noch nach alter Sitte der ältere von dem mütterlichen, der jüngere von dem väterlichen Großvater den Vornamen trug. Am 15. März 1651 berichtete nämlich Dorothea v. Oertzen, daß „ihr seliger Ehewirth Jürgen Christoph v. Bischwang zu „Körchow vor einem halben Jahre durch den zeitlichen Tod „von ihrer Seite gerissen und ihr zwei Söhne", welche später Stephan und Cyriacus genannt werden, hinterlassen habe, die „noch ganz unmündig seien", und bat, da dieselben noch nicht „bevormündert waren, um Befristung von der Ableistung des „Lehneides, bis sie zu ihren Jahren gekommen" seien. Als ihr dagegen befohlen ward, sich für ihre Kinder Vormünder auszubitten, erklärte sie am 29. Julii 1651, „daß sie sich „gänzlich vorgenommen habe, im Wittwenstande die Zeit ihres „Lebens zu verbleiben", und bat, ihr die Vormundschaft zu übertragen, da ihren Kindern von ihrem verstorbenen Vater wenig hinterlassen sei und sie ihre Kinder versorgen müsse. Da sie überdies „Niemand zur Uebernahme der Vormundschaft „vermögen konnte", so ward ihr allein am 27. Aug. 1651 die Vormundschaft unter der Bedingung übertragen, daß sie mit Hab und Gut für jeden Schaden einzustehen sich verpflichte, was denn auch am 27. Jan. 1652 geschah.

Ihr „gänzliches Vornehmen, die Zeit ihres Lebens im „Wittwenstande zu verbleiben", blieb aber nicht bis zu ihrem Tode von Bestand. Schon im J. 1652 verheirathete sie sich wieder mit Hartwig von der Lühe auf Berenshagen, welcher nicht lange vorher seine erste Frau Dorothea v. Bülow verloren hatte, da diese noch am 19. März 1647 lebte. Es ist eine sehr merkwürdige Erscheinung, daß in älteren Zeiten, namentlich zur Zeit des dreißigjährigen Krieges, rüstige Wittwen, selbst unter sehr ungünstigen Umständen, sich

wieder verheirathen, was sich zum Theil wohl durch die Noth des Lebens und das Bedürfniß des gegenseitigen Beistandes, besonders aber durch die aus noch ältern Zeiten stammende Sitte erklären läßt, daß kein rüstiger Mann unverheirathet blieb. Dorothea hatte von Magnus v. Lützow auf Bakendorf von ihrer Aussteuer wegen 2000 Gulden Capital, 960 Gulden rückständige, achtjährige Zinsen und 4 Gulden 5 ßl., im Ganzen also 2964 Gulden 5 ßl. zu fordern, welche sie, da sie in Bedrängniß war, von Magnus v. Lützows Erben einklagte. Da diese aber kein baares Geld schaffen konnten, so wurden ihr, der „Dorothea v. Oertzen, des seligen Jürgen Christoph v. „Bischwang zu Körchow nachgelassener Wittwe, am 28. Junii „1652" 4 Hufen in Radelübbe, welche zu Bakendorf gehörten, nach der Taxe auf 2400 Gulden zugeschlagen. Am 4. Jan. 1653 suchte „Dorothea v. Oertzen, des seligen Jürgen „Christoph v. Bischwang Wittwe, jetzo Hartwigs von der Lühe, „auf Berenshagen eheliche Hausfrau", den herzoglichen Consens, welcher ihr im März 1653 ertheilt ward. Sie verheirathete sich also in der zweiten Hälfte des J. 1652 zum zweiten Male. Hartwig v. d. Lühe erscheint sicher seit dem J. 1645 als auf Berenshagen erbgesessen. Wegen ihrer Forderung aus dem Gute Schossin verglich sie sich mit Franz Carl v. Oertzen im J. 1654 dahin, daß sie sich mit 400 Gulden abfinden lassen wolle. Die Sache wegen des Gutes Schossin betrieb seitdem vorzüglich ihre Schwester Maria, welche am meisten dabei betheiligt war.

Wegen dieser zweiten Verheirathung mußten nun für ihre beiden Söhne erster Ehe Vormünder bestellt werden; als solche erscheinen Adam v. Lützow und Mathias Joachim v. Gühlen, welche bei dem Regierungswechsel am 10. Febr. 1659 für ihre Mündel, „als des seligen Jürgen Christoph v. Bischwang „Söhne und Waiselein Stephan und Cyriacus Gebrüder die „Bischwang", deren „mit Schulden sehr belastetes Gut Körchow" mutheten, bis sie zu ihren vogtbaren Jahren kommen würden.

Hartwig v. d. Lühe und seine Hausfrau Dorothea v. Oertzen lassen sich noch gegen 20 Jahre lang den Namen nach verfolgen, ohne daß sich besondere Ereignisse berichten ließen.

Beim Regierungswechsel im J. 1659 muthete er, der „mit Leibesschwachheit" befallen war, sein Lehn; zu gleicher Zeit thaten dasselbe aber auch seine Gläubiger. „Dorothea v. Oertzen, Hartwigs v. d. Lühe eheliche Hausfrau", wird in den Jahren 1666, 67 und 68, zuletzt am 30. Oct. 1668, wiederholt genannt; späterhin ist aber von beiden Eheleuten nicht weiter die Rede.

---

## 37.

## Joachim Heinrich.

1645 † 1650.

§. 135. G. XII.

Stephan v. Oertzen hinterließ vier Töchter und einen einzigen Sohn Joachim Heinrich. Dieser Sohn war sicher sehr spät geboren und der jüngste von seinen Geschwistern, da er bei seines Vaters Tode noch minderjährig war und kurze Zeit darnach minderjährig starb, während seine Schwestern früh verheirathet wurden; er wird um das J. 1632 geboren sein. Nach seines Vaters Tode fiel das einzige der ganzen Linie noch übrig gebliebene alte Lehngut Schossin auf ihn. Als seine Vormünder werden Dethlof v. Bülow auf Rahden und Carsten Ulrich Sperling auf Cremmin genannt. Diese seine Vormünder verhandelten am 21. Aug. 1647 mit dem Herzoge Adolph Friedrich über mehrere Streitigkeiten zwischen den Unterthanen zu Schossin und wurden am 1. Febr. 1650 von den Gevettern v. Bischwang, den Ehemännern der zwei jüngsten Schwestern des Joachim Heinrich v. Oertzen, wegen deren Aussteuer und Ehegelder in Anspruch genommen. Aber am 8. Julii 1650 war Joachim Heinrich schon gestorben, da an diesem Tage Vicke's v. Oertzen auf Gammelin einziger Sohn Franz Carl zu Gottesgabe, als „seligen Joachim Heinrichs v. „Oertzen nächster Lehnsfolger", sich mit den beiden Gevettern v. Bischwang in ehelicher Vormundschaft ihrer Frauen, der Schwestern Joachim Heinrichs, über den Besitz von Schossin

vorläufig vergleicht. Joachim Heinrich v. Oertzen starb also im J. 1650 minderjährig ohne Hinterlassung von Leibeslehnserben, und das letzte alte Lehngut der Linie fiel an den letzten männlichen Lehnsfolger der Linie Franz Carl v. Oertzen zu Gottesgabe.

---

## 38.

## Margaretha Dorothea.

1639 † 1705.

Gem. N. N. von Hobe,

† vor 1682.

§. 136. G. XII.

Die ältere Tochter des Franz Carl v. Oertzen auf Schossin und der Margaretha Elisabeth v. Halberstadt wird mit Vornamen Margaretha Dorothea genannt. Sie ward nach ihrer Grabschrift im J. 1635 geboren; nicht lange darnach wird ihre jüngere Schwester geboren sein, da ihr Vater am 20. Oct. 1639 sagt, daß er „Weib, Kinder und Gesinde" zu erhalten habe. Sie ward an einen Capitain v. Hobe verheirathet, dessen Herkunft und Wohnort aber nicht zu erforschen ist. Es ist möglich, daß er aus Vietlübbe im Amte Gadebusch stammte, da dieses Gut früher auch in den Händen ihrer Mutter war und nicht weit von den örtzenschen Gütern lag. Im J. 1633 verkaufte ihr mütterlicher Großvater Hans Jürgen v. Halberstadt das Gut Vietlübbe, das er im J. 1611 von dem Herzoge Johann Albrecht II. geschenkt erhalten hatte (vgl. oben S. 303), an Hans Jürgen v. Hobe, welcher im J. 1650 auch von Samuel Jagenteuffel dessen Pfandgut Kl. Tessin bei Krakow in Pacht hatte. Damals war er mit Dorothea Sperling verheirathet. Wegen vieler Verbrechen angeklagt, sah er sich aber genöthigt, im J. 1671 zu entweichen, und ließ seine Frau im Wahnsinn („blöde") zurück, welche im J. 1671 unter „verordneten Vormündern" lebte, als das Gut Vietlübbe durch Kauf an Levin v. Barsse gelangte. Es ist nun möglich, daß der Gemahl der Margarethe Dorothea v. Oertzen ein Sohn

dieses Hans Jürgen v. Hobe war, von welchem auch nichts weiter bekannt geworden ist. Möglich ist es aber auch, daß ihr Gemahl ein Sohn des Friedrich v. Hobe war, welcher bis 1637 Hofmeister der ältern Söhne des Herzogs Adolph Friedrich I., von 1637 an aber einige Jahre Klosterhauptmann zu Rühn war. Der gleichzeitige Latomus führt den Johann Jürgen Hobe als Sohn eines Gerd Hobe auf, den er einer nicht ausgebildeten Linie zuschreibt.

Margaretha Dorothea v. Oertzen hatte in ihrem Ehestande kein Glück, da sie schon im Anfange des J. 1682 eine kinderlose Wittwe war. Am 24. April 1682 gab die Prinzessin Sophie Agnes, Aebtissin zu Rühn, der „Frau Marga„retha Dorothea Wittwe von Hoben, gebornen von Oertzen", die Exspectanz auf die erste eröffnete Stelle in dem Kloster Rühn, nachdem zuvor Frau Ilse Margarethe v. Moltken Wittwe v. Ahlefeld eingetreten sein würde, da sie „nichts lieber „wünschte, als an einem einsamen Orte, da sie Gott und „ihrem Nebenchristen dienen könnte, die übrige Zeit ihres „Lebens zuzubringen". Sie hatte auch schon im J. 1693 ihre Wohnung im Kloster Rühn aufgeschlagen, ohne schon eine Klosterstelle zu besitzen. Am 24. Jan. 1695 bat des „seligen „v. Oertzen Wittwe zu Schossin" um Verleihung einer damals eröffneten Klosterstelle an „ihre Tochter Frau Margaretha „Dorothea von Oertzen, Wittwe von Hoben." Damals glückte ihr die Bewerbung nicht, auch nicht im J. 1700, als sie selbst („Margret Dörtie von örtzen wietwe von Hoben") nach dem Tode ihrer Mutter am 5. Oct. 1700 um eine Stelle bat; jedoch ward ihr Wunsch am 14 Febr. 1701 erfüllt, nachdem sie und „ihre Anverwandtin die Frau Oberschenkin v. Halberstadt" wiederholt um eine eröffnete Stelle gebeten hatten. Margaretha Dorothea war damals nach dem Tode ihrer Mutter mit ihrer Schwester Besitzerin von Schossin, da die beiden Schwestern, nach der Eigenschaft des Allodialgutes und nach dem Testamente ihrer Mutter, Erbinnen derselben und des Gutes waren (vgl. den folgenden §. 137); jedoch war durch das Testament der Mutter bestimmt, daß ihre jüngere Tochter das Gut „in Possession nehmen" und ihrer Schwester

ihre Erbportion jährlich mit 100 Thalern verzinsen sollte. Am 13. Sept. 1700 berichtet auch ihrer Schwester Mann Hans Curd von Halberstadt, daß „er, sowohl da er des seligen „Franz Carl v. Oertzen Tochter zur Ehe habe, als auch der „andern Tochter Wittwe v. Hoben wegen das Allodialgut „Schossin besitze". Margarethe Dorothea Wittwe v. Hobe, geborne v. Oertzen, starb am 11. April 1705 im Kloster Rühn „ohne Erben". In der Kirche zu Rühn liegt noch ihr Leichenstein, auf welchem unter dem v. örtzenschen Wappen noch die Inschrift steht:

HIER RUHET IN GOTT DIE WOHLGEBOHRNE FRAW MARGARETA DOROTHEA VON ÖHRTZEN WITWE VON HOBEN GEBOHRN ANNO 1635, GESTORBEN ANNO 1705.

---

39.

## Elisabeth Ilse.

1639 † 1717.

Gem. Hans Curd v. Halberstadt.

1672 † 1727.

§. 137. G. XII.

Die jüngere Tochter des Franz Carl v. Oertzen auf Schossin und der Margaretha Elisabeth v. Halberstadt war Elisabeth Ilse v. Oertzen. Sie wird vor dem Jahre 1639 geboren sein, da ihr Vater am 20. Oct 1639 sagt, daß er „Weib, Kinder und Gesinde" zu ernähren habe, und ihre ältere Schwester im J. 1635 geboren war. Sie ward an den Lieutenant Hans Curd v. Halberstadt verheirathet, dessen Verwandtschaft nicht näher angegeben wird.

Dem Franz Carl v. Oertzen ward im Jahre seines Todes 1672 die Vergünstigung zu Theil, daß seinem Lehngute Schossin zu Gunsten seiner Wittwe und seiner beiden Töchter die Eigenschaft der Allodialität beigelegt ward. Nach dem Tode des Franz Carl v. Oertzen blieb dessen Wittwe mit ihrer jüngeren Tochter und deren Mann Hans Curd v. Halberstadt auf dem

Gute Schossin ohne Anfechtung wohnen. Am 16. Dec. 1693 machte die Wittwe ihr Testament und bestimmte, daß, wenn ihre beiden Töchter, welche rechtmäßige Erben des Gutes waren, gestorben sein würden, ihr damals alleiniger Schwiegersohn Hans Curd v. Halberstadt, falls er ihre Töchter überleben würde, nach dessen Tode aber ihres Bruders des General-Majors Balthasar Gebhard v. Halberstadt Sohn, der Oberschenk Otto Christoph v. Halberstadt und darauf dessen Kinder das Gut Schossin erben sollten; zugleich bestimmte sie, daß nach ihrem Tode ihre jüngere Tochter mit ihrem Manne das Gut in Possession nehmen, ihrer ältern Tochter aber deren Erbportion jährlich mit 100 Thalern verzinsen sollte. Hieraus geht hervor, daß auch die Ehe dieser Tochter des Franz Carl v. Oertzen kinderlos war, obgleich die Mutter auch diese Anordnung deshalb traf, weil sie das meiste Geld in dem Gute hatte. Nach dem im J. 1699 erfolgten Tode der Wittwe v. Oertzen berichtete ihr Schwiegersohn am 13. Sept. 1700, daß „er, „sowohl weil er des seligen Franz Carl v. Oertzen Tochter „zur Ehe habe, als der andern Tochter Wittwe von Hoben „wegen das Allodialgut Schossin besitze"; jedoch mutheten in demselben Jahre die v. Oertzen von der Linie Roggow das Gut als Lehn, wogegen Halberstadt am 13. Sept. 1700 einwandte, daß dasselbe Allod sei. Im J. 1701 erhielt die Wittwe v. Hobe auf ihren wiederholten Wunsch eine Stelle im Kloster Rühn und starb hier im J. 1705. Nach dem Regierungswechsel erbot sich am 14. April 1714 Hans Curd v. Halberstadt zum Homagialeide und am 23. April 1714 Siegfried v. Oertzen zu Vogelsang zum Lehneide. Im J. 1717 starb die Gemahlin des Hans Curd v. Halberstadt, da am 11. Dec. 1717 berichtet wird, daß „des Franz Carl „v. Oertzen hinterbliebene Tochter, welche auf Lebenszeit das „Erbjungfernrecht genossen, neulichster Zeit vor ungefähr drei-„viertel Jahren gestorben" sei. Durch ihr Testament vom 15. Oct. 1706 hatte sie das Testament ihrer Mutter anerkannt und bestätigt und außerdem ihrem Manne ihr Mobiliar-Vermögen und 2000 Gulden vermacht. Sie war die letzte ihres Geschlechts aus der Linie Gammelin.

Hans Curd v. Halberstadt war nun nach allen Bestimmungen Besitzer des Gutes während der Zeit seines Lebens. Sogleich nach dem Tode der Elisabeth Ilse gebornen v. Oertzen erhob der Obrist-Lieutenant Siegfried v. Oertzen auf Vogelsang im J. 1717 eine Klage wegen Herausgabe des Gutes Schossin, dessen Allodialität er nicht anerkennen wollte, und diese Klage ging ihren regelmäßigen und ruhigen Gang bis 1734 und weiter hinaus.

Hans Curd v. Halberstadt verheirathete sich in seinem hohen Alter zum zweiten Male vor Febr. 1721 mit Dorothea Margaretha von Zülow. Am 11. Febr. 1721 machte er sein Testament, durch welches er das Testament seiner Schwiegermutter und seiner ersten Frau anerkannte und bestätigte und seiner zweiten Frau die 1000 Thaler vermachte, welche ihm seine erste Frau vermacht hatte, da sie ihm bei seiner Leibesschwachheit und seinem noch nicht abzusehenden Krankenlager alle ersinnliche Pflege und Güte bewiesen habe; er konnte schon damals wegen Zitterns der Hände das Testament nicht eigenhändig unterschreiben. Im April 1726 war er „ein alter, abgegangener Mann", der „wegen hohen Alters „und Kränklichkeit in gar schlechtem Zustande" war.

Hans Curd v. Halberstadt starb im Anfange des J. 1727, sicher vor dem 12. Febr. 1727, ohne Leibeserben, und mit seinem Tode hörte jedes Verhältniß der Familie v. Oertzen zu dem Gute Schossin auf. Das Gut ging nun nach wiederholt bestätigten testamentlichen Bestimmungen auf die Söhne des Oberschenks Otto Christoph v. Halberstadt auf Langen-Brütz über. Am 23. Mai 1727 schlossen die Brüder v. Halberstadt einen Vergleich mit der Wittwe des Hans Curd v. Halberstadt wegen ihrer etwanigen Forderungen; die Wittwe, geborne von Zülow, lebte noch im J. 1734.

---

Nach dem Tode des Hans Curd v. Halberstadt entstand aber sogleich wegen des Gutes Schossin ein heftiger Streit, welcher noch jetzt in der Sage bekannte Gewaltthätigkeiten und traurige Ereignisse zur Folge hatte. Das Gut Schossin war

im J. 1672 für den letzten Besitzer von der gammeliner Linie, Franz Carl v. Oertzen, landesherrlich allodialisirt worden; diese Umwandelung des Lehns war nicht allein wiederholt landesherrlich bestätigt, sondern auch von den damals im Lande lebenden Agnaten bewilligt, außerdem über 30 Jahre lang allgemein bekannt und von Behörden und Privatpersonen nicht bezweifelt worden. Wiederholte Testamente der Besitzer hatten hierauf fortgebauet und nie war eine Anfechtung gekommen. Da erschien nach dem Tode der Wittwe des Franz Carl v. Oertzen der Obrist Siegfried v. Oertzen auf Vogelsang, von der Linie Roggow, und bestritt die Rechtmäßigkeit der Allodialisirung des Gutes und muthete als nächster Agnat das Lehn, während der Allodialerbe Hans Curd v. Halberstadt im Besitze blieb. Beim Regierungswechsel nach dem Tode des Herzogs Friedrich Wilhelm muthete Siegfried v. Oertzen wieder das Lehn, während Hans Curd v. Halberstadt sich zum Homagial-Eide erbot. Nachdem Halberstadt's Frau, die letzte v. Oertzen aus der Linie Gammelin, im J. 1717 gestorben war, erhob des Obristen Siegfried Sohn, der Obristlieutenant Siegfried v. Oertzen auf Vogelsang, eine Klage gegen Hans Curd v. Halberstadt, welche sich im formellen, ruhigen Gange gegen die v. Halberstadt bis in das J. 1741 fortsetzte. Hans Curd v. Halberstadt starb im J. 1727 und die Söhne des Otto Christoph v. Halberstadt traten das ihnen wiederholt versicherte Erbe an. Durch Vergleich mit seinen Brüdern erhielt der Capitain Carl Leopold v. Halberstadt von Langen-Brütz das Gut Schossin. Da erschien der Capitain Claus von Oertzen, „der nicht mit Gütern angesessen" war, ein Sohn des Claus v. Oertzen von der Linie Roggow-Gorow, und setzte sich am 8. Aug. 1727 gewaltthätig in den Besitz des Gutes; nachdem weder er, noch sein Vater sich in 55 Jahren je wegen des Gutes Schossin gemeldet hatten, behauptete er, sein Vater habe in die Allodialisirung nicht gewilligt, und das Gut sei als Lehngut nach dem Tode des Franz Carl v. Oertzen an ihn gefallen und sein altväterliches Lehn, obgleich er durch nichts bewiesen hatte, daß er der nächste Agnat sei. Er behauptete sich auch durch Gewalt drei Jahre

lang im Besitze des Gutes und behielt alle Aufkünfte aus demselben allein für sich. Claus v. Oertzen war ein höchst heftiger und gewaltthätiger Mensch, der dazu bei Ausübung der Gewalt viel Unglück hatte und anrichtete. Da sich seine Gewaltthaten mehrten, so ward er am 13. März 1730 in Schossin verhaftet und am 14. März zur Untersuchung in Gefangenschaft nach Schwerin gebracht. Carl Leopold v. Halberstadt setzte sich darauf in den Besitz von Schossin.

Am 17. Julii 1730 reversirte sich der dänische Capitain Carl Leopold von Halberstadt, daß er nicht nur die Kosten der Untersuchung und der Unterhaltung des Claus v. Oertzen während dessen Gefangenschaft tragen, sondern auch den Proceß wegen des Gutes Schossin mit ihm rechtlich ausführen wolle. Der Capitain Claus v. Oertzen ward endlich am 13. Oct. 1738 wegen Todtschlages zu Schwerin auf dem Alten Garten enthauptet. Die nähere Darstellung des Lebens dieses Mannes gehört in die Geschichte der Linie Roggow. Nach seinem Tode schlief der Proceß wegen des Gutes Schossin ein und ward auch nie zu Ende gebracht. Der Obristlieutenant und Landrath v. Oertzen auf Vogelsang meldete sich zwar einige Male, jedoch ohne Erfolg. Das Gut Schossin blieb bei der Familie v. Halberstadt und ward von dieser nach dem Tode des Landraths Siegfried v. Oertzen im J. 1754 an den Kammerrath Georg Christian Balck verkauft.

## B. Das Haus Kl. Tessin.

### 5.
### Hermann, Knappe.
### 1420—1435.

§. 138. G. VII.

Nach dem Knappen Mathias III. auf Kl. Tessin (1384—1404) wird in 16 Jahren kein v. Oertzen auf Kl. Tessin genannt. Darauf erscheint 15 Jahre hindurch ein Hermann v. Oertzen auf Kl. Tessin, welcher ohne Zweifel ein Sohn des Mathias III. war, obgleich er nirgends als solcher bezeichnet wird. Als er am 4. Febr. 1435 die Hälfte der „Geltes-Mühle" verkaufte, sagt er, daß schon „sein Vater" dieselbe besessen habe; da nun diese Mühle in der Nähe von Tessin gelegen haben muß, so läßt sich hieraus schließen, daß Hermanns Vater sein nächster Vorgänger im Besitze von Kl. Tessin war. Hermann trägt den der v. örtzenschen Familie eigenthümlichen Vornamen; es wäre aber auch möglich, daß seine Mutter eine geborne v. d. Lühe aus dem nahen Hause Kölzow war, in welchem auch der Vorname Hermann vorkommt, und er also seinen Vornamen von seinem mütterlichen Großvater trug. Daß Hermann nicht der erste Erwerber des Gutes Kl. Tessin war, wie bisher angenommen ist, ist schon in der Geschichte seiner Vorfahren nachgewiesen.

Hermann v. Oertzen tritt zuerst am 16. Nov. 1420 auf, als die Moltken auf Strietfeld Schloß, Stadt und Vogtei Tessin an die Stadt Rostock verpfändeten. Am 24. Septbr. 1374 hatte der Herzog Albrecht von Meklenburg den Rittern

Friedrich Moltke auf Diwitz und Friedrich Moltke auf Strietfeld die zu der Herrschaft Rostock gehörenden Schlösser, Städte, Länder und Vogteien Ribnitz und Tessin („dat land to „Rozstok als Rybbenitze vnd Tessyn, hus, stede, land vnd „vaghedie") für 3300 Mark lüb. Pf. zu einem nutzbaren Pfande verpfändet. Die Moltken auf ihrem Hauptschlosse Strietfeld, welche sich seitdem oft in viele Linien theilten, blieben sehr lange im Pfandbesitze des Landes Tessin und verpfändeten es wiederholt wieder. Am 14. Junii 1404 verpfändeten die Moltken dem Ritter Peter v. Bützow und dem Knappen Guslaf Wulf Schloß und Stadt Tessin für 1000 lüb. Mark. Am 16. Nov. 1420 verpfändeten aber Johann, Heinrich und Johann Brüder und Vettern die Moltken auf Strietfeld der Stadt Rostock für 1500 Mark rostocker Pf. Schloß, Stadt und Vogtei Gr. Tessin mit allen Gerechtigkeiten und Burglehen, namentlich mit aller Gerechtigkeit in den Burglehen zu Kl. Tessin und Gramsdorf [CXLVII]. Wegen dieser letzten Verpfändung gaben Henneke v. Kardorf, Hermann v. Oertzen und Gerd Bassewitz ihre Zustimmung und beglaubigten diese durch Anhängung ihrer Siegel[1]). Henneke v. Kardorf auf Vietow[2]) war, noch im J. 1428, Vogt zu Tessin, Hermann v. Oertzen war Besitzer des Gutes Kl. Tessin und Träger des Burglehns daselbst, Gerd Bassewitz war wahrscheinlich Träger des Burglehns in Gramsdorf. Am 17. Dec. 1423 nahmen dieselben Moltken von der Stadt Rostock noch 500 Mark rostocker Pf. auf Stadt, Schloß und Vogtei Gr. Tessin auf[3]) und am 14. März 1442 verpfändete Johann Moltke d. ä. auf Strietfeld seine Anrechte an Stadt, Schloß und Vogtei Gr. Tessin für 300 Mark rostocker Schill.[4]). Also

[1]) Das von der Urkunde abgeschnittene Siegel wird jetzt in den Sammlungen des Vereins für meklenb. Geschichte ꝛc. aufbewahrt und trägt die Umschrift:

+ s'. hermen + van orce

Dies ist dasselbe Siegel, welches an der Urkunde vom 2. Jan. 1435 hängt.

[2]) Vgl. Masch Geschichte und Urkunden der Familie v. Kardorf.

[3]) Die Urkunde ist gedruckt in Wöchentl. Rostock. Nachr. u. Anzeigen, 1755, Stück 29.

[4]) Die Urkunde ist gedruckt daselbst, 1756, Stück 3. Aehnliches wiederholte sich noch im J. 1449; vgl. daselbst, 1756, Stück 13 und 14.

gelangte die Stadt Rostock auf längere Zeit in den Pfandbesitz der Stadt und Vogtei Tessin, und diese Verpfändung übte späterhin auch ihren Einfluß auf die Linie der v. Oertzen auf Kl. Tessin aus (vgl. unten S. 334).

Hermann v. Oertzen wird darauf bestimmt mehrere Male als Besitzer von Kl. Tessin bezeichnet. Als am 6. Decbr. 1424 die Brüder Claus und Bicke Nortmann auf Rossewitz 7 Hufen in Weitendorf bei Tessin an Siegfried Bassewitz verkauften, war Hermann v. Oertzen auf Kl. Tessin der erste unter den Zeugen und besiegelte die Urkunde mit [CLIX][1]). Als am 13. Dec. 1428 Gerd Bassewitz d. ä. auf Basse der Wittwe Margarethe Kirchhof zu Rostock 10 Mark rostocker Pf. Renten aus der Bede von Prangendorf verschrieb, waren die ersten Bürgen und Mitbesiegeler der Urkunde Henneke v. Kardorf, Vogt zu Tessin, und Hermann v. Oertzen auf Kl. Tessin [CLXXI]. Aus diesen beiden Urkunden scheint ein Verwandtschaftsverhältniß Hermanns v. Oertzen zu den Bassewitz hervorzugehen. Eben so war Hermann v. Oertzen unter Anhängung seines Siegels Bürge für Joachim York auf Horst bei Tessin, als dieser am 2. Jan. 1435 aus einem Hofe in Horst 5 Mark Renten an den Marien-Kaland zu Rostock verkaufte[2]).

Am 4. Febr. 1435 verkaufte Hermann v. Oertzen auf Kl. Tessin an Gerd Bassewitz auf Basse die Hälfte der Geltes-Mühle [CLXXXVII], welche schon sein Vater besessen hatte. Wo diese Mühle lag, ist jetzt unbekannt; sie wird aber in der Nähe der Stadt Tessin gelegen haben, da Hermann v. Oertzen auf Kl. Tessin sie im J. 1435 und die Bassewitz sie im J. 1462 mit den Dörfern Weitendorf, Wohrenstorf und Selpin verpfändeten. Unter den Bürgen dieses Verkaufes waren wieder Otto und Joachim York, wie Hermann v. Oertzen am

[1]) Die Urkunde ist auch gedruckt in der Beschreibung des Geschlechts von Bülow, Beil. DDD, S. 41. Daß Hermann v. Oertzen sich bei der Besiegelung dieser Urkunde seines Bruders Claus Siegel bedient habe, ist wahrscheinlich nur eine willkührliche Annahme, welche aus der Schwierigkeit der Lesung der Umschrift des Siegels entstanden sein mag.

[2]) Die Urkunde befindet sich im Originale im Kirchen-Oekonomie-Archive zu Rostock. Das angehängte Siegel Hermanns v. Oertzen ist dasselbe, welches an der Urkunde vom J. 1420 gehangen hat (vgl. oben S. 331, Note 1).

2. Jan. 1435 für Joachim York bürgte; hieraus läßt sich auch wohl auf ein verwandtschaftliches Verhältniß zu den York schließen.

In den Urkunden des 15. Jahrh., in denen die v. Oertzen auf Kl. Teffin vorkommen, werden am häufigsten die Bassewitz, Preen, v. Kardorf und York genannt, welche alle in der Nähe von Teffin angesessen und wohl unter einander verwandt waren.

Mit dem J. 1435 verschwindet Hermann v. Oertzen aus der Geschichte. Von Gemahlin und Kindern ist nicht die Rede. Wahrscheinlich aber war Hermann's Sohn

VIII. 6. Mathias IV.

---

## 6.
## Mathias IV., Knappe.
### 1446—1460.

§. 139. G. VIII.

Mathias IV. v. Oertzen auf Kl. Teffin tritt zehn Jahre nach Hermann I. auf. Wahrscheinlich war er ein Sohn Hermann's, wenn dies auch nirgends ausdrücklich gesagt wird. Mathias IV. tritt zuerst am 22. Nov. 1446 auf, als der Knappe Hans v. Oertzen zu Neu-Bukow seinen Vettern Burchard v. Oertzen auf Clausdorf und Mathias v. Oertzen auf Teffin einige Kornpächte aus Clausdorf verpfändete [CCVI]. Am 24. Nov. 1447 verpfändete Mathias v. Oertzen der Egidien-Vikarei in der Petri-Kirche zu Rostock 10 Mark sundisch rostocker Pfennige jährlicher Hebung aus zwei Bauerhöfen seines Hofes zu Kl. Teffin. Am 23. Dec. 1447 verpfändete der Herzog Heinrich von Meklenburg-Schwerin dem Mathias v. Oertzen auf Kl. Teffin, sicher auf 5 Jahre, die landesherrlichen Gerechtsame, nämlich Bede, Hundekorn, höchstes Gericht, Burgdienst und sonstige Leistungen, aus den Gütern Wohrenstorf und Plaatz für 100 sundische Mark [CCVIII], nachdem der

Herzog schon früher 50 Mark von ihm auf diese Güter aufgeliehen hatte. Eine ziemlich wichtige Stellung gewann Mathias v. Oertzen dadurch, daß ihm am 5. Nov. 1448 die Stadt Rostock die Vogtei Teffin mit Schloß und Stadt, welche die Stadt Rostock seit 1420 als Afterpfand von den Moltken besaß, zunächst fest auf ein Jahr und nach Ablauf desselben auf halbjährige Kündigung auf Schloßglauben übertrug oder mit andern Worten ihn zum Vogte von Teffin einsetzte [CCIX]. Mathias v. Oertzen war noch am 9. Febr. 1455 Vogt zu Teffin, als er mit andern Edelleuten aus der Vogtei Ribnitz für Iwan Mentze auf Dammerstorf als Bürge eintrat [CCXIX]. Zu dieser Stellung, welche in damaliger Zeit eine kriegerische Tüchtigkeit voraussetzte, stimmt denn auch die Nachricht, daß am 26. Aug. 1455 mehrere Vasallen der Herzoge von Meklenburg, nämlich Vicke Babbe, Claus Kosse, Marquard v. Nossentin, Krisow, Iwan Mentze, Eckhard York, Curd und Henneke v. Zepelin, Eckhard Hahn, Segeband Thun, Griskow, v. Hungerstorp und Mathias v. Oertzen auf Teffin mit ihren Knechten sieben Dörfer im Lande Barth ausplünderten; aus welcher Veranlassung dies geschehen sei, ist nicht bekannt, jedoch waren im 15. Jahrh. die Reibungen zwischen Meklenburg und Pommern nicht selten. Mehrere der hier genannten Vasallen kommen im Leben des Mathias v. Oertzen sonst noch vor, wie Iwan Mentze, Eckhard York und Segeband Thun. Nach einer urkundlichen Ueberlieferung verbürgte sich Mathias v. Oertzen auf Kl. Teffin im J. 1460 für Lorenz v. Linstow auf Kl. Sprenz. Und damit verschwindet Mathias v. Oertzen vom Schauplatze der Geschichte.

Von Frau und Kindern des Mathias v. Oertzen ist nirgends urkundlich die Rede. Ohne Zweifel war sein Nachfolger im Besitze, Segeband v. Oertzen, sein Sohn. Aus dessen Vornamen Segeband läßt sich schließen, daß seine Mutter, also die Frau des Mathias IV., eine geborne Thun von Zepelin und Streithorst gewesen sei, da der Familie Thun der Vorname so eigenthümlich war, daß man ihn wohl in jeder ältern Generation findet; daß Mathias v. Oertzen mit den Thun verwandt war, kann man z. B. daraus folgern, daß am

9. Febr. 1455 Segeband Thun auf Zepelin neben Mathias v. Oertzen für Iwan Mentze eine Bürgschaft übernahm.

Als einen Sohn des Mathias v. Oertzen auf Kl. Tessin muß man daher annehmen

IX. 7. Segeband.

---

## 7.
## Segeband, Knappe.
### 1503—1515.

§. 140. G. IX.

Segeband v. Oertzen auf Kl. Tessin war ohne Zweifel ein Sohn des Mathias IV. und der letzte männliche Sproß des Hauses Kl. Tessin. Es ist von ihm nicht viel mehr zu berichten, als sein Tod und die Vererbung seiner Güter. In einem Rechnungsbuche des Kalands in Rostock vom J. 1503 werden 3 Mark als Einnahme aus Kl. Tessin von Segeband v. Oertzen („M. D. III. In minori Tessyn. Seghebant van Ortzenn III mr.“) und im Roßdienstregister vom J. 1506 wird Segedeband Oertze tho Lütken Tessin mit 2 Roßdienstpferden aufgeführt. Dies ist alles, was sich über ihn hat erforschen lassen. Im J. 1515 scheint er noch gelebt zu haben, da es in einem Register der Marienzeiten in der Heil.-Geist-Kirche zu Wismar vom J. 1515 heißt, daß die 200 Mark Capital, welche Segeband v. Oertzen aus Clausdorf versiegelt habe, jetzt Segeband und Claus Hahn auf Kuchelmiß aufs neue versiegeln sollen; Claus Hahn auf Kuchelmiß war ein Schwiegersohn des Segeband v. Oertzen auf Kl. Tessin, der hier wohl gemeint sein mag.

Segeband v. Oertzen starb um das J. 1520 und mit ihm erlosch der Mannesstamm des Hauses Kl. Tessin. Im J. 1521 wird im Roßdienstregister Hermann v. Kardorf zu Kl. Tessin mit 2 Pferden aufgeführt.

Segeband v. Oertzen starb sicher ohne männliche Leibeserben und hinterließ nur eine Tochter, welche an Claus Hahn auf Kuchelmiß verheirathet war.

Von Segeband v. Oertzen sagt freilich v. Gamm in seiner Genealogie der Familie v. Oertzen: „Man findet von ihm „nur, daß er einen Sohn gezeuget Reimar, so das Gut Gar„venstorf an sich gebracht und jung verstorben, wie auch eine „Tochter, so an Claus von Hahn auf Kuchelmiß verheirathet „gewesen und ihrem Ehemanne das Gut Kl. Tessin zugebracht." Diese Annahme von Reimar auf Garwensdorf, als einem Sohne Segebands auf Kl. Tessin, ist aber falsch; denn diese Geschichte spielt ein ganzes Jahrhundert früher, indem Segeband v. Oertzen auf Clausdorf und Garwensdorf, welcher also von einer ganz andern Linie war und 1411—1415 lebte, einen Sohn Reimar hatte, welcher 1433 genannt wird.

Nach allen urkundlichen Anzeichen hinterließ Segeband nur eine Tochter.

X. 8. Tochter N. N.

8.

## Tochter U. U.

1522—(1540).

§. 141. G. X.

Segeband v. Oertzen auf Kl. Tessin hinterließ nur eine Tochter, welche an Claus Hahn [1]) auf Kuchelmiß (1511—1558) in dessen erster Ehe verheirathet war. Als Erbjungfer brachte sie daher ihrem Manne das Gut Kl. Tessin auf ihre Lebenszeit zu. In einem Verzeichnisse mecklenburgischer Erbjungfern, welches am 23. März 1523 beim Reichskammergericht eingereicht ward, heißt es:

„Claus Hane besitzt Tessin mit eines Oertzen Tochter".

[1]) Vgl. Lisch Geschichte und Urkunden des Geschlechts Hahn, II, S. 217.

Unmittelbar nach Segeband's Tochter war Hermann v. Kardorf im Besitze von Kl. Tessin, da nach dem Roßdienstregister von 1521 „Hermen Kerckdorp tho Ludtken Dessyn" 2 Pferde zu stellen hatte. Wahrscheinlich hatten ihm die Herzoge die Verwaltung des Gutes bis zur Erbauseinandersetzung übergeben. Aber schon im Anfange des J. 1523 war Claus Hahn im Besitze von Kl. Tessin.

Bald darauf entstand über Segeband's Nachlaß Streit, indem die Brüder Jaspar und Lippold v. Oertzen auf Roggow Ansprüche an denselben machten und im J. 1526 wiederum mit ihrem Schwager Mathias v. Bredow zu Kremmen in rechtliche Erörterung geriethen [CCCLXXIII, CCCLXXIV]. Das Nähere ist nicht zu ermitteln gewesen.

Im J. 1535 werden noch „Segebandt van Oertzen „erben zu Lutken Tessyn" im Roßdienstregister mit 2 Pferden aufgeführt.

Um das Jahr 1540 wird aber Claus Hahn's Gemahlin gestorben sein. Der Herzog Heinrich hatte schon vor 1545 das Gut Kl. Tessin eingenommen, ohne Zweifel weil die Erbansprüche nicht klar waren. Im Landregister von 1545 heißt es:

„Ampt Ribnitz. Segebauth von Ortzen zu Lutken
„Tessin, hat Hertzogk Heinrich ingenamen, der . . (?)
„ist todt."

Claus Hahn hatte von seiner ersten Frau, der v. Oertzen von Kl. Tessin, eine Tochter Anna, welche nicht alt geworden zu sein scheint; er verheirathete sich zum zweiten Male mit Anna Vieregge aus dem Hause Rossewitz.

Das Gut Kl. Tessin fiel nach dem Tode der Erbtochter an die gammeliner Linie des Geschlechts von Oertzen.

---

Nach dem Tode der Erbtochter von Kl. Tessin fiel das Gut an den Ritter Mathias v. Oertzen auf Wustrow von der Linie Gammelin. Bei den Erbtheilungen unter seine Söhne Joachim auf Wustrow, Vicke auf Gammelin und Ste-

phan auf Schossin war nach der Urkunde vom 22. April 1585 Kl. Tessin dem Vicke v. Oertzen auf Gammelin zugefallen. Die Mutter der drei Brüder hatte aber, als diese noch jung und unmündig und nicht mit Vormündern versorgt waren und die Verwaltung ihrer Güter nicht antreten konnten, das Gut Kl. Tessin, „welches zu ihrem altväterlichen Stammlehn „mitgehörig und von ihrem Vater auf sie vererbt war, „zum Theil veräußert und ihren Vettern Jürgen und Vicke „auf Gorow und Gerdshagen, von der roggower Linie, ver„kauft, wozu sie nicht Macht gehabt hatte." Als ihre Mutter nun gestorben war und sie zu ihren Jahren gekommen waren, forderten sie das Gut zurück und erboten sich, den Kaufpreis zurückzuzahlen und dafür das Gut anzunehmen. Hierauf wollten aber die roggower Vettern nicht eingehen. Nachdem nun Jürgen und Vicke im J. 1578 ohne Leibeslehnserben gestorben und ihre Güter an Sivert v. Oertzen auf Clausdorf gefallen waren, stellten die Brüder Joachim und Vicke und ihres seitdem verstorbenen Bruders Stephan Sohn Klage auf Reluirung des Gutes Kl. Tessin an. Der Proceß währte bis zum Ende des J. 1581, ohne Erfolg. Die v. Oertzen von der roggower Linie blieben im Besitze des Gutes.

Am 15. Sept. 1619 verkaufte Sivert v. Oertzen auf Gerdshagen und Clausdorf, mit Einwilligung der Vormünder der unmündigen Söhne seines Bruders Jürgen, unter herzoglichem Consense das Gut Kl. Tessin für 7250 Gulden an Otto Preen, herzoglichen Rath und Hauptmann zu Güstrow und Schwaan, auf Wehnendorf und Bietow erbgesessen. So kam das Gut Kl. Tessin aus der Familie v. Oertzen.

Generation.

I.

II.

III.

**3. Dietrich II.**
Ritter, mecklenburgischer Feldhauptmann.
1270—1316.
Gem. (N. N. Storm?).

## I. Mecklenburgische Linie.

IV.

**A. Haus Roggow.**

**1. Hermann I.**
Ritter.
1300—1344.
Gem. (N. N. Preen?)

**2. Margarethe.**
Gem. Nicolaus v. Zisendorf.
1345.

**B. Haus Clausdorf-Garwensdorf.**

**1. Detwig I.**
Ritter.
1318—1334.

V.

**3. Hermann II.**
Knappe.
1339—1386.
Gem. 1. (N. N. v. Bülow?).
2. (N. N. Behr?).

**4. Nicolaus I.**
Knappe.
1345—1350.

**5. Tochter N. N.**
Gem. Ritter Arnold Mamel.
1345—1350.

**Haus Clausdorf.** ? **Haus Garwensdorf.**

**2. Johann I.**
Knappe.
1339—1366.

**5. Detwig II.**
Knappe.
1339.

**3. Hermann I.**
Knappe.
1339.

VI.

**6. Hermann III.**
Knappe.
1360—1415.
Gem. 1. (N. N. v. Karin?).
2. (N. N. v. Buchwald?).

**7. Heinrich I.**
Knappe.
1372.

**8. Johann I.**
Knappe.
1377.

**9. Mathias I.**
Knappe.
1377.

**10. Detwig I.**
Knappe.
1377.

**11. Lippold I.**
Knappe.
1360—1392.

**4. Johann II.**
Knappe.
1378—1386.

**6. Detwig III.**
Knappe.
1386—1392.

**7. Nicolaus.**
Knappe.
1384—1386.

**8. Henneke III.**
zu Malmö.
1400.

VII.

**12. Sivert I.**
Knappe, Landrath.
1424 † 1449.
Gem. N. N. v. Buchwald.

**13. Hermann IV.**
Knappe.
1410—1431.

**9. Hegeband.**
Knappe,
auf Clausdorf.
1407—1415.

**10. Burchard.**
Knappe,
auf Clausdorf und Garwensdorf.
1411—1446.

**11. Heinrich.**
Knappe,
auf Clausdorf,
1430 zu Kahlenberg.
1415—1430 † vor 1438.
Gem. N. N. (v. Barffe).

**12. Brüder N. N.**
1415.

VIII.

**14. Sivert II.**
Knappe, Landrath.
1442—1482.
Gem. Margarethe v. Flotow.
1464.

**15. Tochter N. N.**
Gem. Hardenack v. Bibow.
1508.

**13. Reimar.**
Priester (?)
1433—1446.

**14. Hans IV.**
Knappe,
zu Neuendorf.
1446—1493.
Gem. N. N.

**15. Bernd.**
Knappe.
1460.

IX.

**16. Hermann V.**
Knappe.
1467—1470.

**17. Sivert III.**
Knappe, Landrath.
1467—1506.
Gem. N. N. v. Bülow
† vor 1532.

**18. Hans II.**
Knappe.
1479.

**19. Hermann VI.**
Knappe.
1500—1503.

**20. Jaspar I.**
Knappe.
1500—1526,
auf Roggow.
Gem. 1. Margarethe v. Dutzow.
1505—1540.
2. Emerentia v. Buchwald.
1512—1529.

**21. Lippold II.**
Knappe, Landrath.
1496—1545,
auf Gorow.
Gem. Anna v. Bülow.
1512—1560.

**22. Katharine.**
Gem. Jaspar Sperling.
1506—1522.

**23. Tochter N. N.**
Gem. Mathias v. Bredow.
1526.

**24. Anna.**
Nonne
zu Rühn.
1495.

**14. Kinder N. N.**
1493.

X.

**Haus Roggow.**

**25. Sivert IV.**
1543 † 1589,
auf Roggow.
Gem. Ingeburg
v. Penz.

**26. Anna.**
(1544)—1597.
Gem. Volrath
Sperling.

**Altes Haus Gorow-Gerdshagen.**

**27. Jürgen.**
1545—1560,
auf Gorow.
Gem. N. N.
(v. Fincke?
von Gnemern.)

**28. Dicke.**
1545 † 1578,
auf Gerds-
hagen.
Gem. Sophie
v. Wangelin,
1557—1603.

**29. Metke.**
1548 † vor
1560,
Gem. Ulrich
v. Stralendorf
auf Golchow,
† 1576.

**30. Tochter N. N.**
1560—1571.
Gem. Martin
v. Halberstadt
auf Gamyz,
† vor 1571.

**31. Magdalene.**
1554—1571.
Gem. Christoph
v. Flotow
auf Stuer,
† vor 1560.

**32. Anna.**
1548 † 1587.
Gem. Valentin
v. Bitzegge
auf Weitendorf,
† 1572.

XI

**36. Jaspar II.**
1571—1618.
Stammhalter.

**33. Anna.**
1580—1583.
Gem. 1. Heinrich Weltke
auf Tolkendorf,
† vor 1580.
2. Joachim v. Wangelin
auf Bielist.
1581—83.

**34. Tochter N. N.**

**35. Sophie.**
1583.
Gem. Joachim
v. Kosbath
auf Torgelow,
1583.

XII

# II. Stammtafel

## des Geschlechts von Oertzen.

### Stammväter.

**1. Yriz.**
Wendischer Edler.
1192.

**2. Dietrich I.**
Ritter, meklenburgischer Rath.
1260—1266.
Gem. (N. N. Clawe?)

**4. Detwig I.**
Ritter, Landrath, Statthalter ꝛc.
1270—1301.

### II. Stargardische Linie.

**A. Haus Stargard.**

**1. Detwig II.**
Ritter, Landrath.
1302—1308.
Gem. (N. N. Behr).

**2. Nicolaus I.**
Ritter, Landrath.
1327—1358.

**3. Lippold I.**
Knappe.
1358,
auf Quastenberg.

**4. Detwig IV.**
Knappe.
1358—1382,
auf Wodenswege.

**5. Nicolaus II.**
Knappe.
1382—1411,
auf Bargensdorf,
zu Stargard.

**6. Otto.**
Knappe.
1415.
Gem. N. N.

**7. Nicolaus IV.**
Knappe.
1411—1434,
auf Bargensdorf,
zu Stargard.
?

**8. Hermann III.**
Knappe.
1409—1413,
zu Bargensdorf.

**9. Andreas II.**
Knappe.
1409,
zu Bargensdorf.

**10. Vicke I.**
Knappe.
1409,
zu Bargensdorf.

**B. Haus Feldberg.**

**1. Hermann I.**
Ritter, Landrath, stargard. Marschall.
1302—1318.
Gem. (N. N. v. Bülow).

**2. Detwig III. d. ä.**
Knappe, Landrath.
(1318) 1355—1374.
Gem. (N. N. v. Helpte).
?

**3. Godeke I.**
Knappe,
in Liefland.

**4. Zabel I.**
Knappe.
1358.
?

**5. Hermann II.**
Knappe.
1358.

**6. Lippold II.**
Knappe.
1358.
Gem. (N. N. Behr).
?

**7. Nicolaus III.**
Knappe.
1358—1382,
auf Kantenitz.

**8. Andreas I.**
Knappe.
1358—1382 (1409),
auf Rosenberg.

**9. Michael I.**
Knappe.
1416.

**10. Anna,**
Nonne zu Wanzka.
1474.

**11. Hermann IV.**
Knappe.
1466—1488,
zu Feldberg und Helpte.
Gem. (N. N. v. Genzkow).

**20. Bernd.**
(1400—1425),
auf Feldberg.
Gem. Katharine v. Barsdorf.

**21. Mathias I.**
(1425—1470),
auf Grammertin.
Gem. Katharine v. Raven.

**12. Zacharias.**
Knappe.
1491—1501,
zu Hinrichshagen, 1501 zu Straßburg.

**13. Burchard.**
Knappe.
1501,
zu Hinrichshagen.

**14. Vicke II.**
Knappe.
1501,
zu Hinrichshagen.

**15. Hans.**
Knappe.
1501—1506,
zu Hinrichshagen.

**16. Mathias.**
Knappe.
1514,
zu Hinrichshagen.

**17. Joachim.**
Knappe.
1514,
zu Hinrichshagen.

**18. Michael.**
Knappe.
1514,
zu Hinrichshagen.

**19. Paschen.**
Knappe.
1494—1506.
zu Hinrichshagen.

**22. Hans I.**
(1470—1500),
auf Grammertin.
Gem. Margarethe v. Havel.

**23. Dietrich.**
1506,
auf Grammertin.

**24. Caspar I.**
(1540),
auf Grammertin.
Gem. Anna v. Mantenffel.

**25. Heinrich I.**
1506—1535,
auf Klockstn.

**26. Jacob I.**
1522 † 1572,
auf Helpte und Grammertin.
Gem. Anna Behr.
**Stammhalter.**

**27. Tochter N. N.**
Gem. Heinrich v. Tepling,
auf Kreckow,
verm. 1526.

I. II. III.

**5. Nicolaus I.**
Knappe, mellenburgischer Hofgenosse.
1295—1308.

## III. Schwerinsche Linie.

IV.

**A. Haus Gammelin.**

**1. Vicke I.**
Knappe.
1327—1345.

**2. Hermann I.**
Domherr zu Ratzeburg.
1327—1355.

V.

**3. Hermann II.**
Knappe.
1345.
Gem. (N. N. v. Stralendorf).

VI.

**4. Vicke II.**
Knappe,
auf Gammelin.
1383—1386.
Gem. (N. N. v. Penz).

**5. Henning I.**
Knappe.
1378.

VII.

**6. Nicolaus I.**
Knappe, herzogl. Rath,
auf Gammelin, Gramonshagen ꝛc.
1407—1438, † vor 1442.
Gem. 1. Margarethe Knop.
1418 † 1424.
2. Elisabeth v. Züle.
(1428) † nach 1458.

**7. Mathias I.**
Knappe,
auf Wustrow.
1412—1424.

**8. Adelheid.**
Gem. N. N. v. Gerdshagen,
auf Viettübbe.
1444.

**9. Hisela.**
1437—1442.
Gem. 1. Wipert v. Lützow, Ritter.
2. Joachim v. Bülow,
auf Zibühl.
3. Claus Sperling,
auf Schlagsdorf,
† vor 5. Sept. 1437.

VIII.

**10. Nicolaus II.**
Knappe,
auf Gammelin.
1442—1454.

**11. Kinder N. N.,**
unmündig,
1446.

**12. Ulrich.**
Knappe,
zu Melkhof.
1471.

**13. Elisabeth.**
Priorin
zu Rehna.
1479—1489.

**14. Vicke III.**
Knappe, Landrath,
auf Wustrow.
1459 † 1465.
Gem. Adelheid v. Stralendorf.
† 1465 ?

**15. Burchard.**
Knappe,
auf Wustrow, Gammelin,
1496 auf Helpte.
1458—1522.
Gem. 1. N. N.
2. (N. N. v. Woosten?),
verwittwete v. Welbin.

**16. Leneke.**
Nonne,
zu Rehna.
1500.

IX.

**17. Mathias II.**
1525 Ritter, Landrath,
auf Wustrow, Gammelin,
Gramonshagen ꝛc.
1465—1549.
Gem. Ursula v. Bülow,
† nach ihrem Gem.

**18. Bernd,**
auf Helpte.
1545 in Woldeck.
1524—1554.

**19. Marcus,**
auf Helpte.
1524—1530.

**20. Katharina,**
Priorin
zu Dobbertin.
1531 † 1549.

X.

**21. Stephan I.**
Obristlieutenant,
auf Schoffin und Radelübbe.
1568 † 1569.
Gem. 1. N. N. v. Pleffen.
† vor 1568.
2. Armgard v. Platen.
1568—1570.

**22. Joachim.**
Hofmarschall,
auf Wustrow, Gramonshagen,
Gr. Eiken und Kirchow,
1591 auf Schoffin u. Radelübbe,
1565 † 1598.
Gem. Anna v. Lützow.
1566—1610.

**23. Vicke IV.**
Rittmeister,
auf Gammelin,
1591 auf Mühlenbek.
1562—1612, † vor 1614.
Gem. 1. Katharine v. Penz.
2. Margarethe Malhan.
1599—1616.

**24. Segeband,**
auf Mühlenbek.
1566—1572,
† vor 1574,
unvermählt.

**25. Adelheid.**
1578—(1614).
Gem. 1. Christoph Schwantener,
zu Schoffin.
† 1580.
2. Wolrath v. Penz,
auf Bandekow und Göslow,
† vor 1614.

XI.

**26. 1. Stellan,**
auf Schoffin
und Radelübbe.
1569 † vor 1591.
Gem. Magdalene
v. Schack.
(1586)—1591.

**27. 2. Anna.**
1569—1591.

**28. Mathias III.,**
auf Gramenshagen,
1586—1622.
Wahrscheinlich
unvermählt.

**29. Stephan II.**
auf Schoffin, Gramenshagen
und Radelübbe.
1590—1642 († 1645).
Gem. Dorothea v. Sprengel.
1616—1619.

**30. Tochter N. N.**
1609—1614.
Gem. Busso v. Penz,
auf Bandekow.
† 1614.

**31. Franz Carl.**
1633 auf Gottesgabe,
1650 auf Schoffin.
1609 † 1672.
Gem. Margarethe Elisabeth
v. Halberstadt,
auf Schoffin.
1633 † 1699.

XII.

**32. Sohn N. N.**
† vor 1591.

**33. Elisabeth Margarethe.**
1644—1671.
Gem. Moritz v. Lützow,
auf Horst,
† vor 1645.

**34. Tochter N. N.**
† vor 1639.
Gem. Christoph v. Hünicke,
vor 1639.

**35. Maria.**
1644—1668.
Gem. Christian v. Bischwang,
auf Zühr.
1644—1668.

**36. Dorothea.**
1644—1668.
Gem. 1. Jürgen v. Bischwang,
auf Körchow.
1644 † 1650.
2. Hartwig v. d. Lühe,
auf Berenshagen.
1652—1668.

**37. Joachim Heinrich,**
auf Schoffin.
1645 † 1650.

**38. Margaretha Dorothea.**
1639 † 1705.
Gem. N. N. v. Hobe,
† vor 1682.

**39. Elisabeth Ilse.**
1639 † 1717,
auf Schoffin.
Gem. Hans Curd v. Halberstadt.
1672 † 1727.

**B. Haus Kl. Tessin.**

**1. Mathias I.**
Knappe.
1345.

**2. Mathias II.**
Knappe.
1345—1355.

**3. Johann.**
Knappe.
1350.

**4. Mathias III.**
Knappe.
1384—1404.

**5. Hermann.**
Knappe.
1420—1435.

**6. Mathias IV.**
Knappe.
1446—1460.
Vogt zu Tessin 1448—1455.
Gem. (N. N. v. Thun).

**7. Segeband.**
Knappe.
1506—1515.

**8. Tochter N. N.**
Erbtochter von Kl. Tessin.
1522—1540.
Gem. Claus Hahn,
auf Kuchelmiß.

früher 50 Mark von ihm auf diese Güter auf-
Eine ziemlich wichtige Stellung gewann Ma-
dadurch, daß ihm am 5. Nov. 1448 die
Vogtei Tessin mit Schloß und Stadt,
Rostock seit 1420 als Afterpfand von den
ächst fest auf ein Jahr und nach Ablauf
ige Kündigung auf Schloßglauben über-
Worten ihn zum Vogte von Tessin
as v. Oertzen war noch am 9. Febr.
als er mit andern Edelleuten aus
an Mentze auf Dammerstorf als
dieser Stellung, welche in da-
Tüchtigkeit voraussetzte, stimmt
26. Aug. 1455 mehrere Va-
, nämlich Vicke Babbe, Claus
isow, Iwan Mentze, Eckhard
Eckhard Hahn, Segeband
Mathias v. Oertzen auf
er im Lande Barth aus-
dies geschehen sei, ist
ahrh. die Reibungen
elten. Mehrere der
des Mathias v.
Eckhard York und
erlieferung ver-
im J. 1460
verschwindet
.

Von Frau und Kindern des Oertzen ist
nirgends urkundlich die Rede. Ohne in Nach-
folger im Besitze, Segeband v. Oertz Aus
dessen Vornamen Segeband läßt sich schlie utter,
also die Frau des Mathias IV., eine von
Zepelin und Streithorst gewesen sei, da der der
Vorname so eigenthümlich war, daß man i
ältern Generation findet; daß Mathias v.
Thun verwandt war, kann man z. B. daraus so

UB Rostock
the scale towards docume